पत्रकारिता : संकट और संत्रास

हेरम्ब मिश्र

अनादि प्रकाशन
६०९ कटरा, इलाहाबाद
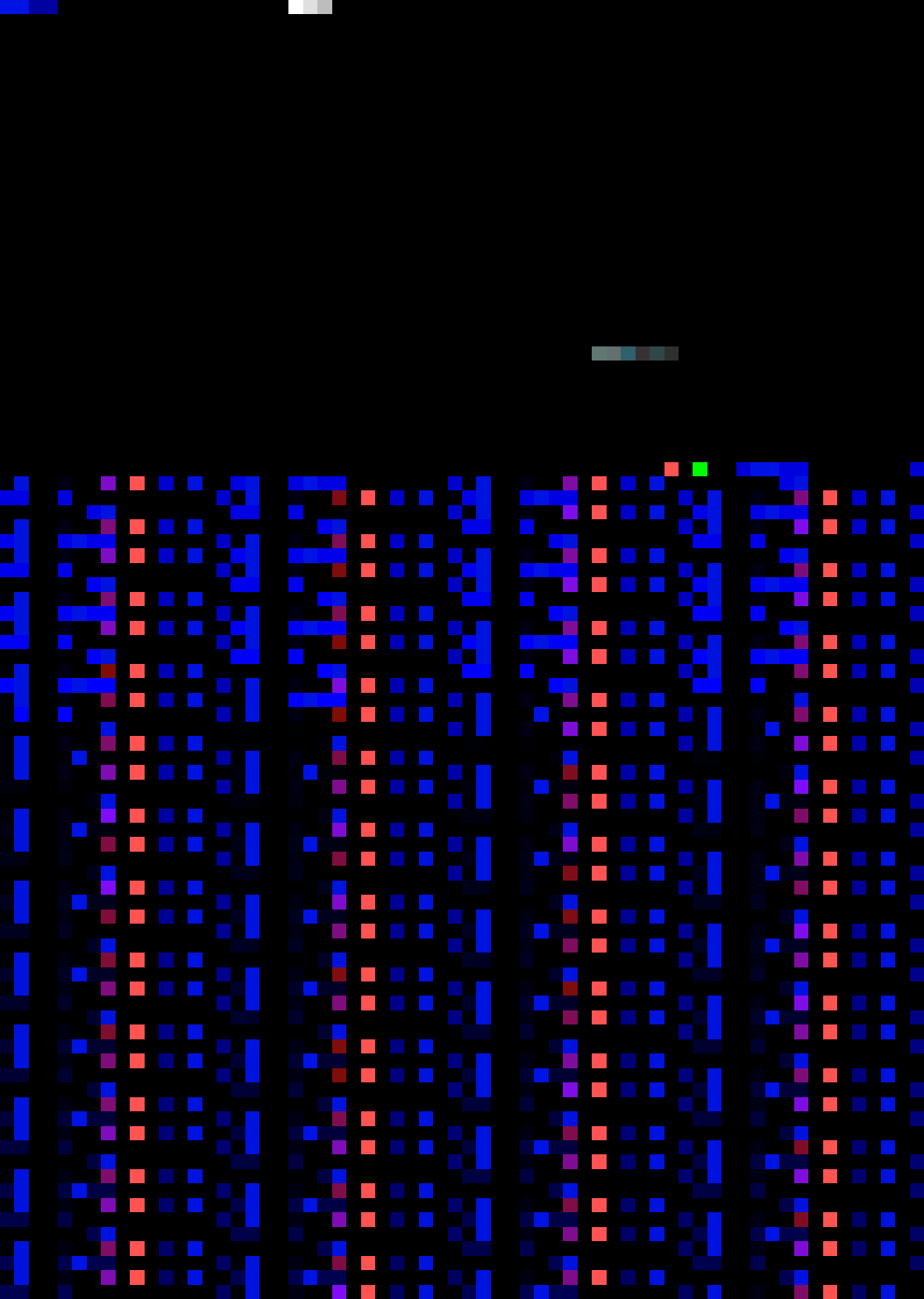
पत्रकारिता : संकट और संत्रास

हेरम्ब मिश्र

वितरक

स्मृति प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रस्तुति

आज यदि मैं अपने को [illegible]-जगत का एक प्राणी कह सकता हूँ और कुछ दूसरे लोग भी मुझे बु[illegible]त का एक प्राणी मानते हों तो यह स्वर्गीय पितामह पं० लालजी मिश्र तथा स्वर्गीय पिता पं० बटुक प्रसाद मिश्र की परोक्ष-प्रेरणा और आशीर्वाद का ही फल है। मैं चार वर्ष का भी नहीं हुआ था कि छः माह के अन्तर पर इन दोनों का स्वर्गवास हो गया; अतः उनसे प्रत्यक्ष प्रोत्साहन और प्रेरणा प्राप्त करने का सुअवसर तो नहीं मिल सका; किन्तु परोक्ष प्रोत्साहन और प्रेरणा उनके देहावसान के बाद भी मिलती रही। पूजनीया माता स्व० रत्नदेवी ने मुझे बताया था कि मेरे पितामह ने मेरा नाम 'हेरम्ब' इस कामना, आशा और विश्वास से रखा था कि हेरम्ब (गणेश) की बुद्धि का कुछ अंश प्राप्त करके यह बुद्धि-जगत में कुछ अपना भी योगदान करेगा। मेरा नाम सार्थक तो नहीं हो सका; किन्तु जिस कामना, भावना और आशीर्वाद से यह रखा गया उन सबसे अनजाने में कुछ प्रेरणा तो मिलती ही रही। यही थी मेरी पहली प्रेरणा जिसके फलस्वरूप यह पुस्तक प्रस्तुत है।

दूसरी प्रेरणा मिली पितामह तथा पिता के निजी पुस्तकालय से, जिसकी आलमारियों में सजी पुस्तकें गिनने में बचपन में एक आनन्दानुभूति होती रहती थी। आनन्द के साथ ही मुझे आश्चर्य होता था कि पूज्य पितामह तथा पूज्य पिताजी ने इतनी सारी पुस्तकें कैसे पढ़ी होंगी। इस आश्चर्य ने एक आकांक्षा प्रदान की—विद्वान् बनने की, विद्यानुरागी बनने की। समय बीतता गया, मैं किशोर हुआ और इस बीच परिवार के 'हितैषी' बन कर आने वाले कुछ 'महानुभावों' ने हम तीन भाइयों की अबोधावस्था का लाभ उठा कर करीब-करीब सभी पुस्तकों पर हाथ साफ कर डाला। किन्तु उन पुस्तकों से इस लेखक के किशोर हृदय पर जो रेखा खिंच चुकी थी उसे वे नहीं मिटा सके, जो अनुराग मिला उसे नहीं ले जा सके।

युवावस्था आने पर, विद्वान् बनने की महत्वाकांक्षा के स्थान पर 'पेट के लिए कहीं चाकर' हो जाने की इच्छा और आवश्यकता ने जोर मारना शुरू किया। फिर भी, जो एक संस्कार पड़ा, एक छाप पड़ी, उसे मैं मन से मिटा

का मस्तिष्क विश्वकोश-सा होना चाहिए' का कथन चरितार्थ [illegible] पत्रकार-समुदाय की ओर से यह सिद्ध कर सकता कि 'पत्रकार सचमुच नेताओं का नेता, वकीलों का वकील और शिक्षकों का शिक्षक होता है या हो सकता है' !

हा ! मस्तिष्क का विश्वकोश बनना तो दूर रहा, वह 'गुटका' भी नहीं बन सका; और इसी प्रकार, नेताओं का नेता बन कर उनकी प्रवंचनाओं को ध्वस्त करने की शक्ति अपने में आती नहीं दिखलायी दी, वकीलों का वकील बन कर जनसाधारण की वकालत करने के लिए उन्हें (वकीलों) प्रेरित करने का अवसर नहीं आया, और शिक्षकों का शिक्षक बन कर सम्पूर्ण समाज को सुशिक्षित, सुसंस्कृत तथा सुन्दर बनाने का स्वप्न स्वप्न ही रह गया ! प्रेरणा मिली, एक संस्कार भी मिला, इच्छा जगी और हाथ-पांव [illegible]; किन्तु सब व्यर्थ ! बस हाथ लगी एक पीड़ा—'परम प्रिय पीड़ा', और कुछ ऐसा अनुभव हुआ कि सरस्वती का शाप लगा हुआ है।

अपनी इस पीड़ा में इस लेखक को (यदि वह अपने को लेखक कह सके तो और यदि उसे कोई लेखक मान सके तो) [illegible] एक [illegible]-सा हुआ :—
"तू सरस्वत्यभिशप्त है ! पूर्वजन्म में तू एक प्रकाण्ड पण्डित था और तुझे [illegible] पाण्डित्य का इतना घमण्ड हो गया कि एक दिन तू सरस्वती का भी अपमान कर बैठा ! [illegible] एक ज्ञान और तू हो गया परम मूर्ख। यह तो सरस्वती के चरण का स्पर्श ही था, जो पण्डित के घर में, पाण्डित्य के वातावरण में तेरा पुनर्जन्म हो गया, तुझे एक संस्कार मिल गया, प्रेरणा मिल गयी, इच्छा जगी और बुद्धि-जगत में तूने एक कदम भी रखा। किन्तु, देख, 'पण्डित' नहीं हो सका और वाणी तथा कर्म से सर्वसेवी पण्डित बनने की एक तड़पन लिये हुए ही इस संसार से फिर चला जायगा। ख़ैर, तेरी यह तड़-पन ही क्या कुछ कम है। इस तड़पन में ही माता सरस्वती का आशीर्वाद छिपा है, एक उपदेश है। जा, अपनी इस तड़पन के साथ 'यं-यं वापि स्मरं भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम ....' के कृष्णोपदेश का स्मरण करता हुआ संसार से विदा होगा और अगले जन्म में सफलमनोरथ होगा।"

अपनी पीड़ा से ही मिली 'अगले जन्म की एक आशा' तथा इस जन्म में अब तक नहीं तो शेष दिनों में ही, पत्रकारिता की कुछ सेवा कर लेने के विश्वास के साथ, अपने इन परोक्ष प्रेरकों का स्मरण करते तथा पीड़ायुक्त इन [illegible] के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए, यह पुस्तक उनकी स्मृति में समर्पित है।

—हेरम्ब मिश्र

शुभेच्छुओं और प्रियजनों के प्रति

भारत-विख्यात पत्रकार और 'नेताओं के नेता' स्व० सी० वाइ० चिन्तामणि के बहुमुखी-प्रतिभा-सम्पन्न सुपुत्र माननीय बालकृष्ण राव के प्रति :—

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका 'माध्यम' के निकले छः माह भी नहीं हुए थे कि मेरी इस पुस्तक के पाँच अध्याय प्रकाशनार्थ स्वीकृत करने के बाद उनमें से तीन प्रकाशित करके पत्रिका के सम्पादक श्री बालकृष्ण राव ने पत्रकारिता-जगत् के ही नहीं, उसके बाहर के लोगों को भी, यह बताने में मेरी मदद की कि पत्रकारिता कभी कोई ऊँचा पेशा मानी गयी थी तो आज वह संकटग्रस्त और संत्रस्त होकर एक मामूली पेशा रह गयी है। इस सहायता के लिए मैं रावजी के प्रति आभार व्यक्त किये बिना कैसे रह सकता हूँ।

रचनाधिक्य के कारण शेष दो अध्याय प्रकाशित करने का अवसर नहीं मिल सका और दुर्भाग्यवश पत्रिका का प्रकाशन बन्द हो गया। यदि पत्रिका चलती रहती तो शेष दो स्वीकृत अध्याय ही नहीं, शायद पूरी पुस्तक उसमें प्रकाशित हो जाती और इस पुस्तक के माध्यम से पत्रकारिता की सेवा का जो अवसर आज प्राप्त हो रहा है वह वर्षों पहले प्राप्त हो जाता। देर से ही सही, मुझे सेवा-समर्थ बनाने का श्रेय मूलतः श्री बालकृष्ण राव को ही है। अतः सबसे पहले उन्हीं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

* *

हिन्दीसेवी, परम स्नेही तथा कुशल अध्यापक और अपने पितातुल्य अभिभावक गुरुवर पं० श्रीकृष्ण शुक्ल के प्रति :—

जिस हिन्दी के माध्यम से पत्रकारिता की थोड़ी-बहुत सेवा करते रहने के बाद, आज 'पत्र और पत्रकार-जगत' तथा समाचारपत्र-पाठक-जगत् के समक्ष यह पुस्तक प्रस्तुत करने का अवसर मिला है, उसकी सेवा की पहली प्रेरणा मुझे मिली थी अपने परम पूज्य पितातुल्य अभिभावक गुरुवर पण्डित श्रीकृष्ण शुक्ल से। यदि यह पुस्तक हिन्दी की एक सेवा है, यदि मैं अपने को कुछ हद

तक एक पत्रकार मान सकता हू और यदि मेरी भी कोई पत्रकारिता रही है और है तो यह सब कुछ उन्हीं की देन है। अपनी यह पुस्तक पत्रकारिता-जगत को भेंट करते समय मैं अपने गुरुवर के चरणों में नत हूँ।

●●

हिन्दी के प्रकाशक-जगत् तथा लेखक-जगत् की तीन पीढ़ियों की एक प्रिय कड़ी तथा अपने एक नियोजक-संस्थान में मेरे एकमात्र श्रद्धेय और अग्रज-तुल्य कृपालु आदरणीय पं० वाचस्पति पाठक के प्रति :—

माननीय बालकृष्ण राव के मन में मेरे प्रति स्नेह और साथ ही सम्मान का भाव जगाने में तथा मेरे उपेक्षित एवं अविज्ञापित पत्रकार-जीवन के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने में आदरणीय श्री वाचस्पति पाठक का, जिन्होंने मुझे बराबर स्नेह प्रदान किया, बड़ा हाथ रहा। इसके अलावा, इस पुस्तक को प्रकाशित देखने की अपनी तीव्र इच्छा से उन्होंने अनेक प्रकाशकों को प्रेरित करने का जो प्रयास किया वह उनकी दूसरी महान् कृपा थी। आज यह पुस्तक उनकी कामना और आशीर्वाद का फल है '

●●

सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के भूतपूर्व यशस्वी रीडर तथा लेखक आदरणीय श्री राजनाथजी पाण्डेय के प्रति :—

इस पुस्तक में आदरणीय पाण्डेयजी की दिलचस्पी कितनी गहरी थी और बराबर बनी रही, इसका प्रमाण इसी से मिल जायगा कि 'माध्यम मे प्रकाशित तीनों अध्याय उन्होंने बड़े चाव से पढ़े थे, सम्पादक की मार्फत बधाई का एक पत्र मेरे पास भेजा था और इसके बाद मुझे 'खोज' कर मुझसे परिचय करके और अन्त में किसी अन्तःप्रेरणा से मुझे अपना भाई बना कर मेरी अप्रकाशित पुस्तक पर ही 'सम्मानार्थ' (उन्हीं का शब्द) अपने पास से सवा सौ रुपये का एक पुरस्कार मेरे पास भेज दिया। इसके बाद पण्डितजी ने पुस्तक को यथाशीघ्र प्रकाशित देखने की अपनी तीव्र इच्छा के साथ प्रकाशक-जगत से एक अपील भी की। इतने स्नेह और इतनी कृपा के लिए आभार के उपयुक्त शब्द कहाँ से लाऊँ।

●●

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के सुयोग्य प्राध्यापक और लेखक मित्रवर शिवप्रसाद सिंह के प्रति :—

बन्धुवर, मित्रवर श्री शमशेर बहादुर सिंह की कृपा से मुझे भी अपना

ज्ञान करा देने वाले युवक श्री शिवप्रसाद सिंह ने इस पुस्तक को प्रकाशित देखने की जो प्रबल इच्छा व्यक्त की थी, अनेक प्रकाशकों का पुस्तक का महत्व जिस खूबी से समझाया था और इसके प्रकाशन के लिए जो प्रयास किये थे उन सबके लिए मैं उनका भी आभारी हूँ।

अपने बाल-सखा श्री लीलाधर त्रिवेदी, भाई श्री श्रीप्रकाशजी तथा भाई श्री बद्रीनाथ तिवारी के प्रति :—

पत्रकारिता की थोड़ी-बहुत सेवा के फलस्वरूप यह पुस्तक प्रकाशित होने के अवसर पर मैं अपने उस बाल-सखा श्री लीलाधर त्रिवेदी को कैसे भूल सकता हूँ, जिसके सहारे और प्रयास के बिना पत्रकारिता में प्रविष्ट होने की प्रबल इच्छा, इच्छा ही रह जाती या अन्ततः विलुप्त हो जाती और आज कहीं 'दूसरी चाकरियों' में मारा-मारा फिरता। यदि अपने उस बाल-सखा का सहारा न मिल सकने के कारण पत्रकारिता [illegible] प्रविष्ट न हुआ होता, तो आज यह पुस्तक कैसे प्रस्तुत होती? अपने इस मित्र के प्रति आभार व्यक्त करते इतना पुलकित हूँ कि उसे ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिए कोई उपयुक्त शब्द ही नहीं सूझ रहे हैं। आभार-स्वरूप मैं यही कहना चाहता हूँ कि 'यह पुस्तक जितनी मेरी है उतनी ही उसकी'।

अपने सपनों का—अपने आदर्शों का—पत्रकार बनने की तीव्र इच्छा लेकर पत्रकार-जगत् में आने के बाद भग्नमनोरथ पत्रकार के रूप में जिन पीड़ाओं का अनुभव हुआ, जो यातनाएँ मिली उन्हें पुस्तक के रूप में सबके सामने रख देने की बेचैनी को अन्ततः शान्त करने का संकल्प किया तीन पत्रकार-पीढ़ियों की प्रेरक कड़ी आदरणीय श्री राजेश्वर प्रसादजी के सुपुत्र तथा अपने परमप्रिय मित्र तथा पत्रकार-सहयोगी श्री श्रीप्रकाश ने। अपने इस छोटे भाई का, जिसके मन में मेरे प्रति ईर्ष्या कभी नहीं आयी और जिसने मुझे अपने बड़े भाई के समान मानकर आदर प्रदान किया, मैं तो आभारी हूँ ही, वे सभी पत्रकार भी इसके आभारी होंगे जिनकी आदर्शोन्मुख—किन्तु दबी—भावनाएँ और पीड़ाएँ इस पुस्तक में व्यक्त हुई है। अपना संकल्प पूरा करने वाला मेरा यह भाई सभी के धन्यवाद का ही नहीं, बधाई का भी पात्र है। इस पुस्तक पर सबसे पहले उसे ही बधाई मिलेगी, मिलनी ही चाहिए।

श्री बालकृष्ण राव के निकट लाने और उन्हें मेरी आत्मकथा [illegible] महत्व से परिचित कराने तथा पुस्तक के कुछ अध्यायों को स्वयं परख लेने का

यह पुस्तक और यह लेखनी

एक ओर पत्रकारिता के आदर्शों, गुणों, [illegible] तथा दायित्वों को और उनके अनुकूल तथा अनुरूप उच्चतम पत्रकार-व्यक्तित्व को, दूसरी ओर [illegible] [illegible]र्षों तथा प्रयासों के बावजूद अन्ततः अपने को सर्वथा अक्षम [illegible] और तेली के बैल की तरह एक छोटे से घेरे में [illegible] घूमते रहने की [illegible] [illegible]कारिता-स्थिति' को देखकर, भला किस पत्रकार को अपने को पूर्ण [illegible] [illegible] पत्रकार घोषित करते हुए, पत्रकारिता के आदर्शों और गुणों की [illegible] साथ उसके 'संकट और संग्राम' जैसे गम्भीर विषय पर कलम उठाने का [illegible] हो सकता है। यह कार्य किसी 'बड़े आदमी' (महान पत्रकार) द्वारा ही [illegible] [illegible]हिए था। किन्तु, यह किया जा रहा है एक ऐसे व्यक्ति द्वारा जो अपने [illegible] हाथों से बनाये आदर्श-दर्पण में जब अपनी शक्ल देखता है तो उसे एक [illegible] [illegible]ता है। अपने इस दर्पण में उसे अपना पत्रकार न स्वस्थ न सुन्दर दिखलायी देता है। जो कुछ भी हो, यह एक दर्पण प्रस्तुत है, जिसमें सही पत्रकार नहीं, कोई भी पत्रकार अपनी शक्ल देख सकता है।

सचमुच, यह काम किसी और का था—उस पत्रकार का, जो अपने मन और मस्तिष्क को आदर्शभूत और सतत आदर्शोन्मुख रखते हुए तथा [illegible] से सम्बन्धित हर छोटे-बड़े काम का अनुभव प्राप्त करते हुए, अपना [illegible] ऊँचा उठाये रहता, अर्थात् :—समाजविरोधी तमाम [illegible] स्वार्थों से अपने [illegible] अप्रभावित रख कर और साथ ही व्यापक सामाजिक विकास के प्रति अपने [illegible] समर्पित करके अपने को सचमुच 'नेताओं का नेता', 'शिक्षकों का शिक्षक' [illegible] 'वकीलों का वकील' सिद्ध कर चुका होता और अपने पेशे को सचमुच 'चतुर्थ सत्ता' बना लेता। किन्तु, आज जब कोई भी व्यक्ति पत्रकार बन जा सकता है, सम्पादन से सम्बन्धित हर छोटे-बड़े काम का अनुभव किये बिना और पढ़ने-लिखने की एक सहज प्रवृत्ति के बिना सम्पादक तथा प्रधान सम्पादक तक बन जा सकता है, और आज जब प्रायः सभी ने अपनी बुद्धि को एक खूँटे से बाँध रखा है, या 'पगहा' छुड़ा कर दिल्ली या अपने-अपने राज्य की राजधानी की ओर दौड़ना, दूतावासों से सम्पर्क स्थापित करना या किसी-न-किसी दल का पल्ला पकड़ लेना अपना सबसे बड़ा 'शौक' बना लिया है, तब ऐसे

व्यक्ति को कहाँ ढूंढा जाय जो पत्रकारिता के संकट और समाधान पर कुछ लिख सके।

अपने को पत्रकार कहने का कुछ साहस करते हुए, इन पंक्तियों का लेखक अपनी पीड़ाओं—अपने कटु अनुभवों—के आधार पर विनम्रतापूर्वक यह कहना चाहता है कि यह काम उन प्रधान सम्पादकों या सम्पादकों का तो बिलकुल नही हो सकता, जिन्होंने अपने को प्रथमतः कार्यपालनाधिकारी, बना लिया है और 'वेतनभोगी सेवक' की भावना के ही बलवती रहने के कारण, सम्पादक-मण्डल की समस्याओं तथा उसके विचारों को व्यवस्थापक-मण्डल और संचालकों के समक्ष दृढ़तापूर्वक रखने के बजाय व्यवस्थापक-मण्डल तथा संचालकों की 'समस्याओं' और विचारों को सम्पादक-मण्डल के ही सामने रखने की एक प्रवृत्ति बना ली है। अपने को प्रथमतः पत्रकार ही मानकर बैठा जो 'कार्यपालनाधिकारी सम्पादक' प्रथमतः कार्यपालनाधिकारी ही होता है, अपने को सम्पादक-मण्डल के अन्य सदस्यों से ऊँचा समझता है, उनके साथ बराबरी के आधार पर कोई सम्पर्क नहीं रखता और सम्पादकीय कक्ष में आकर उप-सम्पादकों के बीच बैठना 'शान के खिलाफ' समझता है वह तो इस काम में कभी सफल हो ही नहीं सकता।

तो फिर 'नौकरी की विवशताओं से मुक्त' और 'पत्रकार-शिरोमणि', 'सम्पादकाचार्य' आदि उपाधियों से विभूषित लोगों द्वारा ही यह कार्य सम्पन्न किया जाना चाहिए था। किन्तु, यहाँ भी निराशा ही हाथ लगती है, क्योंकि इनमें से भी तो अधिकांश को अपनी 'विशिष्टता' के कारण, या 'राजनीतिक पुरुष' हो जाने के कारण अपने प्रचारार्थ पत्र-संचालकों से भी अच्छा सम्बन्ध बनाये रखने की 'जरूरत' रहती है और इसी प्रकार कुछ लाभार्थ 'सरकारी पुरुषों' से भी सम्पर्क रखना पड़ता है। पहले से ही बनती आयी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप या अच्छा सम्बन्ध और सम्पर्क बनाये रखने के लाभ के 'प्रतिदानस्वरूप' इनका कुछ ऐसा सिद्धान्त भी तो बन जाता है कि आदर्श और व्यक्तित्व की ऐसी कोई बात न कहो और न लिखो जो उन सबको प्रिय न हो।

चूँकि ऐसे सारे लोग सम्पूर्ण स्थिति को भोगे नहीं रहते या भोग कर भी भुला चुके होते हैं या समझ कर भी नहीं समझते, अतः उनमें आदर्श तथा व्यक्तित्व के लिए बुद्धिसंगत, युक्तिसंगत एवं भावप्रवणतापूर्ण वह व्यथा नहीं रह जाती, जो इस स्थिति को निरन्तर भोगते आने वाले कुछ भावप्रवण और

कुछ तर्कप्रवण सहायकों ('छोटे' सम्पादकों) में रहती है। केवल 'यथार्थता' और 'व्यावहारिकता' का राग अलापने वाले इन महानुभावों ने कितना ही लिखा-पढ़ा क्यों न हो, कितना ही भाषण क्यों न उगला हो और कितना ही बुद्धिविलास क्यों न किया हो—विद्वत्ता का कितना ही 'सुख' क्यों न लूटा हो,—पत्रकारिता की सम्पूर्ण स्थिति को भोगे बिना, या, भोगकर सुखद परिस्थिति में आ जाने के बाद कम-से-कम उसकी याद ताजा रखे बिना, पत्रकारिता का वास्तविक संकट और संत्रास इनकी समझ में नहीं आ सकता या मुश्किल से आ सकता है। 'परिस्थितिवश' आत्मसमर्पण कर देने वालों में से कुछ ने अपने मन और मस्तिष्क के किसी कोने में 'स्व' और 'स्वार्थ' के साथ ही 'पर' और 'परमार्थ' के लिए भी कुछ स्थान बचा रखा हो, तो उनसे इस विषय पर कुछ लिखनेकी आशा की जा सकती है। किन्तु, ऐसे किसी व्यक्ति को भी आगे आता न देख कर इस दुर्बल व्यक्ति ने अपनी दुर्बल लेखनी उठायी है।

पूछा जा सकता है कि जब अपने ही द्वारा रचित इस दर्पण में इस लेखक को अपना पत्रकार-रूप स्वस्थ और सुन्दर न दिखलायी देता हो, जब वह अपनी लेखनी को सशक्त न समझता हो और जब वह पत्रकारिता के संकट पर पूरी एक पुस्तक लिखना दुस्साहस मानता हो तब आखिर किस तथ्य ने उससे यह पुस्तक प्रस्तुत करवा दी? यदि इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप में ही माँगा जाय तो बस एक ही वाक्य में यह कहना है कि "अपनी परिकल्पना का पत्रकार न बन सकने की 'पीड़ा' ने ही यह पुस्तक प्रस्तुत करवा दी"। यदि इस पीड़ा से ही कुछ काम बन गया हो—यदि घुणाक्षर न्याय जैसी कोई चीज हो गयी हो—तो अपनी यह पीड़ा कितनी भली हो जायगी। अपनी 'पीड़ाप्रेरित' दुर्बल लेखनी से प्रस्तुत यह पुस्तक यदि पत्रकार-जगत् के लिए और साथ ही पाठक-जगत् के लिए कुछ उपयोगी मानी जा सकी तो शायद इस लेखनी को भी याद रखा जायगा।

अध्ययन एवं अनुभव की गहराई की दृष्टि से, विषय-प्रतिपादन की कला की दृष्टि से तथा लेखन-सामर्थ्य की दृष्टि से कुछ विशिष्ट न बन सकने के बावजूद, यह पुस्तक कम-से-कम हिन्दी-जगत में तो यह प्रश्न उठा ही सकती है कि "क्या केवल अपने विषय की दृष्टि से यह पहली या इनी-गिनी पुस्तकों में एक नहीं मानी जायगी और क्या इतने से ही यह हिन्दी के मान में कुछ योगदान नहीं करेगी और दूसरी भाषाओं के भी कुछ प्रबुद्ध एवं उदार पत्रकारों तथा लेखकों का ध्यान आकृष्ट नहीं करेगी?"

काश, जिस पीड़ा ने यह पुस्तक लिखने के लिए प्रेरित किया वह सम्पूर्ण

पत्रकार-जगत् की पीड़ा बन कर पत्रकारिता की और साथ ही राजनीति से प्रवंचित और प्रताड़ित समाज की पीड़ाओं को कुछ हद तक दूर करने में समर्थ हो जाती ! आशा है, उदार पाठक यह देखने की कोशिश करेंगे कि प्रथमतः अपने अनुभवों के ही आधार पर लेखक ने यहाँ जो कुछ प्रस्तुत किया है उसमें कुछ ग्राह्य या अनुकरणीय है या नहीं और यदि है, तो अभी या कभी, पत्रकारिता के उन्नयनार्थ इसका लाभ कैसे उठाया जा सकता है। चूँकि यह पुस्तक पत्रकारों को ही दृष्टि में रख कर नहीं, बल्कि समाचारपत्रों के प्रबुद्ध पाठकों को भी दृष्टि में रख कर लिखी गयी है, अतः यह आशा भी की जा सकती है कि यह पत्रकारों तक ही सीमित नहीं रह जायगी।

पुस्तक में व्यक्तिगत या संस्मरणात्मक रूप में आये अंशों में जो कुछ पीड़ा, प्रलाप, आत्मश्लाघा और परनिन्दा-सा लगता है, उसे कोरी व्यक्तिगत या दूसरों के लिए निष्प्रयोजन बात न समझ कर यदि पत्रकारिता की सम्पूर्ण स्थिति अथवा परिस्थिति के झरोखे के रूप में माना जा सका तो यह एक परम न्याय होगा।—पुस्तक के प्रति और उसके लेखक के प्रति। इसी न्याय-निवेदन के साथ एक निवेदन यह भी करना है कि यहाँ कुछ स्थलों पर उल्लिखित कुछ कटु-तिक्त, निन्दात्मक एवं आलोचनात्मक बातें पत्रकारिता-क्षेत्र के जिन लोगों पर सटीक घटती हों वे यह सोच कर इस लेखक को क्षमा कर देंगे कि "इसने अपने बनाये इस पुस्तक-दर्पण में अपनी भी शक्ल तो देखने की कोशिश की है" और व्यक्तिगत लगने वाली बात व्यक्तियों को दृष्टि में रख कर नहीं, बल्कि 'व्यक्तियों को ही लेकर बन गयी एक दुखद स्थिति' को दृष्टि में रख कर लिखी गयी है। इस प्रकार क्षमा करते हुए वे अपने से भी कुछ प्रश्न करेंगे और अन्त में यह प्रश्न करने की कृपा जरूर करेंगे कि यदि निन्दाएँ और आलोचनाएँ सही हैं तो क्या इन्हें पत्र और पत्रकारिता के उन्नयनार्थ आत्मविश्लेषण (पत्रकारोचित आत्मविश्लेषण) और प्रेरणा का एक आधार नहीं बनाया जा सकता और क्या इनसे मृत या सुषुप्त स्वाभिमान को जीवित या जाग्रत नहीं किया जा सकता ?

इन शब्दों के साथ यह दुर्बल लेखनी एक पुस्तक प्रस्तुत कर रही है। इन दोनों का मूल्यांकन पाठक जैसा करना चाहें करें।

—हेरम्ब मिश्र

प्रकाशक की प्रसन्नता

पत्रकारिता के 'संकट और संत्रास' विषय पर, सम्पूर्ण परिस्थितियों को भोग कर, पूर्ण आदर्शप्रियता, पत्रकारोचित भावप्रवणता, विश्लेषणशीलता तथा तार्किकता के साथ लिखी गयी एक पुस्तक, जो अपने विषय पर अपने ढंग की पहली मानी जायगी, प्रकाशित करने का श्रेय जिन्हें प्राप्त हो रहा हो उनकी प्रसन्नता का अनुमान कोई भी लगा सकता है।

जिस पुस्तक का प्रत्येक अंश अनेक संकेत करता हो, अनेक सन्देश देता हो और इसलिए परम सार्थक हो, उसके प्रकाशन का श्रेय लेते हुए, कुछ और न कह कर, प्रकाशक इतना ही कह देना बहुत समझते हैं कि पत्रकारों तथा समाचारपत्र-पाठकों के समक्ष यह पुस्तक रख कर वे अपने को धन्य समझते हैं, क्योंकि इस पुस्तक के प्रकाशन से हिन्दी और हिन्दी-पत्रकारिता की ही नहीं, देश की सम्पूर्ण पत्रकारिता की सेवा में योगदान करने का एक अवसर उन्हें भी मिल रहा है।

आशा और विश्वास है कि आदरणीय लेखक के आशीर्वाद के साथ ही समस्त पत्रकारिता-जगत् का आशीर्वाद प्रकाशकों को प्राप्त होगा।

—अनादि प्रकाशन

विषय-सूची

पृष्ठ

पत्रकारिता : आदर्श और वास्तविकता

प्रारम्भ में जनसाधारण की दृष्टि में पत्रकारिता का अर्थ सामान्यतः समाचारों का संकलन और प्रसारण मात्र था। बहुधा लोग पत्र और पत्रकारिता को अविभाज्य रूप में ही देखते आये थे। किन्तु, पत्र और पत्रकारिता के अपने अलग-अलग इतिहास रहे हैं। समाचारपत्र का जन्म अगर चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ था, तो पत्रकारिता का जन्म वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में माना जायगा, जबकि इसे एक कला की संज्ञा मिली और इसका अपना एक आदर्श निर्धारित हुआ। इसी आदर्श के कारण पत्रकार का पद और पत्रकारिता का पेशा बहुत ऊँचा माना जाने लगा। जनसाधारण की दृष्टि में भी पत्रकारिता का अर्थ समाचारों का संकलन और प्रसारण मात्र नहीं रहा। पत्र, पत्रकारिता और पत्रकार का महत्व बढ़ना इसलिए भी निश्चित था कि इनका आधार मनुष्य की वह जिज्ञासा थी जो उसे अपने आस-पास की, सारे देश की और विश्व की जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रारम्भ से ही उत्प्रेरित करती आयी है। इसी जिज्ञासा की पूर्ति के साधन के रूप में पत्रों का आविर्भाव हुआ। मनुष्य की इस जिज्ञासा-पूर्ति का आदर्श सामने रखकर चलना आसान नहीं। इसके लिए पत्रकार को स्वयं जिज्ञासु बने रहने की आवश्यकता होती है। पत्रकार जो समाचार प्रस्तुत करता है उससे हुई जानकारी के साथ कुछ और जानने की इच्छा पाठक को हो सकती है, या होती ही है। यह समझ कर पत्रकार को सम्बद्ध जानकारी करानी पड़ती है। उदाहरणार्थ, उसने 'सीरालियोन के सेनाध्यक्ष की गिरफ्तारी का समाचार तो दे दिया, किन्तु यदि वह यह नहीं बताता कि यह स्थान कहाँ है, तो वह पाठक की जिज्ञासा को या तो समझता ही नहीं या समझ कर भी उसकी उपेक्षा कर जाता है। भौगोलिक परिचय देने के अलावा घटना की पृष्ठभूमि और सम्भाव्य अन्तर्राष्ट्रीय प्रति-

क्रिया पर भी कुछ लिखना पड़ सकता है। इसके लिए पत्र के सभी सम्पादकों को नहीं तो किसी एक को तो विशेष जानकारी रखनी होगी। यही बात प्रत्येक समाचार के साथ लगी है। इसका मतलब यह हुआ कि पाठकों को विविध विषयों की अधिक-से-अधिक जानकारी कराने, कराते रहने, का कर्त्तव्य पूरा करने के लिए सम्पादक-मण्डल को अपने में एक विश्वविद्यालय बन जाने की आवश्यकता है। लेकिन, क्या सम्पादक-मण्डल का विश्वविद्यालय बनना साध्य है ? इस प्रश्न का उत्तर इस पुस्तक के अनेक अध्यायों में तरह-तरह से मिलेगा। यहाँ इतना ही कहना है कि अपने यहाँ अभी यह एक कल्पना ही है। यदि कभी यह साकार हो जाय तो फिर पत्रकारिता एक स्वतन्त्र सत्ता—चतुर्थ सत्ता—मानी जा सकती है।

मध्ययुगीन दासता की बेड़ियों के टूटने का क्रम प्रारम्भ होने पर, खास तौर से यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति के बाद, जब समाज में नयी भावनाओं, नये विचारों और उनके अनुरूप नये मूल्यों की प्रतिष्ठा होने लगी और लोक-तन्त्र के सिद्धान्तों ने अपना प्रभाव तेजी से डालना प्रारम्भ किया तब पत्रों को लोकमत के संरक्षक, सहायक और पथप्रदर्शक के रूप में एक नयी शक्ति माना गया और उनका स्थान और मान कहीं आगे बढ़ गया। पत्रों की स्थान-मान-वृद्धि के साथ पत्र से पत्रकारिता का जन्म हुआ, एक कला और साथ ही एक विज्ञान के रूप में। यहीं पत्रकारिता के उस आदर्श और दायित्व की नींव पड़ी जिसने पत्र और पत्रकारिता को 'चतुर्थ सत्ता' का आसन प्रदान किया। पत्रकारिता को 'चतुर्थ सत्ता' की संज्ञा यों ही नहीं मिल गयी। यह स्थान उसे आदर्श की महानता और दायित्व की गहराई के कारण ही मिला। पत्रकारिता के सारे आदर्श मुख्यतः इन तीन बातों में ही समाहित हैं—(१) विशाल मानव-परिवार की एकता (विश्वबन्धुत्व), (२) जन-सेवा (सामाजिक और आर्थिक स्थिति में सुधार के लिए प्रयत्नशील रहना), तथा (३) शान्ति-स्थापना। ये उद्देश्य अपने में इतने पूर्ण हैं कि इनमें मानव-कल्याण की सभी बातें—सामाजिक सुधार से लेकर झकझोर देने वाली आर्थिक क्रान्ति तक—आ जाती हैं। यह उस पुराने आदर्श का ही आशीर्वाद है कि पतनोन्मुख होने पर भी पत्रकारिता अपना प्रभाव बनाये हुए है। किन्तु पतनोन्मुख पत्रकारिता पर आदर्शवाद का यह आशीर्वाद कब तक बना रह सकता है !

आज का पत्रकार, जो वास्तव में पत्रकार है, उन आर्थिक, सामाजिक और

वैज्ञानिक सम्बन्धों को देखने की कोशिश तो करता ही है, जो मनुष्य की अनेक संकीर्णताओं को समाप्त करने के लिए आगे बढ़ते दिखलायी दे रहे हैं। दृष्टि की इस व्यापकता के कारण ही अनेक अवसरों पर एक सच्चा पत्रकार अंधराष्ट्रवाद और संकीर्ण देशभक्ति के विरुद्ध आवाज उठाता है। येल-विश्वविद्यालय में पत्रकारिता विषय पर दिये गये अपने एक भाषण में विलियम लेविस ने कहा था—'पक्षपात-चाहे वह देशभक्ति के नाम पर हो या और किसी तरह का हो-बेईमानी है। याद रखिये, यदि आपको किसी देश से द्वेष है तो हो सकता है कि दोष उस देश में नहीं आप ही में हो।' यही बात दूसरे शब्दों में, बाबूराव विष्णु पराड़कर की परम्परा में, स्व० रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर ने ३० दिसम्बर १९५६ को बलिया जिले के सहतवार स्थान में उत्तर प्रदेश पत्रकार संघ का शुभारम्भ करते हुए कही थी—'पत्रकार अपनी सेवा के बल पर राष्ट्रीय हितों से आगे बढ़-कर, अन्तर्राष्ट्रीय हितों का प्रहरी बन जाता है।'

किन्तु 'देशभक्ति के नाम पर' या और किसी तरह होने वाले पक्षपात की स्थिति में, खास करके तब जब जनभावनाएँ अनेक सकीर्णताओं के कारण और प्रचार के कारण उत्तेजित हों, किसी पत्रकार का अपने ही देश को दोषी ठहराना या उसके पक्षपात की चर्चा करना बड़े साहस और साथ ही कलम के कौशल का काम है। इसी प्रकार राष्ट्रीय हित से आगे बढ़ कर अन्तर्राष्ट्रीय हितों का प्रहरी बनना कम कठिन नहीं है। इस कार्य में स्वजाति, स्वप्रान्त, स्वदेश, स्वधर्म, स्वभाषा और दूसरे सारे स्वार्थों का शमन करना पड़ता है। शायद दो-चार प्रतिशत पत्रकार ऐसे निकलें जो अपने पक्ष या अपने देश से किसी दूसरे पक्ष या देश के युद्ध अथवा संघर्ष में अपने ही पक्ष या देश को दोषी ठहराने का साहस करें—व्यापक एवं दूरगामी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय हित में। उदाहरण के लिए, अपने भारत और पड़ोसी पाकिस्तान के बीच चलते आने वाले झगड़ों में भारतीय और पाकिस्तानी पत्रकारों की ही भूमिका देख ली जाय।

'वसुधैव कुटुम्बकं' के प्राचीन एवं अर्वाचीन विचारों और उपदेशों को या मार्क्स, लेनिन तथा गैरकम्युनिस्ट विचारकों के अन्तर्राष्ट्रीयतावादी साहित्य को पढ़ कर नहीं, अपने ही लम्बे अनुभवों से, स्वार्जित भावप्रवणता से तथा अपने ही चारों और की परिस्थितियों के अध्ययन से, पत्रकार का जैसा वास्तविक

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण बनता है या बन सकता है, वैसा और किसी का आसानी से नहीं बन सकता।

जन-सेवा के सम्बन्ध में जे० बी० मेकी के निम्नलिखित दो वाक्यों में पत्रकार का सम्पूर्ण कर्त्तव्य इंगित है—'जो पत्रकार अपने कर्तव्य का पूरी तरह अनुभव करता है और अपने लक्ष्य के प्रति पूर्ण निष्ठा रखता है, उसकी सबसे बड़ी चिन्ता यह होती है कि अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित कैसे हो। वह गरीब, पददलित का मित्र होता है।' इसी प्रकार 'माडर्न जर्नलिज्म' में मेकी का एक और वाक्य देख लिया जाय—'पत्रकार की न्यायप्रियता का तकाजा है कि वह 'धन' या 'उच्च पद' के प्रति पक्षपात न करे।' भारत-जैसे देश के, और खास करके भारत के हिन्दी-क्षेत्र के, भुक्तभोगी पत्रकारों में यदि तर्क-प्रवणता और भावप्रवणता दोनों का प्राबल्य हो, तो वे मेकी के उपर्युक्त तीन वाक्यों के मर्म को समझ कर 'जन-कल्याण' और 'जन-सेवा' के बहुचर्चित तमाम विचारों के मुकाबले सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सम्बन्धों का विश्लेषण करते हुए अपने वैज्ञानिक विचार खड़े कर सकते हैं और 'जनता' 'जनसेवा' तथा 'जनकल्याण' की सही परिभाषा तथा सही व्याख्या प्रस्तुत कर सकते हैं।

आदर्शवादी पत्रकार का काम केवल घटनाओं को प्रस्तुत करते रहना या जाना नहीं है, बल्कि उसका कार्य इससे कहीं बड़ा है। वह वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और सम्बद्ध विचारों का आलोचक मात्र नहीं होता, वह कर्मयोगी भी होता है। वह समय की गति के साथ अपने कदम बढ़ाता रहता है, और जरूरत पड़ने पर कलम की जगह या कलम के साथ तलवार उठा लेता है। कलम की जगह नहीं, कलम के साथ ही, तलवार उठाये रहने का एक गौरवपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किया है हमारे यशस्वी पत्रकार स्व० बाबूराव विष्णु पराड़कर ने। पत्रकार-जीवन के साथ उनका क्रान्तिकारी जीवन—साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष का जीवन—कलम के साथ तलवार भी हाथ में रखने का ही जीवन तो था।

पराड़करजी की पत्रकारिता और क्रान्तिकारिता करीब-करीब एक साथ प्रारम्भ हुई और एक की वजह से दूसरी में बाधा कभी नहीं पड़ी। जिस ओज और वेग से पत्रकारिता चली उसी ओज और वेग से क्रान्तिकारिता चलती रही। बाबूराव की पत्रकारिता उन अनेक राजनीतिज्ञों और राजनेताओं की

पत्रकारिता की तरह नहीं थी, जो अपना सारा समय या अधिकांश समय लगाये तो रहते थे राजनीति में, किन्तु पत्रकार केवल इसलिए कहलाते थे कि उनके नाम किसी-न-किसी पत्र पर सम्पादक के रूप में छपते रहते थे और वे थोड़ा-बहुत सम्पादन-कार्य देख लिया करते थे। पराड़करजी की तल्लीनता जितनी क्रान्तिकारी कार्यों या स्वाधीनता-कार्यों में थी उतनी ही पत्रकारिता में या जितनी पत्रकारिता में थी उतनी ही क्रान्ति-कार्यों और स्वाधीनता-कार्यों में भी। पराड़करजी के सम्पर्क में रहने वाले व्यक्तियों में से अधिकांश की धारणा यही बनी रही कि पराड़करजी की 'क्रान्तिसंयुक्त पत्रकारिता' अपनी किसी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा—'एम० पी०' या 'मिनिस्टर' बनने की सी—की पूर्ति के लिए नहीं थी। वह तन-मन से स्वाधीनता को समर्पित थी।

पराड़करजी के क्रान्ति-दर्शन में, 'क्रान्तिसंयुक्त पत्रकारिता' के जीवन में, निम्नलिखित 'शिवतत्व' परिलक्षित था—

> महोक्षः खट्वाङ्गम्परशु रजिनं भस्म फणिनः।
> कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणम्॥
> सुरास्तां तामृद्धिं दधति तु भवद्भ्रूप्रणिहिताम्।
> न हि स्वात्मारामं विषय मृगतृष्णा भ्रमयति॥

"जिन वरद शंकर की कृपा से प्राप्त ऋद्धियों को देवता लोग भोगते है, उन्हें शंकर क्यों नहीं भोगते? उनकी धारण-सामग्रियाँ तो बस खाट के पाये, बैल, परशु, गजचर्म, भस्म, सर्प और कपाल आदि ही हैं। ठीक ही है, स्वात्माराम [आत्मज्ञानी] को विषयरूपी मृगतृष्णा नहीं भरमा सकती।"

ऐसे किसी भी पत्रकार की सर्वकल्याण-साधना अपने लिए नहीं होती। ऐसा पत्रकार दूसरों को सब कुछ देना चाहता है, देता है और उसने दिया है, किन्तु अपने लिए कुछ नहीं चाहता। गोस्वामी तुलसीदास ने रुद्रावतार हनूमान के बारे में जो यह कहा है कि वह 'धर्मार्थकामापवर्गद' होते हुए स्वयं 'ब्रह्मलोकादि-वैभव-विरागी' हैं, वही बात किसी हनूमान-अंश पत्रकार पर भी लागू होती है। बाबूराव विष्णु पराड़कर तथा उनके जैसे अन्य पत्रकार निश्चय ही हनूमान-अंश थे। 'ब्रह्मलोकादि-वैभवविरागी', 'वेदान्तविद् विविध-विद्या-विशद वेद-वेदांगविद ब्रह्मवादी', 'महानाटकनिपुण कोटि कवि-कुल-तिलक गानगुण-गर्व-गंधर्वजेता' तथा 'सामगाताग्रणी' हनूमान के रूप में भारतीय वाङ्मय में साकार त्याग

और साकार ज्ञान का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया है वही एक सच्चे पत्रकार का आदर्श है। पराड़करजी-जैसे कुछ पत्रकारों के सामने यह आदर्श अवश्य था।

पराड़करजी का संघर्षमय राजनीतिक जीवन कांग्रेस के बनारस-अधिवेशन में, एक स्वयंसेवक के रूप में, प्रारम्भ हुआ और एक वर्ष बाद पत्रकारिता में भी उनका प्रवेश हो गया। पराड़करजी ने पत्रकारिता को जीविकोपार्जन के साधन के रूप में नहीं, जीवन-ध्येय के रूप में—'समाजसमर्पित जीवन-ध्येय' के रूप में—ग्रहण किया था। पत्रकारिता को इसी रूप में ग्रहण कर वह 'हिन्दी बंगवासी' में सहायक सम्पादक बने, किन्तु जब उन्होंने देखा कि यह पत्र प्रतिक्रियावादी नीति का समर्थक ही बना रहेगा और इसके माध्यम से देश-सेवा, समाज-सेवा और जन-सेवा का कोई कार्य नहीं हो सकता, तब वह उससे अलग हो गये और १९०७ में उन्होंने 'हितवार्त्ता' का कार्यभार संभाला। 'हितवार्त्ता' की भी नीति जब उन्हें अपनी स्वातन्त्र्य-प्रिय और क्रान्तिकारी-प्रकृति के अनुकूल नहीं दिखलायी दी तो उससे भी अलग हो गये और 'भारतमित्र' को देश-सेवा का साधन बनाने का प्रयास किया।

सम्पादन-कार्य की इसी अवधि में बंगाल के नवयुवक-समाज की क्रान्तिकारी भावनाओं को बल देने वाली गुप्त समितियों से भी पराड़करजी का सम्बन्ध बराबर बना रहा। पत्रकारिता के साथ देश-सेवा भी करते रहने के लिए ही उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा के निमित्त स्थापित नेशनल कालेज में अध्यापन-कार्य शुरू किया, जो 'बंगवासी' के सम्पादक को पसन्द नही आया और उसकी वजह से पराड़करजी ने 'बंगवासी' से अलग हो जाना ही ठीक समझा। गुप्त समितियों से सम्पर्क के कारण १९१६ की १ जुलाई को पराड़करजी साढ़े तीन वर्ष के लिए नजर-बन्द कर लिये गये। इस नजर-बन्दी के बाद 'आज' में आने पर भी उनकी क्रान्तिकारिता में कोई कमी नहीं आयी। १९३१ में उन पर राजद्रोह का जो मुकदमा चला और 'रणभेरी' नाम की गुप्त पत्रिका निकालने में उन्होंने जिस साहस और कुशलता का परिचय दिया, वे सब बातें यही दिखलाती हैं कि पराड़करजी के एक हाथ में कलम थी तो दूसरे में तलवार।

किन्तु, यदि सबसे पहले अपने देश को ही लिया जाय तो वास्तविकता यही दिखलायी देगी कि आज कलम के साथ तलवार भी उठा लेने वाले पत्रकार नहीं रहे, या पत्रकारों ने समझ लिया है कि अब कलम के साथ तलवार भी

उठाने या कलम रख कर तलवार हाथ में लेने की कोई आवश्यकता नहीं रही। यों तो पराड़कर-युग में भी पराड़कर-जैसे पत्रकार कम ही थे और जो थे वे, भी अहिंसा और हिंसा के विचार में उलझ कर 'आरामतलब-से' हो गये थे, किन्तु आज तो उतने भी नहीं रहे। आज का पत्रकार जो कुछ है या हो रहा है, उसके सम्बन्ध में तो यह पुस्तक ही प्रस्तुत है। आज का पत्रकार 'नेताओं का नेता' बन कर नेताओं तथा देश का पथ-प्रदर्शन करने के बजाय स्वयं नेताओं का अनुगामी-सा हो गया है और उन्हीं से उधार लिये हुए विचारों के अनुसार ही सामाजिक परिवर्तन या क्रान्ति का आराम से दर्शन करता रहता है। क्रान्तिकारी और साहसी होने के बजाय वह भीरु होता आया है और आज इतना भीरु हो गया है कि प्राप्त स्वतन्त्रता का भी उपयोग करने से डरता है। ऐसे पत्रकारों से क्रान्तिद्रष्टा और योद्धा बनने की आशा क्या की जाय?

पत्रकारिता के आदर्शों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है विश्व-शान्ति का। अनेक आदर्शवादी विश्व-समर्पित पत्रकारों ने इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया हैं। यों तो अनादि काल से या मानव-सभ्यता के विकास-काल से ही महापुरुषों ने युद्ध-प्रवृत्तियों तथा उनके कारणों पर विचार किये हैं, किन्तु प्रथम महायुद्ध और द्वितीय महायुद्ध के व्यापक नरसंहार ने आधुनिक पत्रकारों पर इस विषय के चिन्तन की विशेष जिम्मेदारी डाल दी है और उनमें से बहुतों को झकझोर कर उन तथ्यों का पता लगाने के लिए प्रेरित कर दिया जो युद्ध के मूल में होते हैं। उनका पता लगाने के बाद वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि सम्प्रदाय, देश और राष्ट्र की भावनाओं से आम जनता उत्तेजित तथा आत्मोत्सर्गतत्पर जरूर हो जाती है, किन्तु युद्ध सामान्यतः उसके वास्तविक हितों के विरुद्ध ही होते हैं। आज जिन्हें जनयुद्ध, मुक्ति-युद्ध या जन-संघर्ष कहा जाता उनके बारे में पत्रकारों का अनुभव और ज्ञान यही है कि वे सर्वसाधारण को अपनी शाश्वत एवं अपराजेय शक्ति का भान कराने और उसे दुबारा कभी भी प्रवंचित न होने देने वाले होने के बजाय व्यक्ति, वर्ग या दल के ही हितसाधक सिद्ध होते हैं। १९४२ की लड़ाई लड़ी आम जनता ने, उसमें अपना सर्वस्व न्यौछावर किया आम जनता ने, किन्तु सुख भोगा नेताओं ने—एम० एल० ए० बन कर, एम० पी० बन कर और मन्त्री बन कर। जहाँ तक दो देशों या दो राष्ट्रों के बीच युद्धों का सम्बन्ध है, अब तक का अनुभव यही है कि वे मुट्ठी भर स्वार्थी शासकों या वर्ग-विशेष के हित में जनता पर लादे गये हैं। प्रथम महायुद्ध और

द्वितीय महायुद्ध के सम्बन्ध में क्या आज भी किसी पत्रकार को यह समझाने की जरूरत है कि ये दोनों बाजार के बँटवारे के लिए, एक-दूसरे का बाजार छीनने के लिए, या बाजार की रक्षा के लिए ही हुए।

'युद्ध और शान्ति' की समस्या की दृष्टि से द्वितीय महायुद्ध के बाद की राजनीतिक एवं कूटनीतिक सक्रियता की स्थिति किसी विचारक-पत्रकार के लिए, किसी आदर्शोन्मुख पत्रकार के लिए, एक अभूतपूर्व चुनौती के रूप में आयी है। युद्ध समाप्त होते ही एक प्रमुख पक्ष ने शान्तिगान के साथ जो एक शान्ति-अभियान छेड़ा उसकी ओट में एक ऐसी शस्त्रास्त्र-साधना होती रही जो अन्त में दूसरे पक्ष की बहुत कुछ प्रकट शस्त्रास्त्रसाधना से आगे बढ़ गयी। अणु-बम के प्रयोग से समाप्त हुआ युद्ध एक-से-एक 'अच्छे' (कल्पान्तकारी) आणविक आयुधों के जनक के रूप में सामने आया। लोगों ने दोनो पक्षों द्वारा आणविक आयुधों के अधिकाधिक संग्रह से उन्हें स्वयं भयभीत होते देख कर आणविक आयुधों को अपने आप में युद्धावरोधक माना और उन्हीं के स्वर-में-स्वर मिला कर पत्रकारों ने भी उन्हें युद्धावरोधक मान लिया। लेकिन ऐसा मान लेने के बाद भी भय या सन्देह निर्मूल नहीं हुए और जब कहीं कोई चिनगारी छिटकी किसी-न-किसी देश के राजनेताओं या राजनीतिज्ञों ने सारे संसार के संकट में पड़ जाने की हलकी या गम्भीर चेतावनी जरूर दी। स्वयं अणु-आयुधसम्पन्न पक्षों ने कई बार गरूर में आकर एक-दूसरे को धमकियाँ भी दीं और देना जारी रखा। ऐसी स्थिति में किसी पत्रकार का यह सोचना गलत नहीं होगा कि दोनो पक्षों के भयभीत रहने और साथ ही कुछ बुद्धिमत्ता तथा विवेक से काम लेने के बावजूद 'एक क्षण की बेवकूफी' या गलती कल्पान्तकारी हो जायगी। तो क्या पत्रकार-जगत अपनी समस्त आदर्शवादी शक्ति लगा कर दोनों पक्षों को इस प्रकार नियन्त्रित कर सकता है कि वह क्षण कभी न आये ?

इसी द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में ही तो नन्हें से देश वियतनाम का सबसे लम्बा और बड़ा युद्ध देखा गया। इसी में तो सम्पूर्ण चीन पर शस्त्रबल से कब्जा हुआ। इसी में भारत-पाकिस्तान युद्ध भड़के, इसी में तो अरबों और इजरायलियों ने सारे संसार के दिमाग में तृतीय महायुद्ध का भय भर दिया और इसी में तो और कई क्षेत्रों में युद्ध हुए। शक्ति-सन्तुलन बदलने का और परमकूटनीतिक गतिविधि का जैसा काम यह रहा वैसा शायद पहले कभी

नहीं था। शक्ति-सन्तुलन बदलने के प्रयास में और कूटनीतिक गतिविधि में जो विस्तारवादी आकांक्षा [अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर] सामने साफ़-साफ़ दिखलायी दी, वह भी तो कलह, अशान्ति और द्वेष के बीज लेकर आयी है।

अपने राष्ट्रीय व्यक्तित्व की रक्षा और विकास के साथ ही, अपनी राष्ट्रीयता का अन्तर्राष्ट्रीयता से स्वस्थ, सुन्दर और सुखद सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयास में, हम पत्रकारों का ऐसा कुछ योगदान नहीं हो सका जो नेताओं से हमारी विशिष्टता सिद्ध कर सके। हम एक ओर ऐसा झुके कि झुकते ही चले गये। इस झुकाव में हमारी बुद्धि कुछ ऐसी कुण्ठित हुई कि जिनके सिद्धान्त में तटस्थता नाम की कोई चीज थी ही नहीं, उनके ही तटस्थता-नारे से प्रलुब्ध हो गये, जिन्होंने पहले 'तृतीय विश्व' की बात को वाहियात समझा था, उन्ही के द्वारा 'तृतीय विश्व' का अस्तित्व स्वीकार करने का रहस्य हमारी समझ में नहीं आया। इन्ही प्रकार हम पत्रकार यह समझने में भी विफल रहे कि जिस प्रकार दिसम्बर, १९३६ में च्यांग-काई-शेक को गिरफ्तार करने के बाद भी चीनी कम्युनिस्टों ने उसे रिहा करके, उसकी प्रतिष्ठा को बनाये रख कर उसका उपयोग करने की आवश्यकता पर जोर दिया और काफी हद तक उपयोग किया भी, उसी तरह द्वितीय महायुद्ध के बाद मिस्र में कर्नल नासिर की प्रतिष्ठा को उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए उसका उपयोग करने की नीति में सफलता प्राप्त करने के बाद भारत में भी एक महाशक्ति द्वारा एक प्रयास चलता रहा। यदि पत्रकार ने यह नहीं समझा है तो क्या वह तभी समझेगा जब भारत के सामने एक-दूसरे स्वातन्त्र्य-संग्राम की आवश्यकता आ पड़ेगी? 'शान्ति और युद्ध' के प्रसंग में यह प्रश्न भारत के लिए सर्वप्रमुख युद्धोत्तर प्रश्न है।

'कूटनीतिक आक्रमण' का जो अनुभव अर्थ-नीति में होना चाहिए वह भी हमें ठीक से नहीं हुआ है। अर्थ-नीति के पीछे-पीछे राजनीति के आने का अनुभूत सिद्धान्त अन्य देशों के पत्रकारों की पकड़ में भले ही आया हो, हमारी पकड़ मे वह ठीक से नहीं आया है। हम नही जानते कि कितने पत्रकार ऐसे हैं जिन्होने लेनिन के देश की वह कूटनीति समझी है, जो लेनिन के ही निम्नलिखित शब्दो का अनुसरण करती हुई बहुत आगे बढ़ चुकी है—"राजनीति लाजिमी तौर पर अर्थ-नीति का अनुसरण करती है, किन्तु तत्काल आसानी से ऐसा नहीं होता।" अर्थगत कूटनीति के साथ रूस और चीन के प्रकट विवाद को भी एक 'सैन्य-छद्मावरण' के रूप में हमारी बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकी है। इसी प्रकार

'गोपनीयता और असंगतियों' के सिद्धान्तों के आधार पर इस झगड़े को प्रतिष्ठित करके उसे ठीक से परखने का प्रयास जैसा होना चाहिए, वैसा न कोई, राजनीतिक विचारक कर सका है और न कोई पत्रकार। ऐसी स्थिति में रूस और चीन के परस्पर-पूरक रण-सिद्धान्त या रणनीति की वास्तविकता गले के नीचे भला कैसे उतर सकती है ? यदि यह वास्तविकता गले के नीचे उतर जाती तो हमें यह महसूस करते देर न लगती कि हम जिस एक अप्रत्यक्ष युद्ध के बीच हैं, वह प्रत्यक्ष युद्ध से कहीं ज्यादा भयंकर है और विश्वशान्ति की कल्पना को व्यर्थ कर देगा।

'शान्ति और युद्ध' जैसे अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों को ही सामने रख कर पत्रकार अपने महान उद्देश्य और लक्ष्य का बोध करता है। परम लक्ष्य-बोध हो जाने पर पत्रकार की पत्रकारिता देवत्व का सन्देश देती है। तभी तो जे० बी० मेकी ने पत्रकारिता को 'पौराणिक जुपिटर के सन्देशवाहक' के रूप में चित्रित किया था और साथ ही यह चेतावनी भी दी थी कि पत्रकारिता में किसी तरह की भ्रष्टता का या नैतिकता के साथ उसके संघर्ष का परिणाम अन्त में बुरा होता है। इसी सिलसिले में उन्होंने पत्र-संचालकों के सम्बन्ध में कहा था—"जो पत्र-संचालक सफलता के रहस्य को समझते हैं और जो अपने कब्जे की सम्पत्ति के मूल्यों को बनाये रखना और बढ़ाना चाहते हैं वे यह अनुभव करते है कि वास्तविक समृद्धि सचाई के प्रयत्न में लगी शक्तियों के साथ मिल कर ही हो सकती है।"

पत्रकारिता के आदर्शों में लोकतन्त्र की रक्षा का दायित्व ऐसा है जो उसके देवत्व का विकास करने में सहायक होता है। किन्तु यह तभी होगा जब पत्रकार, राजनीतिक नेताओं की तरह लोकतन्त्र की मनमानी परिभाषा करके उसे हास्यास्पद न बना दे। लोकतन्त्र के प्रति, राष्ट्र के प्रति और जनता के प्रति पत्रकार के कर्त्तव्य को कुछ ऊँचा समझ कर ही तो डी० लायड जार्ज ने एफ० जे० मैन्सफील्ड की 'कम्प्लीट जर्नलिस्ट' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है—"आज की एक सबसे बड़ी परिस्थिति, जो लोकतन्त्र के प्रसार की ओर ले जाती है और जो उसे कायम रखती है, वह है हमारे समाचारपत्रों की रचना। ये समाचारपत्र राष्ट्र को सभी महत्वपूर्ण घटनाओं का पूर्ण और यथार्थ विवरण देते हैं और ज्ञानगर्भित टिप्पणियों तथा आलोचनाओं से उन पर प्रकाश डालते हैं। प्रतिदिन की यह शिक्षा जनता को स्वतन्त्रता और स्वशासन का दायित्व ग्रहण करने के

योग्य बनाती है। राष्ट्र के राजनीतिक जीवन में पत्रकार जो योगदान करता है, उसका बहुत बड़ा महत्व होता है। उसकी सेवाएँ अक्षय हैं। पत्रकार पर जनता को अपने सामाजिक जीवन, व्यवसाय, खेलकूद, कला, साहित्य, धर्म और नैतिकता से सम्बन्धित विषयों से अवगत रखने का दायित्व होता है। सारा राष्ट्र उसका स्वाध्यायपीठ है और उसका पाठ्यक्रम सम्पूर्ण वर्ष बिना अवकाश के चलता रहता है।"

ऊँचे आदर्श के कारण ही पत्रकारिता को 'चतुर्थ सत्ता' की संज्ञा मिली थी और पत्रकार का पद इतना ऊँचा माना गया था। पत्रकार की आदर्शोन्मुखता को देख कर ही उसे किसी ने नरेश कहा, किसी ने शिक्षकों का शिक्षक, किसी ने लोकनायक और लोकगुरु और किसी ने मर्करी।

इन सारी प्रशंसाओं से पत्रकार और पत्रकारिता की एक ऊँची परिभाषा भी अपने-आप सामने आ जाती है। किन्तु, ऐसी ऊँची परिभाषा से कुछ भिन्न परिभाषाएँ भी की गयी हैं। टी० एच० एस० स्काट ने 'मास्टर ऑफ जर्नलिज्म' में पत्रकार की एक 'काम-चलाऊ' परिभाषा इस प्रकार दी है :—"पत्रकार वह व्यक्ति है जो थोड़े-थोड़े समय के अन्तर पर प्रकाशित अपनी रचनाओं से जनमत को एक निश्चित दिशा में प्रभावित करना चाहता है।" अनेक लोगों ने पत्रकार की सीधी-सादी परिभाषा बस इस प्रकार दी है— "पत्रकार वह है जो समाचारों का संग्रह और संकलन करता है, समाचार तैयार करता है और फिर उन्हें प्रकाशित करता है।" इससे भी सरल और सीधी परिभाषा ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में इस प्रकार की गयी है—"किसी पत्र का सम्पादन करके या उसके लिए कुछ लिख कर जो अपनी जीविका चलाता है, उसे पत्रकार कहते हैं।" कुछ लोगों ने विभिन्न देशों की विधि-संहिताओं में पत्रकारसम्बन्धी कानूनों के साथ की गयी परिभाषाओं को ही पत्रकार की परिभाषा मान लिया है। किन्तु यह पत्रकारों का और पत्रकारिता का मखौल ही कहा जाएगा। कोई भी सच्चा पत्रकार इन परिभाषाओं से सन्तुष्ट नहीं हो सकता।

व्यावहारिकता और यथार्थता के नाम पर पत्रकार-जगत के अनेक 'पण्डितों' ने बस यही माना है कि पत्रकार किसी एक विषय का पण्डित न होकर सभी विषयों का न्यूनाधिक ज्ञान रखने वाला होता है और वह आदर्शों के फेर में ही बराबर नहीं पड़ा रह सकता। अपने देश के अधिकांश पत्रों की जो स्थिति है, उसमें तो और भी नीचे दर्जे की परिभाषा करनी होगी। ब्रिटेन में समाचारपत्रों
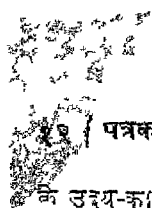
के उदय-काल में जिस तरह कुछ लोगों ने गुप्तचरों को संवाददाता, 'रजिस्टर-निरीक्षकों' को सम्पादक और 'क्लर्कों' को उपसम्पादक बतलाया था, उसी तरह आज पत्रकारिता के वर्तमान युग में भी, भारतीय भाषाओं के अधिकांश पत्रों की स्थिति को देखते हुए, पत्रकार की परिभाषा के सम्बन्ध में अगर यह कहा जाय कि "पत्रकार अखबार के दफ्तर के सम्पादकीय विभाग का क्लर्क, मुहर्रिर या पेशकार है" तो यह कटु तो अवश्य होगा, किन्तु सत्य यही है। भला इस परिभाषा को लेकर हम यह कैसे कह सकते हैं कि पत्रकार का दर्जा बहुतों से ऊँचा है ? क्या इसी के आधार पर हम सी० पी० स्काट की उक्ति को दोहरा सकते हैं कि "हमारा पेशा सर्वाधिक गौरवपूर्ण पेशा है ?"

सामने जो वास्तविकता है उसके अनुसार पत्रकार और पत्रकारिता की परिभाषा चाहे जो कर ली जाय, किन्तु आदर्श पत्रकारिता और आदर्श पत्रकार की अपनी एक ऊँची परिभाषा अवश्य है। विकैम स्टीड ने आदर्श पत्रकार की परिभाषा इस प्रकार की है : "आदर्श पत्रकार वह है जो प्राचीन ज्ञान, आधुनिक दर्शनों, वैज्ञानिकों के ज्ञान, इन्जीनियरों की जानकारी, अपने समय के और पहले के इतिहास तथा आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के मुख्य तथ्यों को अच्छी तरह बोधगम्य करके इन सबको हृदय में सजा कर रखने में समर्थ हो और अपने इस ज्ञान में से अधिक-से-अधिक जितना उसके लाखों पाठक तत्परता से पचा सकें उतना उन्हें देता रहे।" जहाँ तक ज्ञानार्जन और ज्ञान-दान का सम्बन्ध है, यह परिभाषा अपने में एक हद तक सुन्दर और स्वस्थ है और इसमें जन-कल्याण की भी बात परोक्ष रूप में आ जाती है; किन्तु पूर्वोक्त और अनेक विचारों की दृष्टि से यह कुछ अपूर्ण है, क्योंकि इसमें पत्रकार की अपनी ही कथनी और करनी में मेल की या सामंजस्य की, अपने ही त्याग की, जरूरत पड़ने पर कलम के साथ ही या कलम की जगह तलवार ले लेने की अन्तःप्रेरणा की, सेवा या परोपकार की स्वार्थ एवं आत्मविज्ञापन का साधन पत्र को न बनाने के निश्चय की, पत्र और पत्रकार के व्यक्तित्व के उन्नयन की... बातों की ओर स्पष्ट संकेत नहीं है।

पत्रकारिता के आदर्श की बात काफ़ी हो चुकी। अब हमें यह देखना है कि आज वास्तविकता क्या है ? सबसे पहले हम इस ब्रिटिश पत्रकारिता को ही लेते हैं जिसने प्रारम्भ में सचमुच एक आदर्श प्रस्तुत किया था और यह दावा किया था कि ब्रिटिश पत्रों के प्रभाव की तुलना केवल चर्च, पार्लियामेंट और राजसिंहासन

से ही की जा सकती है।' ब्रिटिश पत्रकारों का यह भी दावा था—और काफी हद तक सही भी था—कि लोकतन्त्र के विकास में हमारा योगदान सबसे अधिक रहा। किन्तु, आज उसी ब्रिटेन में सारे पत्रों को कुछ मुट्ठी भर लोगों के कब्जे में आया देख कर यह भय पैदा हो रहा है कि वे कुछ ही दिनों में लोकमत के समर्थक नहीं रह जायेंगे। ब्रिटेन का सजग पाठक-वर्ग यह भी देखने लगा है कि बड़े-बड़े विज्ञापनदाताओं का प्रभाव पत्रों पर कितनी बुरी तरह पड़ रहा है। तीसरी चीज, जो किसी भी पाठक से छिपी नहीं है, वह है सरकार का दबाव या प्रभाव। 'शासन-गोपनीयता अधिनियम' और 'राजद्रोह-उत्तेजन अधिनियम' की ओट में ब्रिटिश पत्रों की स्वतन्त्रता को सीमित रखा गया। 'राजद्रोह-उत्तेजन अधिनियम' द्वारा तो न केवल अपराध करने पर, बल्कि अपराध किये जाने की आशंका मात्र पर पत्रों के विरुद्ध कार्रवाई की जा सकती थी। न केवल युद्ध के समय, बल्कि शान्ति के समय भी ऐसे कानूनों की वजह से पत्रों की स्वतन्त्रता पर खतरा बना रहता है।

पत्र-स्वामियों, विज्ञापनदाताओं तथा सरकार के दबाव और प्रभाव के साथ पत्रों के लोकतन्त्रात्मक कर्त्तव्यों में बाधा की जो बात अब सब जगह सुनी जाने लगी है, वह ब्रिटेन में भी थी, यह उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है। इसी प्रकार नीचे के कुछ और उद्धरणों से यह भी मालूम हो जायेगा कि जो शिकायतें अन्य देशों में हैं, वे ही न्यूनाधिक मात्रा में ब्रिटेन में भी पहले से हैं। अधिकारियों के आदेश के अनुसार चलने, उनकी प्रशंसा करने; पहले से ही तैयार उनके वक्तव्यों को प्रकाशित करने, पत्रकारिता के व्यापार के रूप में बदल जाने; युद्ध, उत्तेजक मनोरंजन, जुआ व दूसरे अपराधों को प्रोत्साहन देने, बहुसंख्यक भले लोगों के बजाय कुछ थोड़े से ही लोगों के बारे में अधिक लिखने, औद्योगिक समाज को ज्यों का त्यों कायम रखने, दानवी उद्दाम वासनाओं का प्रदर्शन करने, रिश्वतखोरी तक में पड़ने, सच्ची बातों को दबा कर झूठी बातें प्रस्तुत करने या नकल की नकल करने, सनसनी पैदा करने, किसी घटना के सम्बन्ध में परस्पर-विरोधी समाचारों में से उन्हीं को प्रस्तुत करने, जो एक खास भावना को तुष्ट करते हों और जनता में एक अभीष्ट प्रचारात्मक प्रभाव डालते हों, लोकतन्त्र की ओट में या सीधे-सीधे लोकतन्त्रात्मक स्वतन्त्रता के नाम पर उलटा-सीधा सब कुछ करने........................
आदि की एक ऐसी प्रकृति पत्रकारिता ने प्राप्त कर ली है कि उसका आदर्शवादी प्रकृति और चरित्र प्राप्त करना कठिन जरूर हो गया है।

आइवर टामस ने अपनी पुस्तिका 'दि न्यूजपेपर' में बताया है कि सरकार के जनसम्पर्क-अधिकारियों के साथ पत्रों का जो सम्बन्ध है, उससे भी पत्रों की स्वतन्त्रता के अपहरण का खतरा बना रहता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि "ये अधिकारी सलाह देते-देते आदेश देने लगते हैं। इन अधिकारियों का काम होता है, अपने मन्त्रियों के कार्यों की प्रशंसा करना।" आइवर टामस का कथन है कि इनके 'पहले से ही तैयार किये हुए वक्तव्य' उत्तम पत्रकारिता की हत्या करने वाले होते हैं।

आज की पत्रकारिता की स्थिति से दुखी होकर प्रसिद्ध ब्रिटिश पत्रकार आर० डी० ब्लूमफील्ड ने कहा था—"वे दिन लद गये जब सम्पादक ही सब कुछ था।" ए० जी० गार्डिनर ने तो लार्ड नार्थक्लिफ़ तक की आलोचना करते हुए कहा है कि उन्होंने पत्रकारिता की स्थापना एक पेशे के रूप में की, किन्तु बाद में उसे एक व्यापार के रूप में बदल दिया।" वाणिज्य और व्यापार के चंगुल में पड़े पत्रों पर एच० डब्ल्यू० मैसिंघम ने जो कहा है, उसके बाद और अधिक कुछ कहने को नहीं रह जाता—"विशुद्ध रूप से सिर्फ वाणिज्य से ही सम्बन्ध रखने वाले पत्र समाजविरोधी होते हैं, और उन्हें होना भी चाहिए। वे युद्ध चाहते हैं, क्योंकि युद्ध से पत्रों की बिक्री होती है। वे अपराध पसन्द करते है, क्योंकि इनसे पत्रों की बिक्री होती है। वे हर तरह के उत्तेजक मनोरंजन चाहते हैं, क्योंकि उत्तेजक मनोरंजन से पत्रों की बिक्री बढ़ती है। वे जुआ पसन्द करते हैं, क्योंकि जुआड़ी अखबार खरीदते हैं। वास्तव में आज पत्रकारिता औरतों और बच्चों को जुआड़ी बना रही है। वह औद्योगिक समाज को ज्यों का त्यों बनाये रखना चाहती है, यानी वह चाहती है कि यह समाज अधिकाधिक पूँजी की सत्ता के अधीन होता जाय, क्योंकि इसकी आय और व्यक्तिगत स्वार्थ पूँजीवादी व्यवस्था में अपनी जड़ जमाये हुए हैं। इन पत्रों के संचालकों का विश्वास और किसी चीज में नहीं है।"—१९२४ ई० में नाटिंघम में हुई सहकारिता-कांग्रेस में पढ़े गये निबन्ध का एक अंश :

पत्रकारिता की इसी स्थिति पर १९२३ ई० में स्टेपनी के बिशप ने अपनी व्यथा इन शब्दों में प्रकट की थी :—"दैनिक पत्रों में अधिकांशतः उन लोगों का वर्णन रहता है जिन्होंने जीवन-संग्राम में हथियार डाल दिये हैं। हम उन दस व्यक्तियों के बारे में तो पढ़ते हैं जो बेईमानी करते मिले हैं, हम उन लाखों व्यक्तियों के बारे में कुछ नहीं सुनते जिन्होंने अच्छे काम किये हैं।" मजा तो यह है कि ये पत्रस्वामी अपने पत्रों को लोकतन्त्र का समर्थक और पोषक

बतलाते हैं। इन्हीं लोकतन्त्रवादी पत्रों के बारे में टामस अर्ल वेल्वी ने कहा था—"दानवीय उद्दाम वासनाओं का और अपराधों का प्रदर्शन ही आज लोकतन्त्रवादी पत्रों का मुख्य व्यवसाय हो गया है।" पत्रों की इस स्थिति को कायम रखने के लिए 'पत्रस्वामी' पत्रकारों को भी भ्रष्टाचार और दूसरे अनैतिक कार्यों की ओर ढकेल रहे हैं। संवाददाताओं के सम्बन्ध में तो यहाँ तक कहा जाने लगा है कि वे समाचार-संग्रह के सिलसिले मे रिश्वत लेने और देने से भी नहीं चूकते। जहाँ पत्रकारों को अपराध-कथाओं, विलास-भवनों की भोगलीलाओं, जुआड़ियों के अड्डों की हलचल और बड़े घरानों की लड़कियों के पलायन या अपहरण में ही दिलचस्पी रखने को बाध्य किया जाता हो, वहाँ उनका चरित्र और उनकी नैतिकता बहुत दिनों तक ऊँची कैसे रह सकती है? पत्रकारिता में रिश्वतखोरी का संकेत मैन्सफील्ड के निम्नलिखित वाक्य में ही मिल जाता है—"कभी-कभी रिश्वतखोरी और भ्रष्टता संवाददाताओं के पक्ष से और उस पक्ष से, जिससे समाचार प्राप्त होते हैं, आती है।" इसलिए उन्होंने आगे यह सलाह दी है कि पत्रकार को यह बात साफ-साफ समझ लेनी चाहिए कि न तो वह किसी के हाथ बिके और न रिश्वत स्वीकार करे। रिश्वत की यह चर्चा बताती है कि पत्रकारिता में भी रिश्वतखोरी ने अपनी जगह बना ली है। किन्तु, मजा तो यह है कि रिश्वतखोरों से भरे पत्रों के अनेक कालमों में रिश्वतखोरी के विरुद्ध कुछ-न-कुछ लिखा जाता है। इस स्थिति में बेचारे पाठक यह भला कैसे जान सकते हैं कि खुद इन समाचारपत्रों में से कितनों का अस्तित्व ही रिश्वत लेने-देने पर निर्भर है।

अमेरिकी पत्रकारिता की दशा और भी विलक्षण है। सनसनी, उत्तेजना और अतिशयोक्ति अमेरिकी पत्रकारिता के तीन प्रमुख स्तम्भ हैं। सत्य भी कभी-कभी सनसनीखेज और उत्तेजनात्मक होता है। ऐसी स्थिति में वह पाठकों को विशेष रूप से आकृष्ट करता है। इसी आकर्षण को लेकर आज समाचारों को खामखाह सनसनीखेज और उत्तेजनात्मक बनाने की प्रवृत्ति चल पड़ी है। परिणाम यह होता है कि सत्य को असत्य के रूप में और असत्य को सत्य के रूप में चित्रित किया जाने लगता है। अंग्रेजी में इसी तरह की पत्रकारिता को 'यलो जर्नलिज्म' कहते हैं। 'यलो जर्नलिज्म' का प्रमुख गढ़ आज अमेरिका ही माना गया है। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इसी स्थिति से क्षुब्ध होकर कहा था—"सच्ची बात को दबा देने के काम से लेकर झूठी बातों का सुझाव

देने के काम तक, जितने तरह का झूठ मनुष्य जानता है, वे सब अमेरिकी पत्रों में अभिव्यक्त होते दिखलायी देते हैं। ऐसा निरन्तर हो रहा है—आदतन और व्यावसायिक व्यवहार के रूप में।" (—जेम्स एडवर्ड राजर्स लिखित 'दि अमेरिकन न्यूज़पेपर्स' की भूमिका से)।

जेम्स एडवर्ड रॉजर्स ने अपनी पुस्तक में लेखक चार्ल्स ह्विबले, अमेरिका के 'लेसली वीक' के सम्पादक जॉन ए० स्लीचर और फ्रैंक मूंजे के भी कथन उद्धृत किये हैं। चार्ल्स ह्विबले का कहना है कि न्यूयार्क से प्रशान्त तट तक पढ़े जाने वाले समाचारपत्रों से संसार का कोई सभ्य देश सन्तुष्ट नहीं है। स्लीचर लिखते हैं—"मेरा विश्वास है कि इस देश के समाचारपत्र ५० वर्ष पूर्व जितने सही थे उतने आज नहीं हैं" फ्रैंक मूंजे ने रविवासरीय पत्रों की विशेष चर्चा करते हुए कहा है—"पन्द्रह वर्षों से किसी नयी बात का पता नहीं लगा है। इन पन्द्रह वर्षों में हम नक़ल की नकल करते आ रहे हैं। आप जो कुछ कह सकते हैं वह यही है कि कुछ तो बहुत बुरे हैं।" अन्त में रॉजर्स ने स्वयं लिखा है—"इस विषय का मेरा अध्ययन मुझे जिस निष्कर्ष पर ले आया है वह यही है कि अमेरिकी पत्रों की प्रकृति तत्वतः सनसनी पैदा करने वाली और व्यावसायिक है। मानवीय विचारों के सांस्कृतिक पहलुओं को तो गौण स्थान दिया जाता है और परिणामस्वरूप समाज की नैतिकता पर जो प्रभाव पड़ता है वह सनसनी के प्रति अनुराग और विशुद्ध भौतिक पदार्थों में दिलचस्पी की दिशा में ले जाता है।"

क्या भ्रष्टता और अनैतिकता का प्रचार ही लोकतन्त्र की सेवा है? जब पत्रों में काम करने वाले पत्रकार इस प्रकार की भ्रष्टता और अनैतिकता से स्वतन्त्र न हों तो उनसे व्यापक स्वतन्त्रता की आशा कैसे की जा सकती है? फिर, अमेरिका में हो या ब्रिटेन में, कौन-सा ऐसा पत्र है जो अपने संचालकों की मर्जी के ख़िलाफ़ कोई जनहित की बात उठा सकता हो, किसी न किसी दल के नियन्त्रण या प्रभाव में न हो, सरकार और विज्ञापनदाताओं के विचारों का ख्याल न रखता हो? कुछ बातों को दृष्टि में रखते हुए हम ब्रिटेन के 'टाइम्स' और 'गार्जियन' को भी पूर्ण स्वतन्त्र नहीं मान सकते। अनेक अवसरों पर वे भी अपनी राष्ट्रीय संकीर्णता में कैद हो जाते हैं। सच पूछिए तो ये भी एक हद तक साम्राज्य-पोषक ही रहे।

भारत में स्वतन्त्रता-आन्दोलन के समय पत्रकारिता का जो चरित्र था, उसमें कुछ ऐसे प्रबल तत्व जरूर थे, जिनकी वजह से इतनी क्षीणता तो नहीं आयी है जितनी ब्रिटेन अमेरिका और अन्य देशों में आ गयी थी। किन्तु

स्वतन्त्रता के कुछ ही वर्षों बाद क्षीणता के लक्षण बहुत कुछ दिखलायी देने लगे । व्यवसायवाद इसे और भद्दा बनाता जा रहा है । सी० एल० आर० शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'जर्नलिज्म' में एक स्थान पर ठीक ही कहा है कि "बड़े-बड़े व्यवसायियों के सम्पर्क में कोई भी चीज आयी कि उसका पतन हुआ । पत्रकारिता का भी पतन उसी ने किया है ।' शास्त्री की यह उक्ति उनके हृदय की गहराई से निकली एक बहुमूल्य अनुभूति है, जो आसन्न संकट का स्पष्ट संकेत कर रही है । भारत में एकाधिक पत्र ऐसे हैं, जिन्होंने 'प्रगतिशीलता' का और जब-तब सत्ता के कुछ व्यक्तियों का पल्ला पकड़ते रह कर सामान्य पाठकों की विस्मरणशीलता का लाभ उठा कर या अपनी विशेष रूप से अर्जित एक 'कला' द्वारा पाठकों को विस्मरणशील बना कर रंग बदलते हुए भी, ऐसा सिक्का जमा लिया कि लोग उन्हें लोकप्रिय भी मान बैठे हैं । किन्तु यदि दो-चार तर्कप्रवण पत्रकार 'एक आयोग के रूप में', इन पत्रों की किन्हीं ४-५ वर्षों की या २-३ वर्षों की ही फाइल लेकर विश्लेषण में लग जायँ तो वे यह सिद्ध कर देंगे कि "इन पत्रों का न प्रगतिशीलता से सम्बन्ध है और न जनकल्याण से; यदि किसी चीज से सम्बन्ध है तो बस 'ब्लैकमेल' से और 'ब्लैकमेल' के लिए प्रगतिशीलता का उपयोग करने तथा प्रगतिशीलताविरोधी वास्तविक प्रकृति पर परदा डालने की कला से ।"

इस शताब्दी के तीसरे दशक में ही गणेशशंकर विद्यार्थी ने कहा था :— "मैं यह धृष्टता तो नहीं कर सकता कि कहूँ कि संसार के अन्य बड़े पत्र ग़लत रास्ते पर जा रहे हैं और उनका अनुकरण नहीं होना चाहिए, किन्तु मेरी धारणा यह अवश्य है कि संसार के अधिकांश समाचारपत्र पैसे कमाने और झूठ को सच और सच को झूठ सिद्ध करने के काम में उतने ही लगे हुए हैं जितने कि संसार के बहुत-से चरित्रशून्य व्यक्ति । अधिकांश बड़े समाचारपत्र धनी-मानी लोगों द्वारा संचालित होते हैं । इसी प्रकार के संचालन या दल-विशेष की प्रेरणा से उनका निकलना सम्भव है । अपने संचालकों या अपने दल के विरुद्ध सत्य बात कहना तो बहुत दूर की वस्तु रही, उनके पक्ष-समर्थन के लिए वे हर तरह के हथकण्डों से काम लेना [illegible] कर्तव्य का आवश्यक [illegible]म समझते हैं । इस काम में तो वे इस बात का विचार रखना आवश्यक नहीं समझते कि सत्य क्या है ? सत्य उनके लिए ग्रहण करने की वस्तु नहीं है, वे तो अपने मतलब की बात चाहते हैं । संसार भर में यह हो रहा है इने गिने पत्रों को छोड़ कर सभी पत्र ऐसा कर रहे हैं जिन

लोगों ने पत्रकारिता को अपना काम बना रखा है, उनमें बहुत कम ऐसे लोग हैं जो अपने चित्त को इस बात पर विचार करने का कष्ट उठाने का अवसर देते हों कि हमें सचाई की भी लाज रखनी चाहिए, केवल अपनी मक्खन-रोटी के लिए दिन भर में कई रंग बदलना ठीक नहीं। इस देश में भी दुर्भाग्य से समाचारपत्रों और पत्रकारो के लिए यही मार्ग बनता जा रहा है। हिन्दी-पत्रों के सामने भी यही मार्ग बनता जा रहा है।···यहाँ भी अब बहुत से समाचार-पत्र सर्व-साधारण के कल्याण के लिए नहीं रहे, सर्वसाधारण उनके प्रयोग की वस्तु बनते जा रहे हैं।···आपके पास जबर्दस्त विचार हों, और पैसा न हो और पैसे वालों का बल न हो, तो आपके विचार आगे न फैल सकेंगे, आपका पत्र न चल सकेगा। इस देश में भी समाचारपत्रों का आधार धन हो रहा है। धन से ही वे निकलते हैं, धन ही के आधार पर वे चलते हैं और बड़ी वेदना के साथ कहना पड़ता है कि उनमें काम करने वाले बहुत-से पत्रकार भी धन की ही अभ्यर्थना करते हैं। अभी यहाँ पूरा अंधकार नहीं हुआ है; किन्तु लक्षण वैसे ही हैं। कुछ ही समय पश्चात् यहाँ के समाचारपत्र भी मशीन के सदृश हो जायेंगे और उनमें काम करने वाले पत्रकार केवल मशीन के पुर्जे। व्यक्तित्व न रहेगा, सत्य और असत्य का अन्तर न रहेगा, अन्याय के विरुद्ध डट जाने और न्याय के लिए आफ़तों को बुलाने की चाह न रहेगी, रह जायगा केवल खिंची हुई लकीर पर चलना। मैं तो उस अवस्था को अच्छी नहीं कह सकता। ऐसे बड़े होने की अपेक्षा छोटे, और छोटे से भी छोटे, किन्तु कुछ सिद्धान्तों वाले होना कहीं अच्छा। पत्रकार कैसा हो, इस सम्बन्ध में दो रायें हैं—एक तो यह कि 'उसे सत्य या असत्य' न्याय या अन्याय के झगड़े में नहीं पड़ना चाहिए। एक पत्र में वह नरम बात कहे तो दूसरे में बिना हिचक गरम कह सकता है, जैसा वातावरण देखे वैसा करे। अपने लिखने की शक्ति से हट कर पैसे कमाये, धर्म और अधर्म के झगड़े में न अपना समय खर्च करे और न अपना दिमाग ही।' दूसरी राय यह है कि 'पत्रकार की समाज के प्रति बड़ी जिम्मेदारी है, वह अपने विवेक के अनुसार अपने पाठकों को ठीक मार्ग पर ले जाता है, वह जो कुछ लिखे, प्रमाण और परिणाम का विचार रख कर लिखे और अपनी गति-मति में सदैव शुद्ध और विवेकशील रहे। पैसा कमाना उसका ध्येय नहीं है, लोकसेवा उसका ध्येय है और अपने काम से जो पैसा वह कमाता है, वह ध्येय तक पहुँचाने के लिए एक साधनमात्र है। संसार के पत्रकारों में दोनों तरह के आदमी हैं। पहले दूसरी तरह के पत्रकार अधिक थे, अब इस उन्नति

के युग में, पहली तरह के। उन्नति समाचारपत्रों के आकार-प्रकार में हुई है, खेद की बात है कि उन्नति आचरणों की नहीं हुई है......।"

दूरदर्शी और भविष्यद्द्रष्टा पत्रकार गणेशशंकर विद्यार्थी को यह बात कहे आज चार दशक से अधिक हो गये। तब से अबतक अपने देश में पत्रकारिता का हाल क्या-से-क्या हो गया है, यह पत्रकार ही नहीं, समाचारपत्र के पुराने पाठक भी देख रहे हैं। पत्रकारिता में आदर्श की बात अब अव्यावहारिकता और मूर्खता मानी जाने लगी है।

विचारों में न सही, समाचारों में ही अगर आदर्श बचा रहे तो क्या यही कुछ कम है? यहाँ भी हम 'आदर्श के लिए आदर्श' की बात छोड़ देते हैं तो फिर क्या व्यावसायिक दृष्टि से भी समाचारों के सम्बन्ध में ईमानदारी जरूरी नहीं है? क्या पत्रसंचालकों के लिए यह बात गौर करने की नहीं है कि ज्यों ही जनता को यह सन्देह होने लगता है कि सचाई छिपायी जाती है या समाचारों को जानबूझ कर गलत रूप में प्रकाशित किया जाता है, वह पत्रों पर अविश्वास करने लगती है और फिर उनकी बिक्री भी कम हो जाती है? किन्तु प्रचारप्रिय संचालक इस पर गौर करना शायद इसलिए जरूरी नहीं समझता कि उसे विश्वास है कि जनता उसके झूठ के जाल में फँस जाने के बाद उससे निकल नहीं सकती। अतः समाचारों के मामले में भी अब आदर्श की रक्षा होती नहीं दिखलायी देती। समाचारों में जैसी मिलावट शुरू हो गयी है वह जनकल्याण की दृष्टि से और लोकतन्त्र की दृष्टि से बड़ी भयावह है। लार्ड इनवर क्लाइड ने समाचारों के सम्बन्ध में लिखा है: "पत्रों में किसी-न-किसी तरह के प्रचार का बाहुल्य ही दिखलायी देता है और यह प्रचार इस तरह किया जाता है कि केवल बहुत होशियार पाठक ही उसके जाल में पड़ने से बच सकता है। भ्रामक शीर्षक, बिगाड़ कर रखे गये उद्धरण, पक्षपातपूर्ण भावानुवाद, भाषणों के अंशों की काट-छाँट, भाषणों के कुछ अंशों पर मोटे-मोटे शीर्षकों द्वारा अत्यधिक जोर—ये सारी बातें समाचार के बजाय विचार-नीति का परिणाम मालूम पड़ती हैं।"

किसी समय पत्रकारिता में समाचार की पवित्रता को बनाये रखना सबसे बड़ा धर्म बतलाया गया था; किन्तु आज समाचार के साथ व्यभिचार करना ही जैसे पत्रकारिता की कला, उसका सिद्धान्त और दर्शन मान लिया गया है। विशुद्ध और निष्पक्ष समाचार तो दुर्लभ हो रहे हैं। किन्तु, क्या इस स्थिति पर आँसू बहाने वाला भी कोई है?

विचारों के प्रश्न पर समाचारपत्रों से किसी का कोई विशेष झगड़ा नहीं हो सकता; किन्तु समाचारों के बारे में अनाचार को समझदार पाठक बहुत दिनों तक बर्दाश्त नहीं कर सकते। प्रचार-कला में पत्र और पत्रकार कितने ही निपुण क्यों न हो जायँ, एक-न-एक दिन क़लई खुलना निश्चित है। कुछ ऐसे तथ्य होते हैं जिन्हें प्रचार से छिपाया नहीं जा सकता। किन्तु, ऐसा जब होगा तब होगा, अभी तो पत्र को या पत्रकार को जो करना है, कर ही ले जाता है। वह मिलावट कर ही देता है, साधारण समाचार को किसी-न-किसी तरह कुछ रंग दे ही देता है, काट-छाँट करने और भ्रामक शीर्षक या प्रचारात्मक शीर्षक देने से उसे कौन और कहाँ तक रोक सकता है। यदि कोई पत्रकार सनसनी के बजाय रोचकता लाने, उन्माद की जगह प्रभावात्मकता लाने, लोगों को हठधर्मी बनाने के बजाय विश्वास दिलाने की कला और क्षमता रखता भी हो तो उसकी इस कला और क्षमता का उपयोग इसलिए नहीं हो पाता कि, अधिकांशतः ऐसे ही लोगों का प्राबल्य हो गया है, जो जानबूझ कर या पत्रसंचालकों को अपनी बुद्धि समर्पित कर देने के कारण कोई प्रेरणा नहीं ले पाते, कुछ सीखने के लिए तैयार नहीं होते! आज यह सुनने और समझने के लिए कितने पत्रकार तैयार हैं कि कम-से-कम समाचारों पर तो पत्र की नीति का या पत्रकार के अपने विचार का रंग नहीं चढ़ना चाहिए। समाचारों के बारे में जार्ज बर्नार्ड शा ने कहा है कि पत्रकार का पेशा राजनीतिक दर्शन से नहीं, समाचार से सम्बद्ध है। प्रसिद्ध पत्रकार डीफ़ो के अनुसार, समाचार मानव-समाज का पोषक-तत्त्व और अवलम्ब है। ब्रिटेन के 'टाइम्स' पत्र ने समाचार के सम्बन्ध में लिखा था : "समाचार ईमानदारी के साथ बिना काटे-छांटे और मानव-स्वभाव के निकृष्टतम पक्ष को छोड़ते हुए देना चाहिए। समाचार में रोचकता हो, किन्तु सनसनी नहीं, प्रभावात्मकता हो, किन्तु उन्माद नहीं; उसमें लोगों को विश्वास दिलाने की शक्ति हो, किन्तु हठधर्मी बनाने की नहीं; समाचार-सम्पादन में गम्भीरता हो, किन्तु नीरसता नहीं।"

'डेली टेलीग्राफ़' ने भी, जिसे आदर्शवादी पत्र मानने में संकोच होता है, कभी कहा था कि 'समाचार निष्पक्ष भाव से बिना तोड़े-मरोड़े प्रस्तुत करना चाहिए।' किसी सार्वजनिक प्रश्न पर किसी पत्र की कोई निश्चित नीति भले हो, किन्तु उसके सम्बन्ध में अगर कोई समाचार पत्र में प्रकाशित हो रहा हो तो उस पर पत्र की नीति का रंग चढ़ाना अपराध है। पत्र की नीति के अलावा पत्रकार का निजी विचार भी अक्सर समाचार पर अपना रंग चढ़ाता रहता है।

समाचार प्रस्तुत करते समय उसे यदि संचालक के विचार के प्रभाव से बचाना सम्भव न हो तो कम से कम अपने विचार के प्रभाव से बचाना तो पत्रकार के हाथ की बात है ही। जहाँ पत्रकार अपने निजी विचार का रंग चढ़ाने की कोशिश करता है, वहाँ तो उसी को दोषी माना जायेगा, न कि मालिक को। विख्यात ब्रिटिश पत्रकार सी० पी० स्कॉट ने जो बात कही थी उसके प्रकाश में अगर हम समाचारों के विषय में आज एक-एक पत्र की जाँच करें तो शायद एक भी पत्र आदर्श की कसौटी पर खरा नहीं उतरेगा। उन्होंने कहा था : "पत्र पार्टी के प्रचार-यन्त्र से कुछ बड़ी चीज़ है। उसका सम्पूर्ण जनता के प्रति एक कर्त्तव्य होता है। उसे एक सार्वजनिक संस्था की-सी वस्तु होना चाहिए। हर पक्ष को यह अधिकार है कि उसकी बात सुनी जाय और उसका समाचार प्रकाशित हो। पत्र को एक राजनीतिक संस्था से बड़ी चीज होना चाहिए ... उसे सारे समाज की सेवा करनी चाहिए। उसका पहला कार्य है समाचार लेना, और सारे समाचार देना। किसी भी हालत में समाचारों की छँटनी या उनमें उलट-फेर नहीं होना चाहिए और न उसे रंजित करना चाहिए। तथ्य पवित्र होते हैं और किसी पत्र के लिए अपनी अभिव्यक्ति के अधिकार का और प्रकाशन का उपयोग प्रचार के साधन के रूप में करना एक अभिशाप है।"

एक स्वतन्त्रताप्रेमी पत्रकार की सबसे बड़ी मुसीबत यह है कि क़लम उसकी है, कालम (पत्र के स्तम्भ) किसी और के। पत्र कुछ खास व्यक्तियों या दलों के हाथ में हैं और पत्रकार उसमें वेतन पाने वाला एक कर्मचारी मात्र रह गया है। यहीं यह स्पष्ट हो जाता है कि पत्रकारिता का आदर्श की लीक पर चलना सम्भव नहीं। जब हम देखते हैं कि कुछ पत्र पूँजीवादियों के हाथ में हैं, कुछ पर पार्टियों का अधिकार है, कुछ किसी पार्टी के गुट-विशेष से प्रभावित हैं, कुछ की नीति सरकार और विज्ञापनदाताओं के नाराज होने के भय से इधर-उधर नहीं हो पाती और कुछ केवल सनसनी, उत्तेजना और मनुष्य की हीन प्रवृत्तियों का स्पर्श लेकर निकलते हैं तो समझ में नहीं आता कि पत्र का, पत्रकार का और पत्रकारिता का कोई एक सामान्य आदर्श, एक धर्म और एक स्वरूप कैसे माना जाय ! आज भी हम पत्रों को 'चतुर्थ सत्ता' का नाम देते आ रहे हैं; किन्तु यह 'चतुर्थ सत्ता' तो अपने में ही विभाजित है और कोई उसकी टाँग पकड़ कर इधर खींचता है तो कोई हाथ पकड़ कर उधर। ऐसी सत्ता को सर्वसाधारण की एक ठोस और केन्द्रित सत्ता कैसे माना जाय ? अपनी इस दुर्दशा में सम्पूर्ण जनता पर अपना एक-छत्र प्रभाव डालने में वह भला कैसे समर्थ

हो सकती है ? जब साधारण जनता की आवश्यकताएँ और समस्याएँ सामान्य हों और उसका हित मूलतः एक हो, तब यह विभाजित सत्ता क्या उसका पथप्रदर्शन कर सकती है ?

वस्तुतः 'चतुर्थ सत्ता' 'शब्द या इसी तरह के अन्य शब्द भाषणों और लेखों में इस्तेमाल करने के लिए या, अधिक से अधिक, पत्रकार को जब-तब कुछ आत्मतुष्ट कर देने के लिए बच रहे हैं। पण्डित कमलापति त्रिपाठी की 'पत्र और पत्रकार' नामक पुस्तक से उद्धृत निम्नलिखित उद्‌गार आत्मतुष्टि की ही भावुकतापूर्ण अभिव्यक्ति है—"साधक के लिए साधना का, त्यागी के लिए उत्सर्ग का, तपस्वी के लिए कष्ट-सहन तथा अनासक्ति का, योद्धा के लिए संघर्ष और रण का, कवि के लिए अनुभूति की अभिव्यक्ति का, कलाकार के लिए संसृति के गूढ़ और रहस्यमय चित्रों के चित्रण करने का, आलोचक के लिए जीवन की स्थूल और सूक्ष्म धारा के विवेचन का, साहित्य के लिए लौकिक और अलौकिक, यथार्थ और भावुक जगत को प्रकाश में लाने का पथ एक साथ ही उपस्थित करने में सिवा पत्रकारिता के आज कौन समर्थ है ? ज्ञान और विज्ञान, दर्शन और साहित्य, कला और कारीगरी, राजनीति और अर्थनीति, समाजशास्त्र और इतिहास, संघर्ष और क्रान्ति, उत्थान और पतन, निर्माण और विनाश, प्रगति और दुर्गति के छोटे-बड़े प्रवाहों को प्रतिबिम्बित करने में पत्रकारिता के समान दूसरा कौन सफल होता है ? जीवन, समाज, संस्कृति और विश्व का उत्कृष्ट दर्पण बनने में पत्रकार-कला के समान आज दूसरा कौन है ? अन्याय का प्रतिरोध करने में, नवविचारों और कल्पनाओं का वाहन बनने में, नवरचना के संदेश का अग्रदूत होने में तथा अन्ततः जीवन-सागर में उठने वाली अहरियों, हिलोरों, तरंगों तथा तूफानों का प्रतिनिधित्व करने में पत्रकार-कला की सजीव प्रतिमा के रूप में आधुनिक पत्र अपनी सानी नहीं रखते। यही कारण है कि व्यापक मानव-समाज पर उसका अभूतपूर्व प्रभाव है।"

है क्या आज कोई 'पत्रकार जो अपने हृदय पर हाथ रख कर कह सके कि वह दमन, उत्पीड़न और शोषण के अन्त के लिए या राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रोत्थान, देशप्रेम या सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष कर रहा हो, जो 'साधक के लिए साधना का, त्यागी के लिए उत्सर्ग का, तपस्वी के लिए कष्ट-सहन तथा अनासक्ति का, योद्धा के लिए संघर्ष और रण का...' पथ उपस्थित करता हो, जो 'जीवन, समाज, संस्कृति और विश्व का उत्कृष्ट दर्पण हो, जो अन्याय का

प्रतिरोध करने वाला नव विचारों और कल्पनाओं का वाहक हो ? इन प्रश्नों का उत्तर हमें त्रिपाठीजी के भावुक उद्गार की अपेक्षा विद्यार्थीजी की यथार्थ-वादी विश्लेषणात्मक दृष्टि में ही मिलता है और इस सत्य को हमें आन्तरिक व्यथा के साथ स्वीकार करना पड़ता है। स्वयं कमलापतिजी ने अपने से अवश्य पूछा होगा कि उनका पत्रकार उनके राजनीतिक व्यक्तित्व से कब, कहाँ और कितना ऊपर उठ सका ? क्या पण्डितजी के मन ने यह काबूल किया होगा कि अपने भावुक उद्गारों के अनुसार प्रथमतः अपने को पत्रकार के ही रूप में प्रस्तुत करने में उन्हें जितना सन्तोष और आनन्द मिला उससे अधिक सन्तोष और आनन्द शासक बनने में नहीं मिला ? यदि पण्डितजी को अपना पत्रकार अधिक प्रिय होता, अधिक ऊँचा दिखलायी देता, अपने उपर्युक्त शब्दों के अनुसार सचमुच एक साथ सभी क्षेत्रों का नियन्ता दिखलायी देता तो वह शासक बनने के बजाय शासकों के पथप्रदर्शक बन कर यह दिखला देते कि पत्रकार शासकों का शासक है, उसे स्वयं शासक बनने की कोई जरूरत नहीं, कोई आकांक्षा नहीं। अपने हिन्दी-क्षेत्र के ही एक-एक पत्रकार से मिल कर यदि उन्होंने उसकी आर्थिक एवं बौद्धिक विपन्नता और दासता का नये सिरे से मूल्यांकन किया होता तो वे स्वयं स्वीकार कर लेते कि उनके ये शब्द कितने व्यर्थ हैं या हो गये हैं।

पत्र से पत्रकारिता का जन्म होने पर जब इसे एक कला की संज्ञा मिली और साथ ही इसने एक विज्ञान का भी रूप धारण किया, तब इसका अपना एक आदर्श जरूर निश्चित हुआ और पत्रकारिता तथा पत्रकार का महत्त्व और स्थान भी बढ़ा। उस समय यदि पत्रों को लोकमत के संरक्षक, सहायक तथा पथप्रदर्शक के रूप में एक नयी शक्ति माना गया तो यह उचित ही था, क्योंकि उस समय सर्वसाधारणविरोधी सामन्ती समाज-व्यवस्था के विरुद्ध एक प्रगतिशील भूमिका के साथ उदित औद्योगिक समाज-व्यवस्था का नेतृत्व करने वाला जो वर्ग इन पत्रों के संचालन में दिलचस्पी ले रहा था, उसका आम जनता से और पत्रकारों से कोई टकराव शुरू नहीं हुआ था, बल्कि तीनों में काफी हद तक एकता थी। चूँकि सामन्तवाद से आम जनता तथा उदीयमान पूँजीपति-वर्ग, दोनों का विरोध था; अतः पत्रकार के सामने यह समस्या नहीं आयी थी कि वह आम जनता को देखे या पत्र-स्वामी को। उदीयमान पूँजीपति-वर्ग को एक ऐसे बुद्धिजीवी-वर्ग की आवश्यकता थी जो सामन्ती-व्यवस्था से अप्रभावित रह कर उसके दोषों को देख सकता, उसकी आलोचना में अपनी सारी बौद्धिक

क्षमता लगा सकता। इस आवश्यकता ने ही औद्योगिक व्यवस्था के संचालकों को बाध्य किया कि वे पत्रकार को विशेष सम्मान दें और पत्रकारिता को आदर्शोन्मुख होने में सहायता दें।

किन्तु, यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं चल सकी, क्योंकि अन्ततः औद्योगिक व्यवस्था में आ रहे विकारों के कारण विपुल लोकमत से इसका संघर्ष अनिवार्य हो गया। पत्रकार के सामने एक नयी समस्या आ गयी—वह औद्योगिक व्यवस्था के पोषक अपने पत्रसंचालकों का पक्ष ले या उसके विरुद्ध उठ रही लोकभावना का। पत्रकार के सामने यह प्रश्न जटिलतम रूप में प्रस्तुत हुआ कि पत्र और पत्रकारिता को 'चतुर्थ सत्ता' का आसन प्रदान करने वाले जिस आदर्श और दायित्व की नींव पड़ी, उनका निर्वाह कैसे किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने में पत्रकार ऐसा उलझता गया कि अन्त में यह प्रश्न ही दिमाग से निकल गया, और 'विशाल मानव-परिवार की एकता' यानी 'विश्व-बन्धुत्व' तथा 'सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के सुधार' के प्रयत्न के रूप में ही जनसेवा तथा विश्व-शान्ति (युद्धमुक्त विश्व) की उसकी सारी कल्पनाएँ विलुप्त हो गयीं। पत्र-स्वामी के व्यक्तिगत या वर्गगत हित क्या हो सकते हैं, उनकी रक्षा किस बुद्धि-कौशल से की जा सकती है और उनके विरुद्ध उठने वाली आवाज को कैसे दबाया जा सकता है ....आदि प्रश्नों की उपेक्षा करके पत्रकार बने रहना जब कठिन हो गया तो फिर पत्रकारिता के सर्वकल्याण-कारी आदर्श के लिए जगह कहाँ रह गयी ? कहने के लिए कलम अपनी जरूर रह गयी; किन्तु कालम अपना नहीं रह सका। जब कालम अपना नहीं रह सका और पत्रस्वामी के व्यक्तिगत अथवा वर्गगत हितों की रक्षा करना तथा उनके विरुद्ध उठने वाली आवाज को दबाना ही व्यावहारिकता हो गयी तब भला विलियम लेविस, जे० बी० मेकी जैसे पत्रकारों के आदर्श-वचनों के अनुसार, संकीर्णताओं के परित्याग, अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम हित तथा अपने ऊँचे आदर्शों एवं लक्ष्यों के प्रति निष्ठा की बात सोची भी कैसे जा सकती ?

'उच्च पद' तथा धन के 'प्रलोभन' से मुक्त रहकर उच्च पद तथा धन के प्रति पक्षपात न करने और जरूरत पड़ने पर आम जनता के हित में कलम की जगह तलवार उठा लेने वाले पत्रकार आज यदि हैं तो कितने हैं और कहाँ हैं ? जिन पत्रकारों को मोटी-मोटी (हजारों रुपयों की) तनख्वाहें मिल रही

हों और साथ ही बड़े और सुसभ्य कहे जाने वाले लोगों के बीच 'सम्मान' भी मिल रहा हो वे इस वेतन और सम्मान का त्याग करके सर्वजनहितैषी विचारक-पत्रकार कैसे बन सकते हैं ? यदि कोई मोटी तनख्वाह पाने वाला तथा बड़े लोगों के बीच सम्मान अर्जित करने वाला पत्रकार यह सोचता हो कि आर्थिक लाभ तथा सम्मान की इस स्थिति में रहते हुए भी वह सर्वसाधारण के हितों के पक्ष में, और अपने पत्रस्वामी के व्यक्तिगत अथवा वर्गगत सामाजिक हित के विरुद्ध आवाज उठा सकता है तो यह दिवास्वप्न ही कहा जायगा। वास्तविकता यह है कि जनहित के मामले में मोटी तनख्वाह वाले पत्रकारो की बुद्धि भी सामान्यतः मोटी हो जाती है। क्या ये पत्रकार अपने नियोजकों को, जे० बी० मेकी के शब्दों में, इतना भी समझा सकते हैं कि "जो पत्रसंचालक सफलता के रहस्य को समझते हैं और जो अपने कब्जे की सम्पत्ति के मूल्यों को बनाये रखना और बढ़ाना चाहते हैं वे यह अनुभव करते है, कि वास्तविक समृद्धि सचाई के प्रयत्न में लगी शक्तियों के साथ मिल कर ही हो सकती है ?" यह समझाने के बाद क्या वे अपने बारे में भी यह सोच सकते हैं कि वे सचाई मे लगी सर्वहितकारिणी शक्तियों के साथ मिल सकते हैं और मिल कर अपनी वास्तविक समृद्धि कर सकते हैं ?

युद्ध, हिंसा और अपराधों के प्रश्न पर एक सम्यक् और व्यापक आदर्शवादी दृष्टिकोण से, यानी पत्र द्वारा समर्थित शासकों, व्यक्तियों तथा दलों का जो एक राजनीतिक दृष्टिकोण होता है, उससे कोई भिन्न दृष्टिकोण रख कर, सोचने-समझने वालों और सम्पूर्ण सामाजिकता का विश्लेषण करने वालों की संख्या आज नगण्य हो गयी है। शासकों के विरुद्ध शासितों की तथा शासनेच्छु की हिंसा के साथ ही शासकों की हिंसा और हिंसा-यन्त्र को भी देखने की जो दलो वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त होनी चाहिए उसका तो सर्वथा अभाव दिखलायी देता है। हिंसा और युद्ध से मुक्त विश्व की कल्पना को, स्वप्न को, साकार बनाना सम्भव है या नहीं, यदि सम्भव है तो कैसे और यदि असम्भव है तो क्यों— आदि प्रश्न पत्रकार के मन और मस्तिष्क को अपने ढंग से उद्वेलित नहीं कर सक रहे हैं। यदि कुछ पत्रकारों के मन और मस्तिष्क उद्वेलित होते भी हैं तो वे अब तक के विचारकों के विचारों से कुछ आगे नहीं बढ़ पाते।

इसी प्रकार "लोकतन्त्रात्मक राजनीतिक जीवन में पत्रकार का योगदान क्या होना चाहिए और वस्तुतः क्या है" यह भी आदर्श के अन्तर्गत एक प्रमुख

विषय है। लोकतन्त्र के विकास में पत्रकारिता का जैसा योगदान होना चाहिए था वैसा हुआ ? क्या आज पत्रकार यह कह सकता है कि लोकतन्त्र में सर्व-साधारण की ऐसी कोई आस्था पैदा की जा सकी है कि उसकी रक्षा के लिए वह आत्मोत्सर्ग करने को बराबर तैयार रहे ? जो लोग अपने हाथों से लोकतन्त्र को उत्तरोत्तर भ्रष्ट से भ्रष्टतर करते आये हैं, उनसे यह आशा भला क्या की जा सकती थी कि वे लोकतन्त्र में ऐसी कोई आस्था खड़ी कर सकेंगे ! स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़कर विलासिता में अड़ गये लोग जब ऐसी कुछ बातें कहते हों कि "हमें सैनिक शासन या तानाशाही के विचार के विरुद्ध वैसे ही लड़ना है जैसे हम अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़े थे" तब उन पर हँसी ही आती है। किन्तु यदि पत्रकार भी इन पर हँसता है तो उसे अपने ऊपर भी हँसना होगा, अपनी भी भर्त्सना करनी होगी।

जो थोड़े-से विचारवान् लोग सक्रिय राजनीति की गन्दगी से बचे हैं और लोकतन्त्र के वास्तविक अर्थ में जिन्हें स्वतन्त्रता प्रिय है, जो अपने देश के लिए लाभकारी न बन सकने वाले इस लोकतन्त्र का लाभ बाहरी शक्तियों द्वारा उठाते देख रहे हैं, वे जब यह पूछने लगे हों कि "कैसा लोकतन्त्र, किसका लोकतन्त्र, किसके द्वारा लोकतन्त्र ? और किसके लिए लोकतन्त्र ?" तो उनको जवाब देने के लिए हमारी पत्रकारिता के पास क्या है ? यदि वे हमारे पथ-प्रदर्शक होने के दावे का, हमारे आदर्श कर्त्तव्य तथा दायित्व का स्मरण दिला कर हमसे यह पूछते हैं कि लोकतन्त्र को इस स्थिति तक आने से बचाने के लिए आपने क्या किया तो हम उन्हें क्या उत्तर दे सकते हैं ? मात्र नारों में सीमित लोकतन्त्र से ऊब कर, और विधायकों तथा संसद-सदस्यों के रूप में अपना एक वर्ग बना कर तथा अपना एक न्यस्त स्वार्थ खड़ा करके बैठे करीब ५ हजार लोगों द्वारा-लोकतन्त्र की दुर्दशा होते देख कर और अन्त में जनता के हितों के नाम पर हर जगह आन्दोलन और उपद्रव खड़े करके केवल अपने-अपने दल को शक्तिशाली बनाने के प्रयासों की समीक्षा करके यदि कोई भला और विचारशील आदमी निराशा में यह कहता हो कि "एक बार सैनिक शासन का भी सुख-दुख क्यों न भोग लिया जाय" तो उसे समझाने के लिए उसकी निराशा दूर करने के लिए पत्रकार के पास क्या है ?

अखिल विश्व के पैमाने पर लोकतन्त्र की परीक्षा उसी समय कर लेनी चाहिए थी जब महान लोकतन्त्रवादी विचारक हेराल्ड लास्की ने 'लोकतन्त्र में

सकट' की ओर सभी लोकतन्त्रवादियो का ध्यान आकृष्ट किया था। इसी प्रकार लोकतन्त्र पर विचार करते समय लोकतन्त्र में अग्रणी ब्रिटेन और फ्रांस के उस लोकतन्त्र के प्रति भी आलोचनात्मक दृष्टि रखनी चाहिए थी जो अन्दर तो एक हद तक लोकतन्त्र माना जा सकता था, किन्तु बाहर वह साम्राज्यवाद का पोषक ही सिद्ध हुआ। जहाँ तक पत्रकार का सम्बन्ध है, लोकतन्त्र के सामने मे उसमें एक ऐसी आत्मतुष्टि या जड़ता आ गयी कि वह कभी भी गम्भीरता-पूर्वक यह नहीं सोच सका कि पत्रकारिता के उदय-काल में और उसके बाद पत्रकार ने जिस लोकतन्त्रात्मक स्वतन्त्रता का अनुभव किया वह स्वार्जित थी या प्रदत्त थी। यदि उसने गम्भीरतापूर्वक सोचा होता तो वह सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध औद्योगिक व्यवस्था की प्रगतिशील भूमिका में समाचारपत्रों तथा पत्रकारों को मिली स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा से आगे बढ़ कर कुछ और भी सोचता। वह यह सोचता कि एक-एक सामन्त की सेवा में लगे दस-पाँच नहीं, सैकड़ो व्यक्तियों को उससे मुक्त करके एक नयी उत्पादक जनशक्ति खड़ी करने के लिए औद्योगिक वर्ग ने जिस लोकतन्त्र को जन्म दिया था (जन्म पहले ही हो चुका हो तो) विकसित किया वही अपने स्वार्थों की रक्षा में, अपनी वित्त-शक्ति का अधिकाधिक उपयोग करके अब लोकतन्त्र को कृत्रिम बना रहा है, उसके आगे के विकास का मार्ग अवरुद्ध कर रहा है, उसे जनप्रवंचना के साधन के रूप मे प्रयुक्त करने की कोशिश कर रहा है, उसे अन्दर से भ्रष्ट करके भी ऊपर से पवित्र दिखलाने में लग गया है।

लोकतन्त्र के प्रसंग में ही पत्रकारिता की, या पत्रकारिता के प्रसंग मे लोकतन्त्र की उस स्थिति को भी सामने रख लिया जाय जो 'दि न्यूज़पेपर्स' मे आइवर टामस के शब्दों में व्यक्त हुई है। जब आइवर टामस के कथनानुसार ब्रिटेन के पत्रों की स्थिति बहुत पहले ही ऐसी हो गयी हो कि 'सरकारी अधिकारी पत्रों को सलाह देते-देते आदेश देने लगे हों' तब उन पत्रों से भला यह आशा कैसे की जा सकती थी कि वे लोकतन्त्र के पथप्रदर्शक या प्रहरी रहे होंगे। जब आर० डी० ब्लूमफील्ड के शब्दों में यह कहा जाने लगा हो कि 'वे दिन लद गये जब सम्पादक ही सब कुछ था' तब ब्रिटिश पत्रों के प्रभाव की तुलना केवल 'चर्च, पार्लियामेण्ट और राजसिंहासन' से करने के दिन भी लद गये समझना चाहिए। ऐसा हो जाने पर, यानी सम्पादक के सब कुछ होने की स्थिति समाप्त होने पर, उसकी स्वतन्त्रता, उसकी लेखनी की स्वतन्त्रता, भला कैसे रह सकती थी ? इस स्थिति में भी लोकतन्त्र तथा लोकतन्त्रात्मक स्वतन्त्रता की लम्बी-चौडी

बातें करने वाले पत्रकार से कोई भी पूछ सकता है कि तुम अपनी स्वतन्त्रता पर भी तो कुछ सोचो। क्या इस पुस्तक का 'अपमान की स्थिति' शीर्षक अध्याय—पत्रकार की परवशता व पराधीनता के चित्रण से—लोकतन्त्र का ढोंग सिद्ध करने के लिए काफी नहीं है ?

आज का सम्पादक, जिसने 'विशुद्ध रूप में सिर्फ वाणिज्य से सम्बन्ध रखने वाले पत्र से ही अपनी बुद्धि, अपना मन और अपना भाग्य बाँध लिया है' वह कैसे कह सकता है कि वह गुलाम नहीं है और गुलामी में पड़ कर 'नमकहराम न होने की भावना' को सर्वोपरि समझने के कारण अपने पाठकों के प्रति और उनके माध्यम से आम जनता के प्रति बेईमानी नहीं करता और बेईमानी करते-करते बेवकूफी की बातें नहीं करने लगता ? इस स्थिति में वास्तव में धीरे-धीरे ऐसा हो जाता है कि अच्छा-से-अच्छा तर्कप्रवण सम्पादक भी अपनी तर्क-प्रवणता खोने लगता है और उसे अपने ही परस्पर-विरोधी विचारों पर ग्लानि नहीं होती। ऐसे सम्पादक शायद इने-गिने ही होंगे जिनकी तर्कप्रवणता एक विपरीत मनोवैज्ञानिक परिस्थिति में भी घिसने से बचती आ रही हो। किन्तु ये भी अपनी तर्कप्रवणता का खुलकर प्रदर्शन नहीं कर सकते और यह सोच-कर मन-ही-मन घुटते रहते हैं कि अपनी तर्कबुद्धि के साथ कैसा विश्वासघात किया जा रहा है !

आदर्श और वास्तविकता के बीच कितनी दूरी है, इसको समझने के लिए यहाँ एक उदाहरण इस प्रकार है—एक सम्पादक अपने पत्र के एक अग्रलेख में लिखता है कि "अभाव और दारिद्र्य इतनी बड़ी दुर्बलताएँ हैं कि वे सारे अपराध करने के लिए मनुष्य को सक्षम कर देती हैं। बुभुक्षु कौन-सा पाप नहीं करता और इस पाप के पाश में बँधकर आस्थाहीन हुए बिना कैसे नहीं रह सकता", किन्तु एक दूसरे अग्रलेख में वह अभाव तथा दारिद्र्य के विरुद्ध आवाज उठाने या आन्दोलन करने की निन्दा केवल इसलिए करता है कि आवाज उठाने या आन्दोलन करने का नेतृत्व कोई ऐसा दल करता है जिसे स्वयं वह या उसका मालिक पसन्द नहीं करता। कहीं अभाव तथा दारिद्र्य के विरुद्ध आवाज उठाना और आन्दोलन किया जाना उसे तर्कसंगत लगता है और कहीं ऐसा करना, पता नहीं क्यों, तर्कसंगत नहीं लगता ! इस तरह के विरोधाभास में उसकी तर्कहीनता देखी जाय, गुलामी देखी जाय, बेईमानी देखी जाय या बेवकूफी ? जब वह एक बार अपने एक अग्रलेख में किसी एक राज्य के बारे में

यह स्वीकार कर लेता है कि "अपराध की स्थिति भयावह हो रही है, चलती ट्रेनों में लूटपाट की घटनाओं के कारण तो यात्राएँ भी अत्यन्त असुरक्षित होती जा रही हैं। ....साधारणतया ये चोरबाजारी करने वाले लोग बड़े चतुर होते हैं, वे किसी-न-किसी दल के प्रभावशाली व्यक्ति को अपना संरक्षक बनाये रखते हैं और उनका स्वागत सत्कार इसलिए करते हैं कि वे समय पर काम दें। ये स्वनामधन्य नेतागण उपनगरों, नगरों और प्रान्त तक के स्तर पर इनकी रक्षा के लिए सदा तैयार रहते हैं।" तब सिर्फ उन राज्यों के पीछे हाथ धोकर पड़े रहने और उनकी सरकारों को अपदस्थ करने की माँग करने का कोई औचित्य नहीं सिद्ध किया जा सकता जिनमें कोई ऐसे दल सत्तारूढ़ हैं जिन्हें वह या उसका स्वामी पसन्द नहीं करता।

एक ओर यही सम्पादक यह विचार व्यक्त करता है कि "हमारे समाज में भ्रष्टाचार इस प्रकार घर कर गया है कि केवल चेतावनी और कड़े नियमों के माध्यम से वह दूर नहीं किया जाता" और यह सलाह देता है कि "होना यह चाहिए कि जो भी चोरबाजारी करता हुआ पकड़ा जाय उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली जाय और ऐसा कठोर दण्ड दिया जाय कि जो दूसरों के लिए उदाहरण हो।" दूसरी ओर यह सोचने के लिए तो मानो उसके दिमाग को लकवा मार जाता है कि उसका अपना स्वामी भी उन्हीं लोगों में हो सकता है जो भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, करवंचन, तथा असली और नकली खाते रखने के-से कार्यों में दक्ष हैं। जब वह सम्पादक सम्पत्ति जब्त करने तक की सलाह दे सकता है तो सर्वसाधारण के हित की दिशा में उठे राष्ट्रीयकरण के-से कदम पर वह सम्पत्ति की पवित्रता और संविधान की दुहाई क्यों और किसके हित में देने लगता है? ऐसे सवाल आने पर वह बेचारा, चाहते हुए भी, मौन भी तो नहीं रह सकता। उसके अपने स्वामी के लिए यह एक अहम सवाल होता है, जिस पर मौन रह जाने से मालिक नाराज हो सकता है। इस प्रकार यह भी एक कैसी विडम्बना और कैसा पाखण्ड है कि जिस एक सम्पादक ने जहाँ अपनी नाक के नीचे यह देखा है कि "स्वयं मालिकों की ओर से अनेक समानान्तर श्रम-संगठन कायम करके कर्मचारियों को फुसलाया जाता है और विभाजित रखा जाता है, उनमें अपने हमदर्द नेता तैयार किये जाते हैं और उनकी आर्थिक सहायता की जाती है" वहीं वह यह लिखता है—"श्रमिक एक ऐसा वर्ग है जो बालकों के बाद सरलता से फुसलाया जा सकता है। श्रमिकों के नेता श्रमिक

संघों के अनुदान पर पलते हैं और श्रमिकों को भड़काकर अनेक प्रकार के हिंसात्मक कार्य कराकर उनकी जीविका के लिए कठिनाई उत्पन्न कर देते हैं।" सम्पादक के इस कथन में दृष्टिहीनता देखी जाय या आत्म-प्रवंचना या सरासर बेईमानी ?

यह एक विडम्बना ही तो है कि व्यक्तिगत दबाव और प्रभाव में चलने वाले पत्र या पत्रकार सरकारी दबाव और प्रभाव में चलने वाले पत्रों तथा पत्रकारों की आलोचना के लिए और इसी प्रकार सरकारी दबाव और प्रभाव में चलने वाले पत्र या पत्रकार व्यक्तिगत दबाव और प्रभाव में चलने वाले पत्रों तथा पत्रकारों की आलोचना के लिए 'मुक्त' आलोचक हो जाते हैं, मानो सचमुच मुक्त हों; किन्तु अपने-अपने स्वामी का दोष-दर्शन करने की बात आते ही आँखें बन्द कर लेते हैं या मुँह फेर लेते हैं। हम पत्रकार यह कहते नहीं थकते कि लोकतन्त्र में गलतियाँ सुधारने के लिए प्रेरित करने और गलतियाँ न करने का रास्ता दिखलाने की जिम्मेदारी हम पर है, हम यह भी कहते हैं—दावे के साथ कहते हैं—कि सरकार और जनता दोनों के दोषों को बताने और सुधारने का काम हम ही करते हैं। किन्तु, प्रश्न तो यह है कि यदि हमारा पत्र सरकारी हुआ और हम 'सरकारी' पत्रकार हुए तो क्या हम जनता के दोषों के साथ ही सरकार के दोषों को निर्भीकतापूर्वक रख सकते हैं, और इसी प्रकार यदि हमारा पत्र किसी एक मालिक का हुआ और हम उसी के वेतन-भोगी सेवक हो गये तो क्या उस मालिक के दोषों की ओर संकेत में भी कुछ कहने लायक रह गये हैं। और उस समय तो बेचारा पत्रकार अपने मालिक और सरकार दोनों की आलोचना करने और दोष दिखलाने के अधिकार से वंचित हो जाता है जब मालिक का स्वार्थ सरकार के साथ और सरकार का स्वार्थ मालिक के साथ बँधा हुआ होता है।

आज हम तोते की तरह यह रटते रहते हैं कि 'जनता की, जनता द्वारा और जनता के लिए' की लोकतन्त्रात्मक परिभाषा को तभी सार्थक बनाया जा सकता है, जब सचमुच जनता को यह अधिकार हो कि वह सरकार के प्रत्येक कार्य और कदम पर नजर रखे और उसके गुण-दोष का विश्लेषण करती रहे। किन्तु, क्या हमने अपने स्वामी और उसकी बिरादरी के तमाम गुण-दोषों पर नज़र रखने की बात भी मन के किसी कोने में रख छोड़ी है? जिस पत्रकार के दिमाग़ की कीमत 'करीब चार हजार रुपये मासिक है' वह जब समाचार

पत्र को 'चतुर्थ सत्ता' बताते हुए यह भी कहता है कि 'जनता की आवाज और सरकार के संदेशवाहक होते हुए भी अखबार दोनों के नियन्त्रण से बाहर और मुक्त होने चाहिए, ताकि समाचारपत्रों की आजादी सुरक्षित रहे', तब वस्तुतः अपने मालिक की ही आजादी की सुरक्षा की बात उसके दिमाग में होती है। क्या 'जनता' की परिभाषा में अपने स्वामी को शामिल किये बिना ही वह ऐसे विचार रखता है? ऐसे पत्रकार कभी-कभी यह तो स्वीकार कर लेते हैं कि 'अपना मत सही ही होने का दावा नही किया जा सकता'; किन्तु वे शायद मन में भी यह कबूल करने के लिए तैयार नहीं होते कि अपने मालिक के कारण भी उनके मत अक्सर गलत सिद्ध होते हैं।

अस्तु, गिनाने के लिए पत्रकारिता के आदर्शों की बातें चाहे जितनी रख दी जायें, वास्तविकता यही रह गयी है कि जैसे अन्यत्र आदर्शों के गले घोंटे जा रहे हैं, वैसे ही पत्रकारिता में आदर्शों के गले घोंटे जा रहे हैं। कुछ पत्रकारों के दिलों में आदर्शों के लिए तड़पन भले ही रह गयी हो, आदर्श कहीं नही रहा। यह कथन एक चुनौती है।

'माध्यम' वर्ष १, अंक ४, १९६४ में प्रकाशित अध्याय [परिवर्धित रूप में]।

पत्रकार : व्यक्तित्व का ह्रास

वर्तमान समाज की नैतिकता, जिसे अनैतिकता ही कहना ठीक होगा, हर व्यक्ति के मन-मस्तिष्क को छूकर उसे विकृत कर रही है। फिर भला पत्रकार ही, जो प्रचार-यन्त्र का 'परिचालक' बनकर पैसा पाता है, उसके संसर्ग से अप्रभावित कैसे रह सकता है? कौन ऐसा समझदार आदमी है जो यह महसूस न कर रहा हो कि उसके पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों में वणिक-सम्बन्ध की प्रधानता होती जा रही है? मातृत्व हो या भ्रातृत्व, अपत्य-स्नेह हो या दाम्पत्य-स्नेह, सभी पर व्यावसायिक सभ्यता की काली घटा धीरे-धीरे छा रही है। इसी काली घटा के बीच बादलों की रगड़ से पैदा होने वाली बिजली की तरह एक क्षण के लिए कौंधकर पत्रकार का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वह अन्धकार को दूर करने का ढोंग रचकर आता है; किन्तु अन्धकार की भयकरता से डरकर खुद भाग जाता है। यही है उसका जीवन और इसी मे है उसके व्यक्तित्व के पतन की कहानी। व्यक्तित्व के पतन की बात आज पहले-पहल नहीं उठ रही है। बहुत पहले से, इसकी चेतावनी मिलती आ रही है। आज वह भयकरतम रूप में सामने आ गयी है।

वही व्यक्ति, जो अपने में अन्तर्निहित मानवीय विचारों के उच्चतम स्तर तक पहुँच चुका होगा, किसी भी राजनीतिक प्रणाली, समाज या राष्ट्रीय सीमा मे अपने को लौह पुरुष बनाये रख सकता है, स्वतन्त्रता के लिए लड़ सकता है, न्याय पर आधारित समाज की रचना कर सकता है और अपने देश की प्रतिष्ठा तथा प्रभाव बढ़ा सकता है। किन्तु वह उच्चतम स्तर तक तभी पहुँच सकता है जब वह वर्तमान आर्थिक सम्बन्धों के युग में अपने को एक 'पण्यवस्तु' बनने से बचा सके और काजल की कोठरी में रहते हुए बेदाग रख सके। अपने को बुद्धिवादी अथवा बुद्धजीवी मानने वाला पत्रकार भी अगर यह देखने में असमर्थ

है कि आज मनुष्य की व्यक्तिगत योग्यता किस तरह विनिमय-मूल्य में बदलती जा रही है और आदमी-आदमी के बीच धन के अलावा और कोई 'सम्बन्ध' नहीं रह गया है, तो यह कहना पड़ेगा कि वह अपने 'बुद्धिवाद' के बारे में कितना भ्रमित है। अपने व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन करने के लिए पत्रकार को यह समझना होगा कि क्या यह बात सत्य नहीं है कि सारे समाज में 'नफ़ा-नुकसान' और 'नकद लेन-देन' का जो सम्बन्ध व्याप्त हो गया है, उससे वह अछूता नहीं है ? इस प्रश्न का सही उत्तर पा लेने के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि औरों की तरह वह भी अर्थ तथा अर्थवत्ता का दास बनता जा रहा है और उसके व्यक्तित्व को ऊपर उठाने वाली सारी बातें—उदात्त विचार, निर्मल भावनाएँ, अन्तःस्थल से निकलने वाली अनुभूतियाँ और सर्व-हितकर आकांक्षाएँ—अर्थ में विलीन हो रही हैं। वह दिन दूर नहीं जब बुद्धिजीवी यह मानने को बाध्य हो जायगा कि व्यक्ति ने तो अपना व्यक्तित्व खो दिया है, किन्तु एक निर्जीव वस्तु 'पूँजी' ने व्यक्तित्व ग्रहण कर लिया है।

जब निर्जीव 'पूंजी' ने व्यक्तित्व ग्रहण कर लिया हो, जब पत्रकारिता व्यापार के रूप में बदल गयी हो, जब मैसिघम के शब्दों में, 'विशुद्ध रूप से वाणिज्य से सम्बन्ध रखने वाले पत्र समाजविरोधी हो गये हों और पत्रकारिता औद्योगिक समाज को ज्यों का त्यों बनाये रखना चाहती हो यानी यह चाहती हो कि समाज अधिकाधिक पूँजी की सत्ता के अधीन होता जाय', जब पत्रकारिता में भी रिश्वतखोरी का प्रवेश हो गया हो, जब सी० एल० आर० शास्त्री का यह कथन कि 'बड़े-बड़े व्यवसायियों के सम्पर्क में कोई चीज आयी कि उसका पतन हुआ' सही हो, और अन्त में जब इस वास्तविकता का अनुभव सर्वत्र किया जा रहा हो कि 'किसी के पास कितने ही जबर्दस्त विचार क्यो न हो किन्तु उसके पास पैसा न हो या पैसे वालों का बल न हो तो उसके विचार आगे न फैल सकेंगे' तब भला किसी पत्रकार के विशिष्ट व्यक्तित्व की रक्षा कैसे हो सकती है ?

आज 'बुद्धिवाद के प्रवाह' में बहते हुए पत्रकार और लेखक को अपनी, अपने आस-पास की और सारे समाज की वास्तविक स्थिति को देखकर किसी एकान्त क्षण में यह भी सोचना होगा कि क्या व्यक्ति अपने व्यक्तिगत प्रयास और किसी काम में अपनी व्यक्तिगत पेशक़दमी का सुफल प्राप्त कर सकता है और धन की सत्ता से समाज को मुक्त किये बिना उसकी योग्यता, प्रतिभा तथा

व्यक्तित्व का विकास सम्भव है ? इस अर्थप्रधान समाज में भी जिन पत्रकारों और लेखकों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और अधिकार सुरक्षित दिखलायी देते है, उनके जीवन में भी ऐसे अवसर बराबर आते रहते हैं जब वे अपने किसी अधिकारी की नौकरशाही प्रवृत्ति या अहं के सामने, प्रकाशक की व्यावसायिक इच्छा के सामने तथा अपने निजी लोभ के सामने ही अपने को विवश पाते हैं। ऐसे ही अवसरों पर वे वास्तविकता को देख सकते हैं और कुछ आत्म-परीक्षण कर सकते हैं। किन्तु बाहरी प्रभावों के कारण वे अपनी ही किसी एक धुन में ऐसे 'मस्त' हो जाते हैं कि अपने को ठीक से देख नहीं पाते। कैसी है यह बुद्धिवाद की विडम्बना।

व्यक्तित्व के सम्बन्ध में हम यदि इतना ही मानकर रह जाते हैं कि मनुष्य का रूप-रंग, डीलडौल, उसकी योग्यता तथा प्रतिभा ही उसके व्यक्तित्व के अंग हैं तो यह व्यक्तित्व की सिर्फ अधूरी परिभाषा होगी। वास्तव में व्यक्तित्व की पूर्णता तो है पूर्ण मानव बनने में, अर्थात् मानवीय गुणों को ग्रहण करने मे। किन्तु क्या इस 'पूर्ण मानव' को व्यावसायिक सम्बन्धों ने आच्छन्न नही कर रखा है ? हम बातें तो करते हैं विश्वबन्धुत्व की, देशभक्ति की, विश्वप्रेम, देशप्रेम और न जाने कितने तरह के प्रेम की, किन्तु क्या हमने अपने परिवारों मे ही बढ़ रहे वणिक-सम्बन्धों को, कलहपरायणता को और मुक़दमेबाजी जैसी बातों को देखकर कुछ निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है ? यदि हमने यह प्रयास नही किया है तो विश्वबन्धुत्व, राष्ट्रप्रेम आदि की बातें व्यर्थ हैं। और इसीलिए व्यक्तित्व की पूर्णता की भी बात हमारे लिए एक ऐसा प्रश्न बनकर रह जाती है जिसका कोई सन्तोषप्रद उत्तर अभी तक नहीं मिल सका है। प्राय: प्रतिदिन 'देशभक्ति', 'देशप्रेम', 'विश्वप्रेम' या 'विश्वबन्धुत्व' की बाते प्रकाशित करने वाले पत्रकार को तो इस प्रश्न का सन्तोषप्रद उत्तर ढूंढना ही होगा (यदि ढूंढना चाहे तो)।

किन्तु इसी स्थिति में एक ऐसा भी पत्रकार हुआ है जिससे शासकवर्ग के एक नेता को सन्धि करनी पड़ी थी। उस महान् पत्रकार का नाम बार्नेस है। आज से सवा सौ वर्ष पहले की बात है जब लार्ड चांसलर लार्ड लिंडहर्स्ट ने सरकार के लिए 'टाइम्स' के इस सम्पादक की मैत्री को आवश्यक समझकर उसके साथ एक मध्यस्थ द्वारा समझौतावार्ता चलायी थी। अपनी शक्ति के प्रति जागरूक इस पत्रकार ने 'अस्पष्ट घोषणा' के स्थान पर एक 'लिखित आश्वासन'

की माँग की। इस पर वैलिंगटन के ड्यूक ने एक नोट और लिंडहर्स्ट ने एक पत्र लिखा, जिन्हें सन्तोषप्रद मानकर सम्पादक ने स्वीकार किया। इन दोनों पत्रों में यह स्वीकार किया गया था कि रिफ़ार्म बिल (सुधार विधेयक) विधि-संहिता से नहीं हटाया जायगा। इस 'सन्धि' पर अन्तिम स्वीकृति के लिए बार्नेस को एक दावत में ससम्मान आमन्त्रित किया गया और वहीं उस पर अन्तिम स्वीकृति प्राप्त हुई। मन्त्रियों पर घुटने टेक देने का आरोप लगाया गया। किन्तु, एक सम्पादक ने तो अपनी सत्ता स्वीकार करवा ही ली। 'टाइम्स' के सम्पादक की यह परम्परा भी रही है कि वे राज से कोई सम्मान (पदवी या उपाधि) ग्रहण नहीं करते थे। ये ही कारण हैं जिनसे उनका व्यक्तित्व ऊँचा माना जाता रहा। पदवी या उपाधि के ही फेर में पड़े रहने वाले पत्रकार अपनी निगाह ऊपर उठाकर अपने व्यक्तित्व की ऊँचाई नाप सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति सचमुच पत्रकार है तो उसके लिए पत्रकार कहलाने से बढ़कर और कोई सम्मान नहीं हो सकता।

लोग पूछ सकते हैं कि बार्नेस का व्यक्तित्व इतना ऊँचा अपने से हो गया था या 'पत्र के संचालकों द्वारा दी गयी स्वतन्त्रता' ने ही उनके व्यक्तित्व का निर्माण किया था। इसका उत्तर 'टाइम्स' के इतिहास में ही मिल जायगा। उसमें एक स्थान पर लिखा गया है; "जब तक 'टाइम्स' के सम्पादकीय आसन पर बार्नेस की नियुक्ति नहीं हुई थी तब तक सम्पादन-कार्य को राजनीतिक व्यक्तियों तथा दलों से पूर्णतः मुक्त रखने के सिद्धान्त की आशा नहीं पैदा हुई थी। घोर संघर्ष के बाद आदर्श से ही यह सिद्धान्त ठोस बना।" बार्नेस की सिद्धान्तनिष्ठा और उनके पत्रकार-व्यक्तित्व पर ब्रिटेन के पत्रकार-समाज को—भले ही आज वह स्वयं व्यक्तित्वहीन हो रहा हो—बड़ा गर्व है। ब्रिटेन ही क्यों, समस्त विश्व ऐसे पत्रकारों पर गर्व करेगा। अगर यह भी मान लिया जाय कि बार्नेस के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने में पत्र-संचालकों का भी योगदान था तो इससे उनके व्यक्तित्व में कोई कमी नहीं आ जाती। वस्तुतः, गम्भीरतापूर्वक सोचने के बाद तो यही समझ में आता है कि इस योगदान की आवश्यकता बार्नेस की प्रेरणा से ही महसूस की गयी होगी। काश आज भी कुछ ऐसे पत्रकार निकल आते जो मालिकों को यह आवश्यकता महसूस करा सकते।

व्यक्तित्व के निर्माण में आदर्शवाद का स्थान सबसे ऊँचा है। इसी प्रकार के निर्माण म व्यक्तित्व की सहज महानता की होती

है। हम यों कह सकते हैं कि व्यक्तित्व के निर्माण में आदर्शवाद का और आदर्शवाद के निर्माण में व्यक्तित्व का परस्पर योगदान होता है। 'मैंचेस्टर गार्जियन' के सम्पादक और संचालक सी० पी० स्काट ने जन-सेवा के सर्वोच्च आदर्श से ही अपने पत्र को सारे संसार में विख्यात किया था। आज भी लोग उनका नाम बड़े आदर के साथ लेते हैं। अपने व्यक्तित्व के बल पर ही उन्होंने यह घोषणा की थी कि हमारे इस पेशे में किसी व्यक्ति का आना उसके लिए सबसे अधिक गौरव की बात है। अपने व्यक्तित्व से ही अनेक पत्रकारों ने पत्रकारिता के पेशे को इतना महान और सम्मानित बनाया था कि उसमें प्रविष्ट होने वाला व्यक्ति किसी समय ताल ठोक कर कह सकता था कि "हममें वह योग्यता है जिसके आधार पर हम उन सारी भावनाओं को एक सूत्र में पिरो सकते हैं जिनसे लोकमत का निर्माण होता है"।

ब्रिटेन में पत्रकारिता के स्वर्णयुग में बार्नेस की परम्परा में अनेक नाम आते हैं—जैसे, 'मैंचेस्टर गार्जियन' के सम्पादक सी० पी० स्काट, डब्ल्यू० टी० स्टीड, डेलो जूनियस, लैब, कावेट, कॉलरिज आदि। इन सबने पत्रकारिता को ऐसा महान पेशा बनाया था, जिसमें राजनीतिक विचारकों और साहित्य-महारथियों ने पूर्ण योगदान किया। डीलेन को तो उन्नीसवीं शताब्दी का एक निर्माता कहा जाता है। जेम्स मैकडोनल्ड की दृष्टि में पत्रकार नाम ही एक बहुत बड़ी उपाधि थी। पत्रकार के व्यक्तित्व की ऊँचाई उनके इन शब्दों में प्रकट होती है : "पत्रकारिता को मैं रणभूमि से भी कुछ अधिक बड़ी चीज समझता हूँ, यह कोई पेशा नहीं, बल्कि पेशे से कोई ऊँची चीज है। यह एक जीवन है, जिसमें मैंने अपने को स्वेच्छापूर्वक समर्पित किया।" अतः इन बातों से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जो पेशा इतना गौरव प्रदान करने वाला हो उसमें प्रविष्ट व्यक्ति का व्यक्तित्व अगर औसत दर्जे से कुछ भी ऊँचा न हो तो उसे पत्रकार कहलाने का क्या अधिकार, वह अपने पेशे की महानता को कैसे चरितार्थ कर सकता है और उसके सम्बन्ध में यह कैसे कहा जा सकता है कि 'पत्रकार का नाम ही एक बहुत बड़ी उपाधि है'?

डब्ल्यू० टी० स्टीड को अपने पेशे की महानता पर इतना गर्व था और उन्होंने सचमुच इस महानता के अनुरूप अपने व्यक्तित्व को इतना ऊँचा उठा लिया था कि उन्हें अपने बारे में यह कहते जरा भी संकोच नहीं हुआ कि 'जीवित व्यक्तियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति मैं हूँ।' कितना आत्मविश्वास

है इस वाक्य में ? वास्तव में इसमें सम्पूर्ण आदर्शवादी पत्रकार-वर्ग का व्यक्तित्व बोल रहा है। उन्होंने यह बात उस समय कही थी जब वे हॉलोवे जेल में बन्द थे। जान मार्ले एक दिन उनसे मुलाकात करने जेल में गये हुए थे। उनसे बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा : "आज सुबह जब मैं जेल के आँगन में व्यायाम कर रहा था, मैंने अपने से पूछा, 'आज जीवित व्यक्तियों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति कौन है ?' मुझे केवल यही उत्तर मिला कि 'इस जेल का 'यह' बन्दी।' वास्तव में स्टीड ऐसे ही व्यक्ति थे। तभी तो जे० एल० गारविन ने उनके बारे में कहा था कि मैं स्टीड को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का एकमात्र व्यक्ति और नयी पत्रकारिता का नेता मानता हूँ। स्टीड की ही तरह डेनियल डेफो और विल्कीज ने भी अपने आदर्शपूर्ण पत्रकार-चरित्र के लिए जेल-यात्रा की थी—उस देश में रहकर जहाँ लोगों का जीवन साधारणतः स्वतन्त्रतापूर्वक और आराम से चलता माना गया है। स्वदेश में रहकर सम्राट के भी भाषण की आलोचना करने का साहस करने वाले पहले व्यक्ति विल्कीज ही बताये जाते हैं। अपनी सरकार के साथ वे बहुत दिनों तक संघर्ष करते रहे और इसी वजह से उनका अधिकांश जीवन जेल में बीता था। आज कितने पत्रकार ऐसे मिलेंगे जिनका अधिकांश जीवन पत्रकारिता के लिए जेल में बीता हो।

जो व्यक्ति पत्रकारिता की सेवा में अपनी जान की बाजी लगा देने के लिए बराबर तैयार रहा हो, उसके व्यक्तित्व और चरित्र की उज्ज्वलता पर किसे सन्देह हो सकता है ? जिसे अपने प्राण का मोह न हो, उसके बारे में यह कैसे कहा जा सकता है कि वह पैसे के लोभ में ही काम करता होगा। स्टीड ने ६० वर्ष से अधिक की उम्र में भी पत्रकारिता की सेवा में जिस उत्साह और साहस का परिचय दिया था वह पत्रकारिता के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।

प्रिन्स ऑफ़ वेल्स जब भारत से स्वदेश लौट रहे थे, सम्राट एडवर्ड ने यह आदेश दे रखा था कि युद्धपोत 'इण्डॉमिटेबल' के पास, जिसमें प्रिन्स ऑफ़ वेल्स लौट रहे थे, कोई न पहुँच पाये और उसके चारों ओर घेरा डाल दिया जाय। यह आदेश मुख्यतः पत्रकारों को रोकने के विचार से दिया गया था। जहाज रात में पहुँचने वाला था। स्टीड ने प्रतिबन्ध के बावजूद प्रिन्स ऑफ़ वेल्स तक पहुँचने का निश्चय कर लिया। उन्होंने घेरे के बाहर समुद्र की उत्ताल तरंगों

पर अपनी एक छोटी-सी नाव छोड़ दी, जो लहरों के थपेड़े बर्दाश्त करती हुई अन्त में 'इण्डामिटेबल' से भिड़ ही तो गयी। स्टीड जहाज से लटकी एक ३० फुट लम्बी रस्सी की सीढ़ी से जहाज पर चढ़ गये और वहाँ पहुँचते ही उन्होंने जहाज के एक अफ़सर से बातचीत शुरू कर दी और उसी से उन्हें प्रिन्स ऑफ़ वेल्स की भारत-यात्रा के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें मालूम हो गयीं। अफ़सर बेचारा क्या जानता था कि यह व्यक्ति अभी-अभी समुद्र में से आया है। उसने तो यही समझा कि यह अनुमति लेकर जहाज में सवार व्यक्तियों में से ही एक है। दूसरे दिन 'डेली मेल' में जब स्टीड द्वारा प्राप्त समाचार प्रकाशित हुआ तो लोग चकित रह गये। आज कहाँ मिलेंगे ऐसे साहसी पत्रकार और यदि मिलेंगे भी तो कितनी होगी उनकी संख्या। एक मुख्य बात तो यह है कि ऐसे साहस की कोई प्रेरणा ही नहीं रह गयी है।

भारत को भी अपने कतिपय पत्रकारों की महानता, त्याग, तपस्या और आचरण से निर्मित उनके व्यक्तित्व पर गर्व है। गणेशशंकर विद्यार्थी की शहादत से कौन नहीं परिचित है? पत्रकारिता के आदर्शों के लिए तथा उन आदर्शों के अनुरूप और अनुकूल व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए उनकी बेचैनी उनके उन शब्दों में स्पष्ट देखी जा सकती है जो पहले उद्धृत किये जा चुके हैं। इसी प्रकार बाबूराव विष्णु पराड़कर के व्यक्तित्व की ऊँचाई देखी जा सकती है। व्यक्तित्व की महानता, बुद्धि की व्यापकता और कुशाग्रता, दूरदर्शिता, आदर्शप्रियता, उदारता आदि गुणों से विभूषित पत्रकारों का यहाँ अकाल कभी नहीं रहा। स्वतन्त्रता-संग्राम में तो ऐसे पत्रकारों के दर्शन होते रहे, किन्तु आज हमें अपने सामने ऐसा कोई पत्रकार नहीं दिखलायी देता जिसके नाम की छाप इस युग पर दिखलायी देती हो। आज के पत्रकारों में जो लोग किसी समय पत्रकार के रूप में प्रिय थे, आज शासक के रूप में अप्रिय हो रहे हैं। उनकी जो कुछ त्याग-तपस्या थी, व्यर्थ हो रही है। ये लोग अगर शासक न बनकर पत्रकार ही बने रहते तो शायद उनका वह व्यक्तित्व सुरक्षित रहता जिसकी कभी पूजा होती थी।

व्यक्तित्व के विकास के सम्बन्ध में सी० पी० स्काट का यह कथन भी ध्यान में रखना होगा कि "दृढ़ता न केवल नैतिक होनी चाहिए, बल्कि उसके पीछे बौद्धिक दृढ़ता भी आवश्यक है।" सचमुच बुद्धि का साथ छोड़कर नैतिकता अकेले दूर तक चलने में असमर्थ भी हो सकती है। अगर हम अपने अध्ययन,

मनन और चिन्तन से अपनी बुद्धि का परिमार्जन नहीं करते तो हो सकता है कि राजनीतिज्ञों या 'राजनीतिक जुआड़ियों' के मतमतान्तर और प्रचार के शिकार ही बने रहें और उन्हीं से 'प्रेरणा' और 'ज्ञान' लेते रहें। 'हो सकता हैं' क्यों कहें, इसके स्थान पर 'हो रहा है' कहना ही ज्यादा ठीक होगा। हमारी लेखनी जाने या अनजाने में कभी इस नेता से कभी उस नेता से 'प्रेरणा' और 'ज्ञान' प्राप्त करती देखी जा सकती है। हम यदि कभी इनकी आलोचना भी करते हैं तो अपनी किसी अन्तःप्रेरणा या बुद्धि से नहीं, बल्कि किसी और की प्रेरणा या बुद्धि उधार लेकर।

बौद्धिक दृढ़ता के अभाव में अक्सर हम अपने बीच ही ऐसे काम कर बैठते हैं जिस पर बाद में पछताना पड़ता है। हृदय और मन को कलुषित करने वाली तुच्छ बातें—जैसे बात-बात में चुगलखोरी, छिद्रान्वेषण, अत्यल्प स्वार्थ के लिए अपने सहकर्मी का अहितचिन्तन, उसकी किसी अयोग्यता का अनावश्यक प्रचार और उसकी किसी विशेषता पर मौन-धारण या उसमें भी मीन-मेख निकालने की आदत आदि—बुद्धि की अपरिपक्वता, चंचलता और दुर्बलता का ही परिणाम मानी जायगी। और इनके चलते हम अपने व्यक्तित्व को ऊँचा कैसे उठा सकते हैं? किन्तु आज, जब पत्रकारिता भी एक व्यवसाय बन गयी है, पत्र-संचालक को पत्रकार की बौद्धिक दृढ़ता में दिलचस्पी क्या हो सकती है? मनुष्य की हीन प्रवृत्तियों और नैतिक पतन की पूजा में जब उसकी सिद्धि छिपी हो तो वह 'सत्यं शिवं सुन्दर' का पुजारी क्यों बनना चाहेगा? हृदय और मन को कलुषित करने वाली बातों से अगर उसका 'भला' होता है तो वह इनका अनादर कैसे कर सकता है? वह तो इनका स्वागत ही करेगा। उसके औद्योगिक दृष्टिकोण में आदर्शों की बात समा ही नहीं सकती। उसका दृष्टिकोण तो बस यह रहता है कि तुच्छ बातों से पत्रकारों के बीच मनोमालिन्य और कलह बना रहे, ताकि वे ऊँची बातें न सोच सकें और अपने आर्थिक हितों के लिए एक न हों। कितनी संकीर्णता है उनकी इस 'बुद्धिमत्ता' में। काश वे अपने व्यावसायिक हित में ही यह समझ सकते कि पत्रकारिता भी अगर एक व्यवसाय है, तो उसका स्वरूप अन्य व्यवसायों से भिन्न है। पत्रकारों के आपसी कलह की वजह से पत्र का रूप बिगड़ता ही जाता है और अन्त में ऐसी स्थिति आ जाती है कि लोग उस पत्र की ओर देखना भी नहीं चाहते। अनेक पत्रों का पतन इसी तरह हुआ है और हो रहा है तब भला बताइए, औद्योगिक दृष्टिकोण से क्या लाभ?

हिन्दुस्तान के इस तरह के पत्र-संचालकों को समझना चाहिए कि लार्ड नार्थक्लिफ़ भी एक पत्र-संचालक ही तो थे और उनका उद्देश्य भी व्यवसायवाद ही तो था, किन्तु उन्होंने इस तरह की नीति नहीं अपनायी, क्योंकि आदर्श की दृष्टि से न सही, टेकनीक और बाह्य व्यक्तित्व की दृष्टि से उन्हें अपने पत्रों को सुन्दर बनाना था।

आर्थिक स्थिति और सम्पर्कवाद

हमारा वर्तमान समाज अर्थ-प्रधान है। यहाँ व्यक्ति की कीमत और हैसियत धन से ही नापी-तौली जाती है। थोड़ी देर के लिए हमें बहलाने और प्रफुल्ल करने के लिए देश के नेता भले ही यह कहते फिरें कि व्यक्ति की हैसियत धन से नहीं नापी-तौली जाती; किन्तु सत्य यही है कि आज व्यक्ति का मान धन से ही है और नेतागण भी धन के गुलाम हैं और इसी धन से बुद्धिजीवियों को भी गुलाम बनाते रहते हैं। प्राचीन काल में जिस तरह आश्रमवासी ऋषि के राजदरबार में आने पर राजा सम्मान करता था, उसी तरह आज किसी निर्धन विद्वान् के पहुँचने पर किसी मन्त्री से क्या यह अपेक्षा की जा सकती है? जिनके चरणों में बैठकर हमारे कतिपय मन्त्रियों ने पत्रकारिता और लेखन-कला सीखी है, क्या वे भी उनके 'दरबार' में उसके दशमांश सम्मान की भी आशा कर सकते हैं? डेढ़-दो सौ रुपल्ली पाने वाले पत्रकार के साथ तो आदर और शिष्टता से बात भी नहीं की जायगी। यह बात दूसरी है कि अपने प्रचार में इस गरीब का उपयोग करने के लिए उसके प्रति ऊपर से थोड़ा सम्मान प्रदर्शित कर दिया जाय और यह गरीब इसी पर लट्टू हो जाय। पत्रकार का पेशा कितना ही 'नोबुल' क्यों न माना जाता हो, अगर उसकी आर्थिक स्थिति 'नोबुल' न हो तो समाज में क्या, अड़ोस-पड़ोस में भी उसकी पूछ न होगी। अपनी आर्थिक दुरवस्था से दबे साधारण पत्रकार का व्यक्तित्व और उसकी आत्मा स्वयं अपने कार्यालय में मालिकों या अधिकारियों द्वारा ही किस तरह कुचली जाती है, इसकी कहानी बड़ी दुखद है, और लम्बी भी। अनेक आदर्शवादी पत्रकारों को प्रायः कड़वी घूँट पीकर रह जाना पड़ता है। अगर उन्हें अपने साथियों का बल हो, समाज से कुछ सहायता मिलने का भरोसा हो और अपने पत्रकार-समाज के बीच आदर्शवादी और स्वाभिमानी व्यक्तियों की संख्या निरन्तर घटती न दिखती हो तो वे अधिकारियों को समुचित जवाब दे सकते हैं। किन्तु जब वे देखते हैं कि सारा समाज ही विगलित हो रहा है और सभी पत्रकार 'बहुत व्यावहारिक' होते जा रहे हैं तो वे भी परास्त होकर

अपने लिए यही सिद्धान्त निर्धारित करने को बाध्य हो जाते हैं कि "चाकरी ना करी, करी तो फिर 'ना' ना करी।"

अधिकांश पत्रकारों की आर्थिक स्थिति ही उन्हें 'भेंट-मुलाकात' और 'सम्पर्क' बढ़ाने के लिए प्रेरित करती है। पहले यह 'भेंट-मुलाकात' और 'सम्पर्क' होता तो है पत्रकारिता के एक आवश्यक अंग के नाम पर, किन्तु वास्तव में यह हो जाता है व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि और कृपार्जन का एक साधन। पत्रकार का यह आर्थिक अभाव और उस अभाव से निर्मित हो गयी प्रवृत्ति ही बाद में चलकर उसकी 'मजबूरी' बन जाती है। पत्रकारिता में भेंट-मुलाकात और सम्पर्क की बात आती है, सामाजिक अध्ययन और समाचार-संग्रह के लिए; किन्तु यहाँ तो उसका उपयोग पत्रकार अपने व्यक्तिगत हित के लिए ही करता है। स्वार्थ के लिए किसी के दरवाजे पर दौड़ता है तो स्वभावतः अपनी प्रतिष्ठा का सौदा करता है। घोर आर्थिक संकट में रहते हुए भी पत्रकार शायद ऐसा न करते, किन्तु अपने चारों ओर, ऊपर से लेकर नीचे तक, ऐसा ही होता देखकर और इसे कुछ-कुछ 'युग-धर्म-सा समझकर अगर वे ऐसा करते हैं तो शायद यह स्वाभाविक मान लिया जायगा। जब चारों ओर का वातावरण ही ऐसा हो, अकेला बेचारा पत्रकार ही अपने को कैसे बचा सकता है और अपने व्यक्तित्व की रक्षा कैसे कर सकता है? आज तो सारा समाज काजल की कोठरी-सा बन गया है। भला उसमें किसे दाग नहीं लग सकता?

सम्पर्क के नाम पर जब सम्पादक, सह-सम्पादक या प्रबन्ध-सम्पादक पुलिस द्वारा आयोजित समारोहों में भी वक्ता या मुख्य अतिथि के रूप में पहुँचने लगे तो पाठकों को यह समझते देर नहीं लग सकती कि वह पुलिस के वश में हो रहा है या अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए पुलिस को अपना सहायक बनाना चाहता है। जो कुछ भी हो, ऐसे पत्रकार सामान्यतः पुलिस की आलोचना भले ही करें किन्तु अपने क्षेत्र की पुलिस के तो कवच बन जाते हैं। ऐसा बन जाने पर उनका व्यक्तित्व क्या रह जाता है?

आज के पत्रकारों के बारे में एक प्राध्यापक ने अपने एक पत्रकार-मित्र को लिखे गये एक पत्र में कहा था : "पत्रकारों ने अपने को बड़ा सस्ता बना लिया है। कोई छोटा-मोटा बनिया हो या अफसर, अगर उसने फ़ोन पर ही चाय-पान के लिए निमन्त्रित कर दिया तो आप उसके घर पर हाज़िर हो

जायेंगे। निमन्त्रण न मिलने पर भी आपके कुछ भाई इन बनियों और अफ़सरों के 'दरबार' में पहुँचे रहते हैं। उनसे जो कुछ स्वार्थ सध जाय वही बहुत है। सच पूछो तो किसी भी जानकार और समझदार आदमी के मन में तुम लोगों के प्रति आदर की भावना नहीं रह गयी है। अगर कुछ रह गया है तो थोड़ा-सा भय। किन्तु यह भय भी तभी तक जब तक तुम लोग किसी पत्र में हो। पत्र से हटा दिये जाने के बाद कोई नहीं पूछता। जिस तरह पुलिस के प्रति मन में आदर का भाव न रहते हुए भी लोग उसे छेड़ना या अप्रसन्न करना ठीक नहीं समझते, उसी तरह तुम लोगों को छेड़ना या अप्रसन्न करना खतरनाक समझा जाता है। जो लोग पैसे से जबर्दस्त हैं वे तो पत्रकारों को ठेंगे पर रखते हैं, क्योंकि उनका सीधा सम्बन्ध पत्र के मालिकों या व्यवस्थापकों से होता है। मैं तो समझता हूँ कि आज किसी पत्रकार का यह सोचना कि उसका दर्जा समाज में कुछ ऊँचा है, आत्मप्रवंचना मात्र है। खैर, अभी तुम लोग इतना सन्तोष कर सकते हो कि जो लोग तुम्हारी अन्दरूनी बातें नहीं जानते या जिनका तुम्हारे कार्यों से सीधा सम्बन्ध नहीं है, वे अब भी तुम लोगों को कुछ इज्जत की नजर से देखते हैं और तुम्हारे पेशे को 'मकबुल' समझकर उससे ईर्ष्या करते हैं। किन्तु कब तक ?"

अपने लम्बे पत्र में उक्त प्राध्यापक ने आगे लिखा है : "तुम लोग कहाँ हो, जरा सोचो तो। क्या तुम इससे इनकार कर सकते हो कि तुम्हारे कुछ बन्धुओं को सन्तुष्ट रखने के लिए या तुम्हारा उपयोग करने के लिए पुलिस वाले भी जब-तब कुछ 'पत्रपुष्प' चढ़ाते रहते है ? यह स्थिति कहाँ ले जायगी ? एक बात और—आज तो पत्रकारों में मन्त्रियों के कृपापात्र बनने की भी होड़ लगी रहती है। जरा बताओ तो, तुम में से कितने लोग ऐसे हैं जो इस मन्त्री या उस मन्त्री के कृपापात्र बनने की होड़ में नहीं लगे हैं। जो किसी मन्त्री के कृपापात्र नहीं बन पाते वे किसी संसद-सदस्य या विधानसभा-सदस्य का ही पल्ला पकड़ने की कोशिश में लग जाते हैं। उन बेचारों को 'अभागे' या 'मूर्ख' ही समझो जो किसी विधानसभा-सदस्य को भी नहीं पकड़ पाते। उनके भाग्य में तो रोना ही बदा है। लेकिन यह पत्रकारिता का थोड़ा-बहुत भाग्य ही है जो ऐसे 'अभागे' या 'मूर्ख' हैं।"

प्राध्यापक के ये शब्द बताते हैं कि पत्रकार और पत्रकारिता की जो स्थिति हो गयी है उसे यदि सब लोग नहीं तो कुछ विशेष शिक्षित लोग तो जान ही

गये हैं। अपने बीच के कुछ अपवादों को छोड़कर सामान्यतः, ईमानदारी के साथ, यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि यदि यहाँ कुछ है तो बस ढोल के भीतर पोल। हमारी हालत यह हो गयी है कि हम यदि मन्त्री, संसद-सदस्य या विधायक के पीछे-पीछे न चल सके तो नगरपालिका के सदस्य और नगर के कुछ दूसरे खास-खास व्यक्तियों के ही पीछे-पीछे सेवक की तरह लग जाते है, उन्हे अपने यहाँ आमन्त्रित करते हैं और कभी-कभी उनके यहाँ खुद आमन्त्रित हो जाते हैं। ऐसा हम करते हैं पत्रकारिता के 'जन-सम्पर्क-सिद्धान्त' के नाम पर। पत्रकारिता का 'जन-सम्पर्क-सिद्धान्त' एक बहुत बड़ी चीज है, जो आज बहुत छोटी और सस्ती होती जा रही है। भाव उसका उत्तरोत्तर गिरता जा रहा है। आज ऐसे पेशेवर पत्रकार बहुत दिखलायी देंगे जो जन-सम्पर्क बढाने मे माहिर हैं। जन-सम्पर्क का मतलब अगर यही है कि हर छोटे-बड़े नेता और हर छोटे-बड़े अधिकारी के नगर में आने पर उसके स्वागत के लिए माला लेकर स्टेशन पर पहुँचे रहना चाहिए और जब वह नगर से जाय तो उसे बिदाई देनी चाहिए या उसकी प्रशस्ति में कालम-डेढ़ कालम कुछ लिख देना चाहिए, तो अनेक पत्रकारों को अपनी यह दुर्बलता स्वीकार करने में प्रसन्नता ही होगी कि उन्होंने यह नहीं समझा है कि जन-सम्पर्क का जो सिद्धान्त पत्रकारिता मे निहित है उसका अर्थ यही नहीं होता। किसी जिलाधीश, शहर-कोतवाल या प्रशासक के नगर में दो-चार वर्ष रह लेने के बाद उसकी स्तुति में कुछ लिखने का मतलब तो समझ में आता है; किन्तु किसी के आते ही उसके बारे मे स्वयं पूरी जानकारी प्राप्त किये बिना कालम-डेढ़-कालम घसीट देना समझ में नही आता। अधिकांश टुटपूँजिये पत्र तो ऐसा अवश्य करते हैं। हो सकता है कि इसका कुछ विशेष अर्थ हो। कुछ बड़े सरकारी अधिकारी जब स्थानान्तरित होते हैं तो वे अपने साथ अभिनन्दनपत्र या अखबारों में अपनी प्रशंसा में प्रकाशित सामग्री लेते जाते हैं और धीरे से नये स्थान के कुछ 'विशेष' पत्रकारों को थमा देते हैं। इसी सामग्री के आधार पर नवागन्तुक की स्तुति लिख दी जाती है।

इस पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि किसी बड़े आदमी य अधिकारी को निकट से देखकर, उसे परखकर, उसके कार्यों का सही मूल्यांकन करने के बाद उसकी प्रशंसा में कुछ लिख दिया जाय। किन्तु, अगर हर आने-जाने वाले अधिकारी की प्रशंसा ही होने लगे तो फिर आलोचना किसकी की जाय ? आने-जाने वाले प्रमुख व्यक्तियों और अधिकारियों का संक्षिप्त परिचय

और चित्र देना तो ठीक है, किन्तु परिचय के नाम पर यों ही स्तुति करना ठीक नहीं कहा जायगा।

हम मानते हैं कि पत्रकार के लिए जन-सम्पर्क का महत्व कम नहीं है। किन्तु यह 'जन-सम्पर्क' लोगों की खामखाह प्रशंसा करके या परिचय बढ़ाकर अपना भी कुछ नाम कमाने या काम निकालने का साधन नहीं होना चाहिए। अगर इसे कुछ कमाने का ही साधन बनाना है तो ज्ञान कमाने का ही साधन बनाया जाय। समाज में किस तरह के लोग हैं, उनके क्या विचार हैं, उनके विचार किस तरह बदल रहे हैं, उनकी क्या आकांक्षाएँ और क्या आवश्यकताएँ हैं, उनके सोचने-समझने के क्या ढंग हैं और विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक पहलुओं की उनके दिमाग पर क्या प्रतिक्रिया हो रही है—इन सारी बातों को जानना या जानने की कोशिश करना ही जनसम्पर्क का वास्तविक उद्देश्य होना चाहिए। इस उद्देश्य से प्रेरित जन-सम्पर्क न केवल पत्रकार का मान बढ़ाता है बल्कि उसके किताबी ज्ञान में चार चाँद लगा देता है। वास्तव में जन-सम्पर्क से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के बिना पत्रकार का किताबी ज्ञान अधूरा रहता है और उसका विवेचन, उसकी समीक्षा और उसका विश्लेषण प्रायः गलत सिद्ध होता है। किन्तु जन-सम्पर्क का मतलब केवल कुछ खास लोगों से सम्पर्क रखना नहीं होता। परिचय बढ़ा कर नाम भले ही कमा लिया जाय, किन्तु 'ऐसा नाम कमाना' वास्तविक पत्रकार-व्यक्तित्व के विकास में योगदान करने वाला नहीं होता।

पत्रकार जिन लोगों से सम्पर्क स्थापित करता है या जो लोग स्वयं पत्रकार से सम्पर्क स्थापित करते हैं वे पत्रकार को अपने प्रचार का साधन बनाकर जब उसे किसी तरह खुश करते हैं—कुछ सम्मान का भाव दिखाकर या किसी रूप में सहायता करके—तब पत्रकार शायद यह समझता है कि सचमुच वे हमारे प्रति सम्मान का भाव रखते हैं और हमारे सहायक हैं, किन्तु वास्तविकता यह होती है कि ये प्रचार करवाने वाले लोग मन-ही-मन यह अवश्य समझने लगते होंगे कि हमारा यह 'पत्रकार मित्र' हमारे अनेक सेवकों में से ही एक है। जिन पत्रकारों को इतना वेतन नहीं मिलता कि अपनी फटेहाली दूर कर सकें उनमें से अधिकांश तो आसानी से हर छोटे-बड़े प्रचारेच्छु के 'सेवक मित्र' या 'मित्र-सेवक' हो जाते हैं। जो नहीं होते या नहीं हो पाते वे सम्पर्क से होने वाले न्यूनाधिक आर्थिक लाभ से वंचित रहते ही हैं, साथ ही उन लाभों से [illegible] हैं, जो हर छोटे-बड़े प्रचारेच्छुओं के माध्यम से सरकार से

और चित्र देना तो ठीक है, किन्तु परिचय के नाम पर यों ही स्तुति करना ठीक नहीं कहा जायगा।

हम मानते हैं कि पत्रकार के लिए जन-सम्पर्क का महत्व कम नही है। किन्तु यह 'जन-सम्पर्क' लोगों की खामख्वाह प्रशंसा करके या परिचय बढ़ाकर अपना भी कुछ नाम कमाने या काम निकालने का साधन नही होना चाहिए। अगर इसे कुछ कमाने का ही साधन बनाना है तो ज्ञान कमाने का ही साधन बनाया जाय। समाज में किस तरह के लोग हैं, उनके क्या विचार हैं, उनके विचार किस तरह बदल रहे हैं, उनकी क्या आकांक्षाएँ और क्या आवश्यकताएँ है, उनके सोचने-समझने के क्या ढंग हैं और विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक पहलुओं की उनके दिमाग पर क्या प्रतिक्रिया हो रही है—इन सारी बातों को जानना या जानने की कोशिश करना ही जनसम्पर्क का वास्तविक उद्देश्य होना चाहिए। इस उद्देश्य से प्रेरित जन-सम्पर्क न केवल पत्रकार का मान बढ़ाता है बल्कि उसके किताबी ज्ञान में चार चांद लगा देता है। वास्तव में जन-सम्पर्क से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के बिना पत्रकार का किताबी ज्ञान अधूरा रहता है और उसका विवेचन, उसकी समीक्षा और उसका विश्लेषण प्रायः गलत सिद्ध होता है। किन्तु जन-सम्पर्क का मतलब केवल कुछ खास लोगों से सम्पर्क रखना नहीं होता। परिचय बढ़ा कर नाम भले ही कमा लिया जाय, किन्तु 'ऐसा नाम कमाना' वास्तविक पत्रकार-व्यक्तित्व के विकास में योगदान करने वाला नहीं होता।

पत्रकार जिन लोगों से सम्पर्क स्थापित करता है या जो लोग स्वयं पत्रकार से सम्पर्क स्थापित करते हैं वे पत्रकार को अपने प्रचार का साधन बनाकर जब उसे किसी तरह खुश करते हैं—कुछ सम्मान का भाव दिखाकर या किसी रूप में सहायता करके—तब पत्रकार शायद यह समझता है कि सचमुच वे हमारे प्रति सम्मान का भाव रखते हैं और हमारे सहायक हैं, किन्तु वास्तविकता यह होती है कि ये प्रचार करवाने वाले लोग मन-ही-मन यह अवश्य समझने लगते होंगे कि हमारा यह 'पत्रकार मित्र' हमारे अनेक सेवकों में से ही एक है। जिन पत्रकारों को इतना वेतन नहीं मिलता कि अपनी फटेहाली दूर कर सकें उनमें से अधिकांश तो आसानी से हर छोटे-बड़े प्रचारेच्छु के 'सेवक मित्र' या 'मित्र-सेवक' हो जाते हैं। जो नहीं होते या नहीं हो पाते वे सम्पर्क से होने वाले न्यूनाधिक आर्थिक लाभ से वंचित रहते ही हैं, साथ ही उन लाभों से भी दूर पड़ जाते हैं, जो इन छोटे-बड़े प्रचारेच्छुओं के माध्यम से सरकार से

या और बड़े लोगों से प्राप्त हो सकते हैं। इस स्थिति में पत्रकारों के बीच सम्पर्क के लिए एक होड़-सी लग जाती है। आखिर अल्पवेतनभोगी पत्रकार के लिए कुछ अतिरिक्त आय का और दूसरा उपाय ही क्या हो सकता है ? जो कुछ भी हो, इस आर्थिक विवशता से पत्रकार के व्यक्तित्व का ह्रास होना निश्चित है।

जहाँ तक अपने देश का सम्बन्ध है, यहाँ आज भी ७५ प्रतिशत समाचार-पत्रों के सम्पादकीय विभाग के सदस्यों को एकाउण्टेण्ट जनरल के कार्यालय या सी० डी० ओ० पेंसन-कार्यालय के नवनियुक्त क्लर्कों के वेतन से भी कम वेतन मिलता है। दूर जाने की आवश्यकता नहीं, इन पंक्तियों के लेखक को १९७१ में पत्रकारिता में प्रविष्ट हुए २५ वर्ष हो जाने पर भी उसका कुल वेतन तीन सौ रुपये तक ही पहुँच सका, जबकि एकाउण्टेण्ट आफिस में नियुक्त उसका पुत्र एक साल की ही नौकरी में ढाई सौ रुपये से अधिक पा रहा था। पत्रकार अल्पवेतन पर ही गुजर करते हुए अपने स्वाभिमान की, अपने व्यक्तित्व की, रक्षा कर सकता है, बशर्ते उसका परिवार छोटा हो, औरों की तरह ही सामाजिक सम्बन्धों से मुक्त हो और अपने निरन्तर पढ़ने-लिखने की व्यवस्था की चिन्ता न हो। सबसे बड़ी वास्तविकता तो यह है कि 'ऊँचे आदर्शों, ऊँचे व्यक्तित्व तथा पत्रकारोचित ऊँची योग्यता लेकर पत्रकारिता में प्रवेश करने की आवश्यकता न तो स्वयं पत्रकार समझता है और न पत्रसंचालक। दोनों ने व्यक्तित्व के प्रश्न को बिलकुल गौण तथा नगण्य बना दिया है।

पत्रकारिता का पेशा आज भी दूर से आकर्षक और सम्मानपूर्ण दिखलायी देने के कारण वेतन की न्यूनता की परवाह किये बिना जो थोड़े-से योग्य युवक इसकी ओर झुकते हैं उनमें भी कुछ ही ऐसे होते हैं जिन्हें पत्रकारिता के पूर्वोक्त आदर्शों का ज्ञान होता है। एक सम्मानित पेशा समझकर पत्रकारिता की ओर आकृष्ट होना एक बात है और इस सम्मानित पेशे के सम्बन्ध में बहु-चर्चित आदर्शों को ग्रहण करना और उन पर डटे रहना दूसरी बात है। जो कुछ योग्य युवक पेशे की श्रेष्ठता और साथ ही आदर्श को समझकर पत्रकारिता में एक बार प्रविष्ट होकर इसी में रम जाते हैं वे जब कुछ दिनों बाद यह देखते हैं कि यहाँ न योग्यता की कीमत है न आदर्शों की पूछ तो वे भी धीरे-धीरे अर्थाभाव की स्थिति में न चाहते हुए भी सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास करने में लग जाने के लिए बाध्य होते हैं। इस प्रकार बाध्यता के बाद उनकी सारी योग्यता तथा

आदर्शोन्मुखता धरी रह जाती है और इनसे उनका ऐसा कोई व्यक्तित्व नहीं बना रहता जो उन लोगों की दृष्टि में ऊँचा हो जिनके साथ सम्पर्क स्थापित होता है।

यदि कानून के द्वारा या अन्यथा कोई ऐसी स्थिति होती कि किसी भी पत्रकार को एक ऐसी राशि से कम वेतन न मिलता जिससे वह अपने परिवार के समुचित भरण-पोषण की और अपने लिखने-पढ़ने की व्यवस्था निश्चिन्तता-पूर्वक करता तो शायद वह सम्पर्क के फेर में न पड़ता और केवल आर्थिक स्वार्थ से होने वाले सम्पर्क से अपने व्यक्तित्व को बचा लेता। लेकिन ऐसी राशि क्यों मिले और कैसे मिले ? प्रशासकीय सेवाओं, इन्जीनियरिंग, प्रोफेसरी-जैसे कुछ पेशों में ऊँचे वेतन की आशा से अभिभावकगण अपने प्रतिपाल्यों को इन विषयों की शिक्षा देने के लिए जिस तरह प्रेरित होते हैं उसी तरह पत्रकारिता की शिक्षा के लिए वे प्रेरित नहीं होते और हो भी नहीं सकते। यदि पत्रकारिता के लिए ऐसी कोई ऊँची माँग हो और तदनुसार ऐसी कोई विशेष शिक्षा हो तो इसके लिए वे प्रेरित हो भी सकते हैं। और फिर, चूंकि पत्रकारिता सामान्यतः गैरसरकारी यानी निजी क्षेत्र का पेशा है, अतः इसका आकर्षण और कम हो जाता है। ऐसी स्थिति में एक सम्मानित पेशा समझकर पत्रकार बनने का मोह ही एकमात्र ऐसा आकर्षण बना रहता है जो पहले तो अल्प वेतन पर ही पत्रकारिता में प्रवेश करने के लिए प्रेरित करता है, बाद में आर्थिक स्वार्थ के लिए सम्पर्कवाद का प्रेरक हो जाता है।

जो लोग आदर्शोन्मुखता और योग्यता से अपना पत्रकार-व्यक्तित्व नहीं बना सके हैं, वे इतने से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं कि लोग उन्हें पत्रकार कहते है और कुछ सम्मान का भाव दिखलाते हैं। इनमें से कुछ लोग ऐसे भी देखे गये है जो कुछ बड़े लोगों के सम्पर्क में आकर 'उनकी सेवा में' पत्र का उपयोग स्वयं करने की स्थिति में नहीं होते—प्रधान सम्पादक, समाचार-सम्पादक, स्थानीय समाचार-सम्पादक या साहित्य-सम्पादक-जैसे कुछ खास स्थानों पर न होने के कारण। ऐसे लोग बड़े लोगों तथा अपने पत्र के सम्पादकमण्डल के इन खास-खास व्यक्तियों के बीच की एक कड़ी बन जाते हैं यानी बड़े लोगों से अन्य पत्रकारों का सम्पर्क कराने वाले हो जाते हैं। ऐसे लोगों को 'पत्रकार-सप्लायर' कहा जा सकता है। ये लोग अपना तो कोई व्यक्तित्व बना ही नहीं पाते औरों के व्यक्तित्व को भी बिगाड़ देते हैं। जो कुछ पत्रकार अपने व्यक्तित्व का ख्याल

करके इस तरह के सम्पर्कवाद से दूर ही रहना चाहते हैं, उनके प्रति हमदर्दी दिखलाते रहकर, अन्त में उनकी आर्थिक विवशताओं का लाभ उठाकर, उन्हे भी घसीट लिया जाता है; किसी नेता (अपने स्वामी) से 'ओबलाइज' करा दिया जाता है, पथभ्रष्ट कर दिया जाता है। दूसरों को पथभ्रष्ट करने वाले इन 'पत्रकारों' को क्या कहा जाय ?

पत्रकारिता के पेशे के प्रति बाहर अभी भी कुछ सम्मान का भाव बने रहने के कारण पत्रकार कहलाने का जो एक लोभ होता है वह पत्र-संचालकों की दृष्टि मे पत्रकार की एक ऐसी कमजोरी होती है, जिसका लाभ उठाकर उसके व्यक्तित्व को कार्यालय के अन्दर भी चोट पहुँचायी जाती है। चूंकि पत्रकार की प्रवृत्ति और स्वभाव कुछ ऐसे हो जाते हैं कि वह इस पेशे में कुछ दिन रहने के बाद कहीं कोई क्लर्की या इसी तरह की छोटी-मोटी नौकरी नहीं करना चाहता, और चूंकि एक पत्र से दूसरे पत्र में जाने पर उसे अधिक वेतन मिलने की आशा नही होती, अतः वह जहाँ है वहीं पड़े रहना चाहता है। इस मजबूरी का भी लाभ उठाकर पत्रकार के व्यक्तित्व को चौपट किया जाता है। ऐसी स्थिति मे, उन पत्रकारों की भी सारी 'अकड़' ढीली पड़ जाती है जिन्हें अपनी विशिष्ट योग्यता पर कुछ विश्वास और गर्व होता है। अपमानजनक तथा हर तरह से दूषित वातावरण में पड़े रह कर अपने व्यक्तित्व को ऊँचा बनाये रखने की बात कब तक चल सकती है। ऐसे वातावरण में आत्मग्लानि से घुट-घुटकर मरने वाले कुछ पत्रकारों की कहानी किसने सुनी है और सुन कर दो बूंद आँसू किसने बहाये हैं ? व्यक्तित्व के ह्रास के मामले में अर्थ ने कितना अनर्थ किया है ? छोटा-बड़ा कोई पत्रकार इस अनर्थ से नहीं बच सका।

आज पत्रकार इस कथन को चुनौती कैसे दे सकता है कि वह भी औरों की तरह अर्थवत्ता का दास बनता आया है, या बनता जा रहा है ? वह अपने बारे में और साथ ही दूसरों के बारे में विचार करते हुए इस बात से कैसे इनकार कर सकता है कि उसके व्यक्तित्व को निर्मल और विशाल बनाने वाली सारी बातें, सारे गुण अर्थ में विलीन होते आये हैं और सचमुच निर्जीव पूंजी के व्यक्तित्व के सामने उसका सजीव व्यक्तित्व आत्म-समर्पण कर चुका है ? हम नहीं कह सकते कि वर्तमान पीढ़ी के हम पत्रकारों मे कितने ऐसे भाग्यशाली और पुण्यात्मा हैं जो धन की सत्ता से मुक्त रहकर अपनी योग्यता, प्रतिभा तथा व्यक्तित्व का विकास कर सके हैं, अपनी व्यक्तिगत

पेशक़दमी का सुफल प्राप्त कर सके हैं। अर्थ की इस स्थिति में, जब व्यक्तित्व की पूर्णता की बात सचमुच एक ऐसा प्रश्न बनकर रह गयी हो जिसका कोई सन्तोषजनक उत्तर न मिल रहा हो तो हम सी० पी० स्काट की तरह यह घोषणा कैसे करें कि पत्रकारिता के इस पेशे में आना किसी के लिए सबसे अधिक गौरव की बात है। सचमुच, व्यक्तित्व के निर्माण में आदर्शवाद के, और आदर्शवाद के निर्माण में व्यक्तित्व के स्थान की चर्चा अब नगण्य हो चली है।

'अपना व्यक्तित्व ऊँचा बनाये रखने के लिए आर्थिक प्रलोभनों से बचना चाहिए', यह कह देना तो आसान है; किन्तु आर्थिक प्रलोभन की उस सम्पूर्ण स्थिति को बदलना, जिसकी जड़ें बड़ी गहराई तक पहुँच गयी हैं, एक अत्यन्त कठिन कार्य है। आर्थिक प्रलोभन की सम्पूर्ण स्थिति को बदलने का मतलब है सम्पत्ति-सम्बन्धों के वर्तमान सामाजिक ढाँचे को ही बदलना। क्या पत्रकार ने अपने आर्थिक प्रलोभन की अपमानजनक स्थिति का अनुभव करते हुए कुछ भावप्रवणता और कुछ तर्कप्रवणता के साथ, इस विषय पर सोचा है? शायद उसके सोचने की सारी प्रक्रिया ही गायब हो गयी है। जो लोग पत्रकार बन चुके हैं और अर्थदासता की स्थिति में भी केवल इतने से मुग्ध हैं कि लोग उन्हें पत्रकार तो कहते हैं, उनसे कुछ अधिक कहना और आशा करना यों तो व्यर्थ ही है, फिर भी यदि उनके मन और बुद्धि के किसी कोने में अपमान की कुछ चोटें महसूस हो रही हैं तो उनसे कहा जा सकता है कि आप अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अब भी तो कुछ सोचिए! इसी प्रकार पत्रकारिता के नये 'शौकीनों' से भी एक निवेदन तो कर ही दिया जा सकता है कि आप अपनी शौक में व्यक्तित्व के प्रश्न को बिलकुल ठुकरा न दें।

दलों से लगाव

पत्रकार-व्यक्तित्व के सम्बन्ध में राजनीतिक दलों से लगाव भी एक बहुत बड़े विकार के रूप में आ गया है। पत्रकारों पर राजनीतिक दलों का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता आया है और आज व्यापक हो गया है। राजनीतिक दलों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रह कर अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास करने में पत्रकार अपने को असमर्थ पा रहा है। कुछ लोभ और कुछ आकर्षण उसकी असमर्थता को बढ़ाते आये हैं उसको एक सबसे बड़ा लोभ या तो

इस तथ्य में ही दिखलायी देता है कि स्वयं अपने पत्र में और बाहर आम लोगों मे उसका कोई मूल्य रह गया हो या न रह गया हो, राजनीतिक दल तो पत्रकार का कुछ 'मूल्य' समझते ही हैं। वह जानबूझ कर या मूर्खतावश यह भूल जाता है कि राजनीतिक दलों या व्यक्तियों की दृष्टि में पत्रकार का कुछ मूल्य केवल इसलिए होता है कि वह उनके प्रचार का साधन बन सकता है। समस्त पत्रकारों की भावना को अपने अनुकूल करने के लिए और उनमें अपने 'मूल्य का बोध' कराने के लिए एक नेता महोदय चुनाव में अपने विजयी होने की सूचना पाते ही सबसे पहले नगर के एक वयोवृद्ध सम्पादकाचार्य के घर पहुँचे और अपनी टोपी उन्होंने उनके चरणों पर रख दी। इसके बाद उन्होंने पत्रकारों के प्रति अपने सम्मान की भावना बाहर भी व्यक्त की। हम पत्रकार इस पर लट्टू हो गये। हमने एक क्षण के लिए भी यह नहीं सोचा कि यह सारी श्रद्धा, यह सारा सम्मान केवल इसलिए है कि पत्रकारों का 'सहयोग' प्राप्त किया जाय, उनका 'उपयोग' किया जाय। किन्तु, पत्रकारों के प्रति ऐसा ही 'आदर' और 'सम्मान' प्रदर्शित करने वाले एक दूसरे नेता ने एक बार कुछ पत्रकारों के ही बीच किसी बात पर तैश में आ कर यह कह दिया था कि मैं ऐसे-ऐसे जाने कितने पत्रकारों को अपनी जेब में रखता हूँ, खेलाता हूँ, नचाता हूँ! बात उसने गलत नहीं कही। आज सचमुच नेताओं द्वारा हम पत्रकार नचाये और खेलाये जा रहे हैं।

इस वास्तविकता से इनकार नहीं किया जा सकता कि पत्रों में कुछ लोग तो राजनीतिक दलों द्वारा भेजे हुए होते हैं, कुछ 'अपने' बना लिये जाते हैं और कुछ अपना काम निकालने के उद्देश्य से स्वयं राजनीतिक दलों से सम्बन्ध कायम करके उनके एजेण्ट बन जाते हैं। ऐसे एजेण्टों को यदि कहीं और अच्छा स्थान दिलाया जा सकता हो तो भी उनमे यह भावना भर कर कि 'पत्रकारिता से अधिक सम्मानप्रद पेशा और क्या हो सकता है' उसी में पड़े रहने के लिए प्रेरित करते रहा जाता है। कितने नये-नये और कम योग्य लोगों को मोटी-मोटी तनख्वाहों पर अन्यत्र नियुक्त कराने वाले नेतागण अपने 'प्रचारपटु' हो गये पत्रकार को अखबार में ही पड़े रहने देते हैं और अलग से कुछ 'खुश' करते रहते हैं। राजनीतिक दलों से इस प्रकार सम्बद्ध लोगों का कोई पत्रकार-व्यक्तित्व भला कैसे बन सकता है? और यदि कुछ-कुछ बन भी जाता है तो कितने दिनों तक बना रह सकता है? व्यक्तित्व क्या होता है इसे जिन

तथाकथित पत्रकारों ने कभी जाना ही न हो उनकी दलनिष्ठा के सामने पत्रकारिता और पत्रकार-व्यक्तित्व की बात ही व्यर्थ है। लेकिन घोर स्वार्थ में लिप्त होने के कारण उनकी दलनिष्ठा भी तो अन्ततः बालू की भीत सिद्ध होती है। बालू की भीत जब खड़ी ही नहीं हो सकती तो उसके ढहने का प्रश्न क्या ? बहुतों की दलनिष्ठा को मिनटों में बदलते देख कर यह प्रश्न उठता है कि क्या ऐसे पत्रकारों का कोई दलीय व्यक्तित्व भी बन पाता है ?

दलों से लगाव रखने वाले पत्रकारों के सम्बन्ध में अनेक पत्रों में विचित्र स्थिति देखने को मिली है। केवल तुच्छ कारणों से मिनटों में दलभक्ति बदलने के उदाहरण बराबर मिलते रहे हैं और मिल रहे हैं। सम्पूर्ण देश के पैमाने पर दलबदल की राजनीति तो पिछले कुछ वर्षों से ही शुरू हुई है, किन्तु पत्रकारों का दलबदल बहुत पहले से शुरू है। यदि किसी एक ही पत्र में एक ही दल के कई पत्रकार हुए तो उनमें से किसी एक की पदवृद्धि होने या संचालक के विशेष कृपापात्र हो जाने पर उनमें भी कुछ मनमुटाव हो जाता है और फिर शेष की दलीय मित्रता तथा दलनिष्ठा समाप्त हो जाती है। कल तक अपने जिस दल की प्रशंसा की जाती रही वही एक झटके में बुरा दिखलायी देने लगता है। यदि ऐसा नहीं भी हुआ तो इसका एकमात्र कारण यही होता है कि उस दल के नेताओं से सम्पर्क बनाये रखने का सबका सामान्य मोह और लोभ नहीं छूटता। हाँ, यदि किसी दूसरे दल में पूछ हो गयी और कुछ नेतागिरी का मौका भी मिल गया तो फिर क्या है। पुरानी पार्टी का अन्दर भी विरोध, बाहर भी विरोध। पत्रकार के इस दलबदल से स्वयं पत्रकार का ही व्यक्तित्व विकृत नहीं होता, बल्कि पत्र के व्यक्तित्व पर—यदि कोई बन सका हो तो—भी दाग लग जाता है। इन दलभक्तों तथा दलबदलुओं की वजह से जब पत्र का सम्पादकीय विभाग एक राजनीतिक जन्तुशाला-सा हो जाय, वहाँ अखाड़े का-सा दृश्य नजर आने लगे तो सम्पादन-कार्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना निश्चित है। इस स्थिति में इन सम्पादकों से समाचार-सम्पादन में न तो न्याय की आशा की जा सकती है, न समाचार-मूल्यांकन की समझ की, न विचारस्थिरता तथा दूरदर्शिता की और न तटस्थता की। ऐसे दलभक्तों और दलबन्धुओं के कारण उत्पन्न कटुता, कलह और तनाव से वातावरण में कुछ तटस्थ-दलनिरपेक्ष-शान्तिप्रिय योग्य पत्रकारों के लिए काम करना कठिन हो जाता है, या, उन्हें भी अपनी-अपनी ओर खींचने की जो कोशिशें होती हैं उनसे वे भी कुछ डिग जाते हैं।

राजनीतिक दलों से सम्बद्ध पत्रकार अपने व्यक्तिगत प्रचार के लिए या अपने दल के प्रचार के लिए पत्र का उपयोग करने में एक हद तक सफल हो जाते हैं; लेकिन पत्रकार के रूप मे अपना कोई व्यक्तित्व बनाने में सर्वथा असफल रहते हैं। जो लोग पत्रों में दलों द्वारा भेजे हुए होते हैं या अपना काम निकालने के लिए राजनीतिक दलों से सम्बन्ध कायम करके केवल 'स्व' की चिन्ता करते हैं उन्हें पत्रकारिता और पत्रकार-व्यक्तित्व की चिन्ता भला क्या हो सकती है ? दलीय दासता में आबद्ध इनकी बुद्धि या सूझ-बूझ इनमें उस स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास नहीं होने देती जो एक पत्रकार का होना चाहिए।

कुछ पत्रकार परोक्ष रूप में किसी दल से सम्बद्ध होते हुए भी अपने को दल-मुक्त 'पोज' करते हैं। किन्तु, उनका दलीय व्यक्तित्व शीघ्र ही प्रकट हो जाता है। कुछ तथाकथित पत्रकार अपने-अपने दल में अपना विशिष्ट स्थान बनाने के लिए वहाँ अपने को प्रथमतः पत्रकार के ही रूप में प्रस्तुत करना पसन्द करते हैं। किन्तु उनका पत्रकार उस नेता पर हावी नहीं हो पाता जिसकी कृपा से वे दल में भरती हुए रहते हैं और पत्र में भेजे हुए होते हैं। पत्र [illegible] पत्रकारिता का लाभ उठा कर कुछ लोग आगे चल कर बड़े नेता होते भी दे[illegible] गये हैं; किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उनके पत्रकार ने ही उन्हें नेता बनाया है। वस्तुतः उनका पत्रकार तो उनके दलीय विचारों और निष्ठाओं का अनुगामी ही रहा। ऐसे दलीय व्यक्ति से पत्रकारिता को यह आशा भला क्यों हो सकती है कि वह उसे बराबर चमत्कृत करता रह सकता है और स्वयं नेताओं का नेता बन कर देश तथा राष्ट्र को एक सुनिश्चित मार्ग पर ले चल सकता है।

तथाकथित 'भारतीय लोकतन्त्र' में दलबदल की स्थिति तो किसी दल से सम्बद्ध पत्रकार की रही-सही मानसिक दृढ़ता को भी विलुप्त कर देती है। इस स्थिति में पत्रकार का कोई एक निश्चित दलीय दृष्टिकोण भी नहीं बन पाता। एक दल की नीति और सिद्धान्त से वे पूरी तरह परिचित नहीं हो पाते कि दूसरे दल को अपना लेते है। नतीजा यह होता है कि वे पत्र को किसी एक दल के संबन्ध में जानकारी कराने का भी कार्य नहीं कर पाते। यदि वे यही कार्य कर सकते तो भी पत्र को कुछ लाभ पहुँचाया जा सकता। लेकिन जहाँ कुछ स्थायी नीति सिद्धान्त और दर्शन वाले स्थायी दल ही न रह गये हों

वहाँ उनको सम्पूर्ण साहित्य से परिचित हो कर पत्र को विभिन्न दलों के सम्बन्ध में जानकारी कराने का प्रश्न ही नहीं आता। यह सही है कि समाचारपत्रों में विभिन्न दलों की जानकारी रखने की आवश्यकता होती है और इसके लिए दलीय पत्रकार ही विशेषज्ञों का काम कर सकते हैं। किन्तु जब किसी दल का कोई साहित्य ही न बन पा रहा हो और स्वयं दलीय पत्रकारों को अपने-अपने दल की पूरी जानकारी न हो रही हो, तो वे विशेषज्ञता किस बात की दिखला सकते हैं। कुछ वर्षों पूर्व जब कुछ दलों में कुछ स्थायित्व मालूम पड़ता था और उनका एक इतिहास भी बनता दिखलायी दे रहा था तब भी ऐसे दलीय पत्रकार बहुत कम थे, जो अपने-अपने दल के साहित्य के विशेषज्ञ माने जा सकते।

इस प्रकार राजनीतिक दलों से लगाव रखने वाले पत्रकारों का पत्रकारिता में कोई योगदान न होना एक ऐसा अभिशाप है, जो पत्र और पत्रकारिता को विकसित होने से तो रोकता ही है, साथ ही दलीय पत्रकार को वस्तुतः पत्रकार बनने के अवसर से वंचित कर देता है। इस अभिशाप से ग्रस्त दलीय पत्रकार अपने युग पर अपनी कोई साधारण छाप डालने का भी सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सकता।

जैसाकि पहले कहा गया है, मनुष्य का बाह्य व्यक्तित्व यदि उसके रूपरंग, डीलडौल, चाल-ढाल, वेशभूषा आदि से आकर्षक माना जाता है तो उसके आभ्यन्तरिक व्यक्तित्व का आकर्षण उसकी बातचीत, व्यवहार, शिक्षा-संस्कार, अध्ययनशीलता और मननशीलता में ही देखने को मिलेगा। मनुष्य का आभ्यन्तरिक व्यक्तित्व उसके बाह्य व्यक्तित्व से भिन्न चीज है और उसकी ऊँचाई तक बाह्य व्यक्तित्व नहीं पहुँच सकता, हालांकि कुछ खास स्थानों पर उसे ही प्राथमिकता दी जाती है। वस्तुतः मनुष्य का आभ्यन्तरिक व्यक्तित्व ही उसका वास्तविक व्यक्तित्व माना जाना चाहिए। आभ्यन्तरिक व्यक्तित्व की श्रेष्ठता और प्रभावकारिता तभी सिद्ध होती है जब उसमे कुछ जन्मजात गुण और प्रतिभा के अलावा अध्ययन और मनन से उत्पन्न बुद्धि की व्यापकता और हृदय की विशालता के भी दर्शन हों।

अपना व्यक्तित्व सर्वांग सुन्दर बनाने के लिए पत्रकार को अध्ययन, मनन और चिन्तन की भी नितान्त आवश्यकता होती है। इन तीनों में से किसी

को भी नही छोड़ा जा सकता, क्योंकि किसी एक का भी अभाव व्यक्तित्व की पूर्णता में बाधक हो सकता है। अगर किसी ने किताबें तो बहुत पढ़ी हैं और उन्हें रट भी लिया है; किन्तु उन पर मनन और चिन्तन नहीं किया है, तो उसकी तुलना धोबी के गधे से या 'रट्टू' तोते से ही की जायगी। केवल अध्ययन से जानकारी मात्र होती है, मन और बुद्धि का परिमार्जन तो मनन और चिन्तन से ही होता है। अध्ययनशील व्यक्ति उद्धरणपटु हो सकता है, किन्तु किसी विषय का सही विश्लेपण करने में और ठोस निष्कर्ष पर पहुँचने मे मनन और चिन्तन ही सहायक होते हैं। कोई व्यक्ति यदि केवल अध्ययन करना है, मनन और चिन्तन नहीं, तो वह किसी भी विषय पर सम्भावनाओं का पूर्वानुमान नहीं कर सकता, भविष्यवाणी नहीं कर सकता। इसके अलावा एक बात और, वह यह कि पत्रकार का अध्ययन एकांगी नही होना चाहिए। उदाहरणार्थ: अगर उसने मार्क्सवाद के सारे ग्रन्थ रट लिये है किन्तु मार्क्सवादविरोधी साहित्य का भी अध्ययन नहीं किया है, तो वह निश्चय ही ग़लतियाँ करेगा। और इसी तरह यदि किसी ने मार्क्सवाद-विरोधी साहित्य तो खूब पढ़ा है, किन्तु मार्क्सवाद के बारे मे कुछ नहीं या बहुत कम जानता है, तो वह भी समझने और समझाने में भयंकर भूलें करता जायगा। ऐसे लोग भूलें ही नहीं करते, अपने को उपहास्य भी बना लेते हैं।

अध्ययनशीलता के साथ तर्कप्रवणता के महत्व को समझने के लिए बाबूराव विष्णु पराड़कर से सम्बन्धित एक प्रसंग को उदाहरण के रूप में सामने रखा जा सकता है। पराड़करजी के मामा सखारामजी, जो स्वयं एक प्रसिद्ध पत्रकार थे, चाहते थे कि पराड़कर यदि सचमुच बड़ा पत्रकार होना चाहता है, तो उसमें अध्ययन के साथ तर्कशक्ति भी होनी चाहिए। इसके लिए वह प्रायः नित्य ही एक न एक प्रश्न या विवाद छेड़ देते थे और जिस प्रश्न का बाबूराव समर्थन करते उसका वे खण्डन करते। इससे किसी एक प्रश्न पर अनेक पहलुओं में व्यापक रूप में, विचार करने की शैली—तर्कप्रवणता—उन्हें प्राप्त हो [illegible] अध्ययन पर आधारित तर्कप्रवणता के अभाव में हम नेताओं की बात प्रायः [illegible] की त्यों मान लेते हैं और उन्हें किसी प्रश्न पर निरुत्तर करने के बजाय स्वयं निरुत्तर हो जाते हैं। ऐसा प्रेस-कान्फरेंसों में अक्सर देखने में आता है। [illegible] जो प्रश्न करते हैं उसकी कोई पृष्ठभूमि हमारे दिमाग़ में नहीं होती।

किन्तु जहाँ अध्ययन ही गोनहो आने ग़ायब हो वहाँ तर्क का आधार ही

गया हो सकता है। हम जिस पत्र का सम्पादन करते हैं उसी को पूरा-पूरा पढ़ लें तो यही बड़ी बात है। एक ओर अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है, दूसरी ओर हमारी शक्ति और साधन बिलकुल सीमित। अध्ययनशीलता के अभाव में हमारे विचारों में जो संकीर्णता आ गयी है या आती जा रही है उसके कारण हम अपने को छोटा बनाते जा रहे हैं और उन तुच्छ बातों को टालने में असमर्थ हो रहे हैं, जो हमारे व्यक्तित्व का ह्रास करती हैं और अपने सहकर्मियों के बीच असहिष्णुता, छिद्रान्वेषण, चुगलखोरी, पारस्परिक द्वेष, कलहप्रायणता, डाह, 'अल्पज्ञान का मिथ्या अभिमान एवं प्रदर्शन' आदि की प्रवृत्ति को बढ़ा कर, हमारी उस योग्यता, प्रतिभा और कार्यकुशलता को कुण्ठित कर रही हैं, जो एक विचारक एवं विशाल-हृदय पत्रकार बनने के लिए आवश्यक हैं।

अध्ययन, मनन और चिन्तन तथा उच्चविचारों एवं चर्चाओं से हमारा जो विचारक-व्यक्तित्व बन सकता है वह इनके सोलहो आने अभाव में हमें कितना तुच्छ बना रहा है, यह भी कुछ देख लिया जाय। चिन्तन के अभाव के कारण ही कुछ लोग अपने स्पष्ट दोषों को न देख कर दूसरों के अपने से कहीं छोटे दोषों को हजार नेत्रों से देखते हैं। उन पर गोस्वामी तुलसीदासजी की निम्न-लिखित पंक्तियाँ पूर्णतः लागू होती हैं :—

> "पर गुन सुनत दाह, पर दूषन सुनत हरष बहुतेरो।
> आप पाप को नगर बसावत सहि न सकत पर खेरो॥"
> "जानत हौं निज पाप जलधि जिय, जल-सीकर सम सुनत लरौं।
> रज-सम पर-अवगुन सुमेरु-करि, गुन गिरि-सम रज तें निदरौं॥"

(विनयपत्रिका पद १४१ और १४२ से)

अगर किसी का कोई गुट बन गया है तो वह अपने गुट के किसी सदस्य के उन दोषों को नहीं देखेगा जिनके लिए वह अपने किसी विरोधी की शिकायत करता है। अगर किसी तटस्थ व्यक्ति ने कभी उसकी इस प्रवृत्ति की ओर संकेत किया तो वह 'इनसान की कमजोरी' या इसी तरह कुछ और बात कह कर टाल देगा। इतना ही नहीं, उस तटस्थ व्यक्ति को अपने विरोधी का ही समर्थक मान बैठेगा। हम जिसे सहकर्मी और साथी कहते हैं उसकी पद-वृद्धि या वेतन वृद्धि देख कर हमारे कलेजे पर साँप लोटने लगे तो इसे क्या कहा जायगा

इन्सान की स्वाभाविक कमजोरी ! नहीं, उससे भी कुछ बुरी चीज। अगर उसने किसी के हक को कुचल कर किसी घृणित उपाय से अपनी वेतनवृद्धि करायी है तो उसके प्रतिद्वन्द्वी का दुखी होना ठीक माना जायगा। ऐसी ही जाने कितनी बातें हैं जिनसे हमारे मस्तिष्क, मन और हृदय की गहराई नापी जा सकती। अखबार में स्वयं अधिक-से-अधिक 'कटिंग' भरना, किन्तु दूसरों के ऐसा कुछ करने पर सम्पादक तक शिकायत पहुँचाना, स्वयं देर में जाना किन्तु दूसरे के देर से आने की शिकायत करना, यह दिखाने के लिए कि अमुक व्यक्ति कम लिखता है, उसका लिखा हुआ 'मैटर' दबा देना, किसी को किसी की नजर में गिराने का निरन्तर प्रयत्न करते रहना, पदलोलुपता या दूसरी किसी आकांक्षा से शत्रु के शत्रु को मित्र बनाने की राजनीति खेलना, कल तक के परम मित्र को बात की बात में शत्रु समझ लेना और इसी तरह कल के शत्रु को गुटबन्दी के प्रयास में मित्र बना लेना आदि ऐसे कुकृत्य हैं जो हमारे सम्पादन-कार्य पर तो बुरा असर डालते ही हैं, साथ ही इनसे आत्मा भी कलुषित होती है और हम अपने कार्यालय में चपरासी तक की नजरों में गिर जाते हैं। हमारा यह चरित्र बाहर भी प्रकट हो ही जाता है। यदि उत्तम विचारों तथा चिन्तन से हम अपने व्यक्तित्व को ऊँचा उठा सकते तो हमारा 'चरित्र' ऐसा न होता और हम तुच्छ बातों पर ध्यान न देते।

अपने ऐसे आपसी सम्बन्धों को देख कर हम यह शिकायत करके ही सन्तोष कर लेते हैं कि हमारे बीच ऐसी स्थिति पैदा करने की जिम्मेदारी संचालकों पर ही है, क्योंकि वे पत्रकारों के बीच एकता और सद्भावना का होना अपने आर्थिक हित के विरुद्ध समझते हैं। ऐसी शिकायत करना गलत तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु प्रश्न यह है कि जब हम समझते हैं कि इसकी जिम्मेदारी उन पर है तो अपने सम्बन्ध सुधारने का प्रयास क्यों नहीं करते और हम कैसे हैं जो उनके इशारे पर नाचते रहते हैं। जरूर हमने कोई बहुत बड़ा तत्त्व खो दिया है। पत्रों के इस वातावरण से कुछ ही लोगों का लाभ होता है; किन्तु ये लोग भी अन्त में दूध की मक्खी की तरह निकाल फेंके गये दिखलायी देते हैं। फिर हम आपस में सद्भावना की आवश्यकता क्यों नहीं समझते ? इस सद्भावना से पत्रकार का ही नहीं, पत्र और पत्र-संचालकों का भी लाभ होगा। किन्तु हिन्दुस्तान के पत्रसंचालकों को यह बुद्धि प्राप्त नहीं हुई है। ब्रिटेन के नार्थक्लिफ भी एक पत्रसंचालक ही तो थे और जहाँ तक आदर्श का सम्बन्ध है, उन्होंने नयी पत्रकारिता के नाम पर आदर्श से दूर ही रहने की कोशिश की, किन्तु

पत्र में सद्भावना का वातावरण बनाये रखने, पत्रकारों का यथोचित सम्मान करने और उनके साथ शिष्टता और सौजन्य का व्यवहार करने, उनकी आवश्यकताओं को समझने और केवल चाटुकारिता से अयोग्य को योग्य मान लेने की प्रवृत्ति से बचने की भी पूरी कोशिश की। तभी तो कम-से-कम टेक्नीक और बाह्य व्यक्तित्व की दृष्टि से उनके पत्र काफी आकर्षक बने रहे। वास्तव में बात यह भी तो थी कि वे व्यवसायी ही नहीं पत्रकार भी थे और पत्रकारिता और व्यवसाय दोनों के बीच सन्तुलन रखना चाहते थे।'

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे पत्रकार-व्यक्तित्व और पत्रकार-चरित्र के ह्रास की बात काफी स्पष्ट हो जाती है। भला ऐसे व्यक्तित्व और चरित्र को ले कर कोई पत्रकार अपने को लोकगुरु, लोकनायक और लोकप्रतिनिधि कैसे कह सकता है या कैसे बना सकता है? ऐसे चरित्र और व्यक्तित्व के पास भला आदर्शवादिता, उदारता, बुद्धि की व्यापकता, कार्य में दृढ़ता आदि गुण कैसे आ सकते हैं? खैर, बहुत रो चुके। सर्वोत्तम तो यही होता कि यहाँ जो छोटी-छोटी बातें लायी गयी हैं, उन्हें लाया ही न जाता। किन्तु यह सोच कर कि ये शायद हमारे लिए चोट-चिकित्सा का काम कर जायें, इन्हें लिखने की आवश्यकता महसूस हुई और लिख दिया गया। अपनी और अपने पेशे की निन्दा करना भला किसे अच्छा लगेगा; किन्तु इसमें अगर अपना कुछ हित होता दिखायी दे, तो ऐसा करना अनुचित नहीं माना जायगा। जब हम सत्तारूढ़ दल की, विभिन्न राजनेताओं और दलों की, सामाजिक व्यवस्थाओं की, अफ़सरों से ले कर मामूली कर्मचारियों तक की आलोचना और निन्दा करने से नहीं चूकते, तो फिर अपने दोषों को भी क्यों न देखें? अपना दोषदर्शन करके और फिर अपने को सुधार कर ही हम दूसरों की आलोचना के वास्तविक अधिकारी हो सकते हैं। हमारा परम हित अपने प्रकृत स्वरूप को प्राप्त करने में ही है। इसे प्राप्त किये बिना हमारा पत्रकार-जीवन कोई जीवन नहीं कहा जायगा। किन्तु यह जीवन हमें तभी मिल सकता है जब हम अपनी संकीर्णता और क्षुद्र स्वार्थ से बाहर आ जायें। हम, जो दूसरों की स्वतन्त्रता और स्वाभिमानप्रियता के लिए 'विकल' होते रहते हैं, पहले स्वयं तो हर तरह से स्वतन्त्र होने, स्वाभिमानी होने, की आवश्यकता महसूस करें। यदि हमने ऐसा कर लिया तो निश्चय ही हमारी प्रतिष्ठा, हमारा व्यक्तित्व और हमारा आसन हमें मिल जायगा और हम कालान्तर में यह भी सिद्ध कर सकेंगे कि 'हाँ, हम हैं लोकगुरु'।

लेकिन, प्रश्न तो यह है कि विचारक एवं चिन्तक के रूप में पत्रकार-व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए, भविष्यद्रष्टा बनने के लिए आदर्श के साथ अध्ययन, मनन और चिन्तन की जो आवश्यकता बतलायी गयी है उसकी पूर्ति कैसे हो ? अध्ययन के लिए रुचि और बेचैनी पैदा होना पहली आवश्यकता है। यह रुचि और बेचैनी कैसे पैदा हो ? अपने को पत्रकार मान लेना और पत्रकारिता का रोब गालिब करने का प्रयास करते रहना तो आसान है; किन्तु मन में यह विचार उठना तथा बेचैनी पैदा होना कि 'पत्रकार' नाम को सार्थक करने के लिए पढ़ना है और खूब पढ़ना है, सोचना है, खूब सोचना है' आसान नहीं है। यह विचार कूट-कूट कर कौन भरे कि 'पत्रकार का सारा जीवन एक विद्यार्थी-जीवन है और सारा विश्व उसका स्वाध्यायपीठ है' ? किसी बड़े-से-बड़े पत्र के संचालक को भी इस बात की चिन्ता क्यों हो कि उसका प्रत्येक पत्रकार-कर्मचारी ऐसा अध्ययनशील हो, जो सारे विश्व को अपना स्वाध्यायपीठ समझे और अपने सारे जीवन को विद्यार्थी-जीवन माने। अतः अपने में रुचि और बेचैनी पैदा करने का काम स्वयं पत्रकार का है। रुचि और बेचैनी पैदा होने के बाद भी यदि कोई पत्रकार अन्यान्य परिस्थितियों के कारण यावज्जीवन विद्यार्थी बने रहने का उद्देश्य और आदर्श पूरा न कर सके तो यह एक बात हुई, और ऐसी रुचि तथा बेचैनी पैदा ही न होना बिलकुल दूसरी बात। ऐसी रुचि और बेचैनी के बिना ही, कोई पत्रकार कुछ इधर-उधर से काटछाँट कर या सुन-सुना कर कुछ लिखने और बोलने का अवसर भले ही प्राप्त कर ले और अपने को पत्रकार 'पोज' करता रहे, किन्तु पत्रकारिता के वास्तविक अर्थों में उसे पत्रकार कहलाने का कोई अधिकार नहीं है। ऐसे लोगों के विपरीत, जिन पत्रकारों के मन में एक रुचि और बेचैनी है वे परिस्थितियों के साथ न देने के बावजूद मर-खप कर कुछ-न-कुछ ठोस विचार ग्रहण कर ही लेते हैं और उन लोगों से तो अच्छे ही होते हैं जो किसी तरह अपने को पत्रकार 'पोज' करते रहते हैं।

जो कुछ भी हो, स्थिति यही है कि रुचि और बेचैनी के बावजूद बेचारे बहुत से पत्रकार अन्त तक अपेक्षित अध्ययन का अवसर ही नहीं पाते और अपने को सरस्वत्याभिशप्त मान कर संसार से बिदा हो जाते हैं। 'सरस्वती भी अर्थसाध्य हो गयी है', यह एक अकाट्य सत्य है। जिस अल्प-वेतनभोगी पत्रकार को अपने और अपने परिवार की सम्पूर्ण व्यवस्था के लिए कुछ अतिरिक्त काम ढूँढने और करने में ही अतिरिक्त छः-सात घण्टे बीत जाते हों वह भला जम कर

अध्ययन क्या कर पायेगा ? जाने कितने पत्रकारों का सारा जीवन इसी प्रकार अतिरिक्त काम में बीत जाता है। युवावस्था में तो, रुचि होने पर, इतना अतिरिक्त काम करते हुए भी कुछ लोग थोड़ा-बहुत अध्ययन कर लेते हैं, किन्तु जब पारिवारिक झंझटों, दुश्चिन्ताओं तथा पौष्टिक आहार के अभाव के कारण वे अकाल वृद्ध होने लगते हैं तब तो यह थोड़ा-बहुत अध्ययन भी समाप्त हो जाता है। जब यह कहा जाता हो कि पत्रकार का मस्तिष्क एक विश्वकोश होना चाहिए, तब इस स्थिति में उसका मस्तिष्क विश्वकोश कैसे हो सकता है ? वह तो दुश्चिन्ताओं से, पौष्टिक आहार के अभाव से उत्तरोत्तर क्षीण ही होता चला जाता है और अन्त में इतना क्षीण हो जाता है कि जितना कुछ सामान्यतः उसमें समा सकता है उतना भी नहीं समाता। थोड़ी-बहुत अधीत सामग्रियाँ भी याद नहीं रह जातीं। इसी सन्दर्भ में, इसके अतिरिक्त, यह भी तो विचारणीय है कि अपेक्षित अध्ययन के लिए अपेक्षित धन कहाँ मिलता है ? बराबर पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें खरीदना हो या नियमित रूप से पुस्तकालय जाना हो, पैसे की, अतिरिक्त पैसे की, आवश्यकता होती ही है।

अस्तु, व्यक्तित्व के विकास के लिए, उसे उन्नत बनाने के लिए, अन्यान्य बातों के अलावा जिस तरह के अध्ययन की आवश्यकता किसी के लिए भी हो सकती है वही यदि पत्रकार को (जिसका पेशा ही अध्ययन, मनन और चिन्तन का कहा गया है), प्राप्त न हो तो उसका व्यक्तित्व ऊँचा कैसे हो सकता है ? और अपना व्यक्तित्व ऊँचा उठाने की बेचैनी या चिन्ता स्वयं पत्रकार को न हो तो संचालक या व्यवस्थापक को क्यों होगी ! जो संचालक या व्यवस्थापक अपने पत्र के सम्पादकों के अध्ययन से अखबार का 'व्यक्तित्व' ऊँचा करने के लिए चिन्तित न हो, उसकी आवश्यकता न समझता हो, जो अन्यान्य तरह से उन्नत हुए पत्रकार के व्यक्तित्व से इसलिए डरता हो कि कहीं वह बेकाबू न हो जाय, कठपुतली की तरह नाचने से इनकार न कर दे, वह भला क्यों चाहेगा कि उसकी 'प्रजा' कुछ अधिक व्यक्तित्व वाली हो।

—माध्यम, वर्ष १, अंक ६ (अक्टूबर १९६४) में
प्रकाशित अध्याय का परिवर्धित रूप

पत्रकारिता : योग्यता का प्रश्न

पत्रकारिता में विशिष्ट आदर्श और व्यक्तित्व की दृष्टि से साधारण योग्यता तथा प्रतिभा से काम नहीं चलेगा। यों भी यथार्थता के पक्षधरों ने पाठकों की सन्तुष्टि और शिक्षा तथा उनके ज्ञान-वर्धन की दृष्टि से और बदलती तकनीक की दृष्टि से उसका जो नया स्वरूप सामने रखा है उसमें भी कम योग्यता की आवश्यकता नहीं। यदि नेताओं से निर्देशित होने के बजाय उन्हें ही निर्देशित करने अर्थात् नेताओं का नेता बनने की बात या वास्तविक सामाजिक प्र।ति के लिए अपने को वकीलों का वकील सिद्ध करने की बात या शिक्षकों का शिक्षक कहलाने की बात मात्र कल्पना रह गयी हो तो भी, केवल यथार्थता की ही दृष्टि से पत्रकार से कुछ विशेष योग्यता की अपेक्षा की ही जा सकती है। जहाँ परिस्थितिवश या व्यक्तिगत दुर्बलताओं के कारण यह अपेक्षा भी पूरी न हो वहाँ पत्रकारिता को एक साधारण पेशा के अलावा और कुछ नहीं कहा जा सकता।

आज साधारणतः यही देखा जाता है कि अधिक दिनों से काम करते आने वाले व्यक्ति को ही 'अनुभवी' कह कर योग्य मान लिया जाता है। निस्सन्देह 'अनुभव' एक बड़ी चीज है और उससे 'योग्यता' का भी बोध होता है; किन्तु पत्रकारिता में अनुभव को ही योग्यता मान लेना उचित नहीं होगा। और फिर यह एक भ्रान्त धारणा है कि वही व्यक्ति अनुभवी हो सकता है जो अधिक दिनों से काम करता आया हो। यदि यही बात होती तो अपने प्रति संचालकों के संकोच, कृपा या पक्षपात के बावजूद, बहुत से पुराने पत्रकार नये पत्रकारों के अन्तर्गत काम करते न देखे जाते। बात यह ठीक है कि किसी भी क्षेत्र में थोड़े ही दिनों से काम करने वाला व्यक्ति अधिक दिनों से काम करने वाले व्यक्ति से

अधिक अनुभवी हो जा सकता है। हाँ, इतना मानना पड़ेगा कि ऐसे व्यक्तियों की संख्या कम होती है।

साहित्य और पत्रकारिता में प्रत्येक नये युग और प्रत्येक नयी पीढ़ी की अपनी विशेषता होती है, जिसके अनुरूप अपने को बनाने में पिछली पीढ़ी के लोग प्रायः कठिनाई का अनुभव करते है। कभी-कभी तो पिछली पीढ़ी के लोग नयी पीढ़ी को मान्यता ही नहीं देते, जिससे एक तरह का संघर्ष छिड़ जाता है। किन्तु युग आता है और अपने साथ नयी मान्यताएँ और अपनी विशेषताएँ लेता आता है। नये को पुराने से बहुत कुछ लेना तो पड़ता है, किन्तु नया, नया ही होता है। पर, पुराने और नये का विचार करते समय यह बराबर याद रखना होगा कि कुछ ऊँचे आदर्श, जो किसी युग में स्थायी हो जाते हैं, यों ही पुराने नहीं पड़ जाते। 'नये और पुराने' का यह विचार पत्रकारिता के क्षेत्र की योग्यताओं में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। किन्तु, यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि नयी पीढ़ी को मान्यता प्राप्त करने के लिए अपने संघर्ष में तभी सफलता मिल सकती है जब वह युग के साथ आयी नयी मान्यताओं और विशेषताओं को स्वयं ठीक से समझ कर औरों को समझाने की योग्यता प्राप्त कर ले। यों ही यह समझ बैठना कि नयी पीढ़ी का कोई भी व्यक्ति पुरानी पीढ़ी के किसी भी व्यक्ति से आगे होगा, एक गलत धारणा होगी। नयी पीढ़ी के किसी पत्रकार को यह सिद्ध करने के लिए कि वह पुरानी पीढ़ी के किसी भी पत्रकार से आगे है, अपने को पुरानी और नयी दोनों पीढ़ियों की धाराओं से परिचित रखना पड़ेगा—पुरानी से कुछ लेना होगा, उसे कुछ देना होगा। लेन-देन की यह सामर्थ्य अनायास नहीं आ जाती। क्या आज का हर पत्रकार ऐसी सामर्थ्य रखने का दावा कर सकता है ?

इसमें सन्देह नहीं कि जिन पुराने पत्रकारों की दृष्टि अतीत पर ही नहीं, वर्तमान और भविष्य पर भी लगी रहती है वे सदा नये बने रहने का प्रयास करते हैं। वर्तमान और भविष्य पर दृष्टि रखने, उनकी गति समझने और समाज की नाड़ी पर अधिकारपूर्वक हाथ रखने के लिए यह जरूरी है कि पत्रकार का कार्य केवल अनुवाद करने, समाचारों का चयन करने, उनमें काट-छाँट करने, उन्हें महत्त्व के क्रम से स्थान देने तथा उन पर शीर्षक लगाने तक ही सीमित न रहे। समाज की नाड़ी पर हाथ रखे रहना कोई हँसी-खेल नहीं है। इसके लिए अधिक-से-अधिक अध्ययन और विश्लेषण करना जरूरी होता

है। किन्तु यहाँ तो पत्र में काम करने की इच्छा ले कर आने वालों की योग्यता की परीक्षा साधारणतः केवल इतने से ही की जाती है कि उसकी भाषा 'कामचलाऊ' है या नहीं, वह कुछ ही दिनों में समाचारों का मूल्यांकन करने की सामान्य समझ प्राप्त कर लेगा या नहीं, जिस किसी दूसरी भाषा से समाचारों का अनुवाद करने की आवश्यकता होती है उसे 'थोड़ा-बहुत' जानता है या नहीं। अनुवाद में तो किसी की लेखन-शैली देखने की जैसे कोई आवश्यकता ही नहीं समझी जाती। जो लोग चुस्त और दुरुस्त भाषा लिख लेते है वे भी सम्पादकीय विभाग की मेज़ पर उतनी अच्छी भाषा नहीं लिख पाते, क्योंकि वहाँ सोच-समझ कर लिखने का मौका ही नहीं मिलता। जहाँ जरूरत से बहुत कम आदमी काम करते हों और गुण की अपेक्षा परिमाण की ही अधिक अपेक्षा की जाती हो, वहाँ भला इसका मौका कैसे मिल सकता है।

पत्रकारितासम्बन्धी योग्यताओं में भाषा का प्रश्न सबसे पहले आता है, किन्तु हाल यह है कि समाचारों की ही नहीं, अग्रलेखों और टिप्पणियों की भी भाषाशैली कुछ ऐसी नहीं होती जो पाठकों को कुछ आकृष्ट कर सके। यदि अग्रलेखों और टिप्पणियों में विषय तथा विचार की दृष्टि से पिष्टपेषण के बावजूद कम-से-कम भाषा में ही कुछ रोचकता और नवीनता हो तो—समाचारों की भाषा शैली जैसी-तैसी रहते हुए भी—पत्र की ओर कुछ लोग विशेष रूप से आकृष्ट हो सकते हैं। किसी पत्र के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की दृष्टि से और सुन्दर अग्रलेख तथा टिप्पणियाँ लिखने वाले सम्पादक की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा की दृष्टि से होना तो, यही चाहिए कि समाचारों की भी भाषा और शैली अच्छी हो, जिससे पाठक भी अच्छी भाषा का प्रयोग करना सीख सकें। विचार तथा भाषा दोनों की दृष्टि से अच्छे अग्रलेख और टिप्पणियाँ प्रस्तुत करने वाले सम्पादक के लिए यह कम लज्जा की बात नहीं होती कि उसके सहयोगियों की अयोग्यता या कम योग्यता के कारण समाचार-पृष्ठ भी उतने ही आकर्षक न बन पायें। वह सम्पादक कितने अन्धकार में होता है, जो 'यद्यपि', 'तथापि', 'किन्तु', 'तो', 'ही', 'वरन्', 'जब', 'जबकि', 'जोकि' आदि तक के सही प्रयोग का ख्याल रखे बिना, अपनी 'रचना' (यदि किसी तरह रचना माना जा सके तो) में आवृत्तियों का दोष देखे बिना दो-ढाई कालम लिख कर आत्मतुष्ट हो जाता है और समझ बैठता है कि वह बहुत बड़ा 'लिक्खाड़' है।

अग्रलेखों और टिप्पणियों के लेखकों में भाषा और शैली की विशिष्टता के

साथ यह भी देखना होता है कि वे जो कुछ लिखते हैं उसमें परिमाण ही है या कुछ गुण भी। ऐसे कुछ पत्रकार जरूर हुए है, जिनका अभ्यास और अधिकार ऐसा हो गया था कि वे जो कुछ लिखते थे उसमें परिमाण के साथ गुण भी रहता था। किन्तु ऐसे लोग अपवाद में ही आते हैं। सामान्यतः हर अग्रलेखक या टिप्पणी-लेखक को इतना समय मिलना चाहिए कि वह सम्भल-सम्भल कर लिखे और लिख लेने के बाद दोहरा ले। ऐसा न होने पर कोई आत्मतुष्ट होकर भले बैठा रहे, और साधारण पाठकों का ध्यान उसके लेखन-दोष की ओर भले ही न जाय, भाषा के कुछ पारखी विद्वज्जन हँसेंगे ही और ऐसे 'लिक्खाड़ों' की कृति' की ओर से मुँह फेर लेंगे। कोरी प्रचारप्रियता के इस युग में सारे दोषों के बावजूद अखबार पर बहुत दिनों तक नाम चढ़ा रहने के कारण कोई सम्पादक (तथाकथित) अपनी एक स्थिति भले ही बना ले, किन्तु 'भावी पीढ़ी का कोई भी गम्भीर विद्यार्थी उसे वही मान्यता नहीं देगा, जो उसे किसी तरह वर्तमान में मिलती रहती है।

जैसाकि आगे पूरे एक अध्याय में प्रतिपादित किया गया है, लिखना पत्रकार की एक प्रमुख योग्यता ही नहीं, धर्म भी है; किन्तु कुछ ऐसे लोग होते हैं, जिन्हें लिखने की इच्छा तो बहुत होती है, किन्तु इस इच्छा के साथ योग्यता प्राप्त करने या प्राप्त योग्यता को बढ़ाने की कोई चिन्ता नहीं होती। ये कोशिश-पैरवी से सम्पादक तथा लेखक (अखबारी लेखक) बन भी जाते हैं और अनेक योग्य पत्रकारों से अधिक, कहीं अधिक, विज्ञापित हो जाते हैं। कोशिश-पैरवी और उसके बाद यह विज्ञापन—ये दो चीजें ही उनकी 'विशेष-योग्यता' होती है। क्या बुद्धि-जगत में उनकी ऐसी 'विशेष-योग्यता' समाज के किसी काम आ सकती है? सम्पादक-पद के लोलुप या उससे लिप्त ये लोग 'लेखन-कार्य' पर ऐसे टूट पड़ते हैं कि इन्हें पत्र के हित में, अपनी शैली और भाषा के हित में किसी बात का ख्याल नहीं रह जाता और अपने किसी योग्य सहकर्मी या सहयोगी को भी कुछ अवसर देने में उन्हें डर लगने लगता है। रोज-रोज लिखने वाले ऐसे सम्पादक अपने भय की बात छिपाने के लिए कुछ ऐसा प्रदर्शित करते हैं मानो उनकी लेखन-क्षमता अद्वितीय है और सम्पादक-मण्डल में उनके सिवा और कोई लेखन-अधिकारी नहीं हो सकता। ऐसा सम्पादक प्रेरणा-धर्म से भ्रष्ट माना जायगा और उसके बारे में यह समझा जायगा कि उसने विशिष्ट पत्रकारों के लिए कहे गये निम्नलिखित सूत्र का मर्म नहीं समझा है (या उसे जाना ही नहीं है) :—

"किसी पत्रकार को सबसे अधिक अध्ययन करना चाहिए, उसके बाद चिन्तन करना चाहिए, फिर उससे कम लिखना चाहिए और सबसे कम बोलना चाहिए।" हाँ जहाँ परिस्थिति ही ऐसी हो कि एक ही व्यक्ति को रोज-रोज लिखना पड़े वहाँ की बात दूसरी है।

लेखक-सम्पादक के रूप में अपनी स्थिति दृढ़ हो जाने पर कुछ लोगों मे ऐसी ग़लतफ़हमी आ जाती है कि वे अपने को कहीं-न-कहीं अयोग्य तथा सहयोगियों में से कुछ को अधिक योग्य मानने के लिए तैयार नहीं होते। पत्रकारों के बीच घुस आये ऐसे व्यक्तियो को क्या पत्रकारिताद्रोही, पत्रद्रोही, नहीं कहना चाहिए ? ये पत्रकारिताद्रोही और पत्रद्रोही व्यक्ति वस्तुत: आत्म-लाघव तथा आत्मविश्वासहीनता से पीड़ित होते हैं। इसीलिए वे अपने किसी सहयोगी को कहीं-न-कहीं अपने से योग्य मानने के लिए तैयार नहीं होते; किन्तु मन-ही-मन उससे डरते भी रहते हैं और उसे हटा देने तक की कोशिश करते रहते हैं। ऐसे लोगों से यह आशा भला कैसे की जा सकती है कि ये पत्रकारिता मे लेखन-योग्यता के प्रश्न पर तथा सम्पादन से सम्बन्धित अन्य योग्यताओं के प्रश्न पर कभी भी कुछ विचार कर सकेंगे।

सम्पादन से सम्बन्धित तमाम योग्यताओं पर सम्पादक की हैसियत से वही व्यक्ति ईमानदारी से विचार कर सकता है जिसे अपनी योग्यता-साधना पर विश्वास हो और जो यह समझता हो कि किसी की योग्यता छीनी नहीं जा सकती। इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने वाले सम्पादक की दिलचस्पी अपने सभी सहयोगियों को लिखने-पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करने में, औरों की योग्यता का आदर करने में तथा पत्र के लिए सभी योग्य व्यक्तियों की योग्यता का उपयोग करने में होती है। अपनी इस दिलचस्पी से सम्पूर्ण पत्र का व्यक्तित्व ऊँचा उठा कर वह अपना व्यक्तित्व भी सही रूप में प्रतिष्ठित कर लेता है और उसे यह बोध हो जाता है कि पूरे पत्र के व्यक्तित्व के ऊँचा उठे बिना उसका अपना व्यक्तित्व विशेष महत्व का नहीं हो सकेगा।

पत्र और पत्रकार दोनों के व्यक्तित्व को दृष्टि में रख कर पत्रकार की जो परिभाषाएँ बतायी गयी हैं उन्हीं के अनुसार क्या कुछ कम योग्यता की आवश्यकता है ? और जब यह कहा गया हो कि सारा राष्ट्र पत्रकार का स्वाध्याय-पीठ है और उसका पाठ्यक्रम सम्पूर्ण वर्ष बिना अवकाश के चलता रहता है, तब तो

बी० ए० एम० ए० या इनसे भी ऊँची किन्हीं डिग्रियों का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। और फिर, 'डिग्रियों' का जो हाल है उसे योग्यता का परिचायक कैसे मान लिया जाय। क्या किसी डिग्री के लिए निर्धारित पूरे पाठ्यक्रम का अध्ययन करके परीक्षाएँ पास की जाती हैं? परीक्षाओं के सम्बन्ध में एक सर्वविदित तथ्य यह है कि वे प्रायः नोट पढ़ कर और कुछ खास-खास प्रश्नों पर तैयारी करके पास कर ली जाती हैं और परीक्षा पास करने के बाद कम-से-कम अपनी डिग्री की इज्जत बनाये रखने के ही विचार से अपने वे विषय नहीं दोहराये जाते जिनमें डिग्री मिली होती है। नोटों से पढ़ने वाले विद्यार्थियों और नोटों से पढ़ाने वाले अध्यापकों की तथा सम्पूर्ण शिक्षा-प्रणाली एवं परीक्षा-प्रणाली की जैसी आलोचनाएँ होती आयी हैं उन्हें देखते हुए विश्वविद्यालयीय उपाधियों का वास्तविक मूल्य या महत्त्व मालूम हो जाता है। अस्तु, पत्रकारिता की न्यूनतम योग्यता के विचार से भी सामान्यतः विश्वविद्यालयीय डिग्रियों पर निर्भर नहीं किया जा सकता। पत्रकारिता के लिए उसी व्यक्ति की डिग्री कुछ सार्थक हो सकती है जो कम-से-कम अपनी डिग्री की इज्जत बनाये रखने के विचार से अपने विषय दोहराता रहे और उनके ज्ञान का विस्तार करने की आवश्यकता महसूस करता रहे। यदि किसी ने डिग्री तो प्राप्त कर ली हो, किन्तु स्वभाव से कुछ अध्ययनशील न हो या कम-से-कम अध्ययन की आवश्यकता ही महसूस न करता हो तो उसकी डिग्री पत्रकारिता के लिए व्यर्थ है या उसे अधिक-से-अधिक एक कामचलाऊ योग्यता के रूप में देखा जा सकता है।

यों तो, वास्तविक ज्ञान के क्षेत्र में यही माना जाता है कि योग्यता का मापदण्ड परीक्षा नहीं है, फिर भी इधर अन्य क्षेत्रों की तरह पत्रकारिता के क्षेत्र में भी, विश्वविद्यालयों या अन्य विद्यापीठों की उपाधियों का प्रश्न विशेष रूप से उठने लगा है। और यह ठीक भी है। यदि किसी व्यक्ति ने कोई उपाधि या पदवी प्राप्त किये बिना अपनी विशिष्टता का कोई पूर्व-परिचय न दिया हो और यदि सूक्ष्म रूप में हर व्यक्ति की परीक्षा लेना सम्भव न हो तो प्रारम्भ में कोई एक प्रत्यक्ष मानदण्ड तो निश्चित करना ही पड़ेगा। यह मानदण्ड विश्वविद्यालयीय उपाधि के अलावा और क्या हो सकता है। शिक्षा-प्रणाली, शिक्षा-पद्धति और उनके स्तर आज चाहे जो हों, और उनकी आलोचनाएँ चाहे जितनी हो रही हों, कहीं भी नियुक्तियों में विश्वविद्यालयीय उपाधि के विचार से छुटकारा नहीं मिल सकता। किन्तु, पत्रकारिता के क्षेत्र में, नियुक्ति के सम्बन्ध में आँख मूँद

कर केवल इसी एक मानदण्ड को मान लेने से अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ और समस्याएँ भी प्रस्तुत हो जा सकती हैं। कोई अभ्यर्थी प्रथम श्रेणी में ही उत्तीर्ण क्यों न हो, यदि उसकी रुचि किसी दूसरी दिशा में है, किन्तु परिस्थितिवश पत्रकारिता की ओर मुड़ गया हो, तो बहुत सम्भव है कि वह किसी दूसरे पेशे की ओर भागने का ही इरादा रखने के कारण वास्तविक रूप में पत्रकार न बन सके। पहली बात तो यह है कि पत्रकारिता के क्षेत्र में सामान्यत: कोई आर्थिव आकर्पण न होने के कारण, प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण विद्यार्थी आकृष्ट ही नही होते।

जो व्यक्ति पत्रकारिता के ऊँचे आदर्शों और ऊँची कल्पनाओं को कुछ समझ कर उनके अनुसार पत्रकार बनना चाहता है और किसी पत्र का सम्पादन करने के लिए आता है उसमें तो पहले से ही (समाचारपत्र में आने के पहले से ही) अर्जित एक विशेष योग्यता होनी चाहिए—उस विश्वविद्यालयीय योग्यता से कहीं अधिक, जिसका एक चित्र ऊपर दिया गया है। पत्र के कार्यालय में आकर ही सब कुछ सीख लेने का विचार रखने वाले अपने को एक शिक्षार्थी मान कर ही प्रविष्ट हो सकते हैं, जबकि ऊँचे आदर्शों से प्रेरित विशेष योग्यता वाले व्यक्ति को ऐसे शिक्षार्थी बनने की कोई आवश्यकता नहीं हो सकती। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वहाँ जा कर नित नये अनुभव होते हैं और जानकारी बढाने का कुछ-न-कुछ अवसर बराबर मिलता रहता है। किन्तु सम्पादकीय विभाग कोई ऐसा स्कूल या कालेज नहीं होना चाहिए जहाँ कुछ लोग अध्यापकों की तरह अध्यापन करते हों और कुछ लोग शिष्य की तरह शिक्षा प्राप्त करने बैठे हों। समाचारपत्र में तो ऐसा होना चाहिए कि हर सम्पादक आत्मविश्वास के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक (दूसरों पर निर्भर रहे बिना) काम करने में समर्थ रहे, ताकि वक्त पड़ने पर ऐसा न हो कि किसी 'गुरु' के बिना उसके हाथ-पाँव फूल जायँ। यहाँ इस सम्बन्ध में पण्डित विष्णुदत्त शुक्ल का यह कथन कि 'पत्रकार का काम बहुत टेढ़ा होता है, अतः इसमें प्रवेश करने से पहले खूब सोच-समझ लेना चाहिए' बहुत कुछ स्पष्ट कर देता है। इस कथन का भी अर्थ यही है कि जो व्यक्ति किसी पत्र का सम्पादन करने के लिए आना चाहता है उसमें पहले से ही अर्जित एक योग्यता होनी चाहिए और उसे पत्रकारिता के ऊँचे आदर्शों से कुछ प्रेरित होना चाहिए। वास्तविक पत्रकारिता के लिए यदि आकर बहुत कुछ सीखने या बराबर सीखते रहने की आवश्यकता होती है तो उसमें आने के

पहले भी बहुत कुछ सीखे रहना, आदर्श निश्चित किये रहना, कम आवश्यक नहीं होता।

जबकि किसी पेशे में प्रविष्ट होने के पहले उस पेशे के अनुकूल कुछ विषयों के ज्ञान की अपेक्षा की जाती है और साक्षात्कार के लिए आने वाले अभ्यर्थी उन विषयों पर कुछ प्रश्न तैयार किये रहते हैं, पत्रकारिता में आने के इच्छुक लोगों को यह जानने की भी जैसे कोई आवश्यकता या चिन्ता नहीं रहती कि पत्रकारिता के क्षेत्र के दस-पाँच प्रमुख व्यक्तियों के नाम तो जान लें। पत्रकारिता पर जो थोड़ी-बहुत किताबें लिखी गयी हैं उनमें से दो-चार पहले से ही पढ़ कर आने वाले तो दिखलायी ही नहीं देते। हिन्दी-समाचारपत्रों के पुराने पाठकों को यह सुन कर आश्चर्य होगा, शायद विश्वास नहीं होगा, कि १९७० में पत्रकारिता में प्रविष्ट एक व्यक्ति पराड़करजी और गर्देजी के नामों से परिचित नहीं था। यदि पत्रकारिता की नहीं, तो कम-से-कम अपनी ही लाज रखने के लिए तो यह महसूस करना चाहिए कि जिस भाषा के पत्र का 'सम्पादन' करने निकले हैं उसके प्रमुख पत्रकारों के नाम जानना, उसकी पत्रकारिता के इतिहास से कुछ परिचित होना आवश्यक है। एक बार जब अखबार में दाखिल हो गये और 'काम चलाने लगे' तो फिर कहाँ इतनी फुर्सत कि पत्रकारिता पर किताब पढ़ी जायँ या कुछ खास पुराने पत्रकारों के नाम जाने जायँ !

आज तो पत्रकार कहलाने के लिए बस 'किसी तरह किसी पत्र में एक बार प्रविष्ट हो जाना' काफी है। महीने-दो-महीने के भी 'पत्रकार' हो गये तो घूम-घूम कर विज्ञापन करने-कराने लगे। किसी को यह समझने की आवश्यकता भला क्यों होने लगी कि 'यदि पत्रकारिता को साधना और आदर्श के रूप में न लेकर अन्य पेशों की तरह एक साधारण पेशे के रूप में ही लिया जाय, तो यह प्रश्न उठेगा कि जिस प्रकार किसी मामूली-से-मामूली पेशे में उसके स्वरूप को समझने और उससे सम्बन्धित कुछ नियमों को जानने के लिए कम-से-कम साल-छः महीने का समय देना पड़ता है, उसी प्रकार क्या पत्रकारिता को समझने और उसके लिए न्यूनतम योग्यता अर्जित करने के लिए भी कुछ समय की अपेक्षा नहीं है ?' किन्तु, यहाँ इस पेशे का हाल यह हो गया है या हो रहा है कि कुछ नवयुवक यह समझते हैं कि एक बार जहाँ अखबार में प्रविष्ट हुए कि सम्पादक बन गये। आखिर ऐसी समझ का भी कोई कारण अवश्य है। इस समझ के लिए वस्तुतः वह परिस्थिति जिम्मेदार है जो प्रथमतः आर्थिक

कारणों से पत्र-संचालकों द्वारा बनायी गयी है और किसी को भी पत्रकार बन जाने के लिए प्रोत्साहित करती है। वेतन का कोई आकर्षण न होने और न सम्मान की ही विशेष स्थिति रह जाने के कारण जब सामान्य योग्यता वाले या मात्र कृपापात्र व्यक्ति सम्पादक तक बन जाते देखे जा रहे हों तो यह पेशा सस्ता क्यों न माना जाय ?

योग्यता पर दो विचार

लगता है कि योग्यता के सम्बन्ध में पहले भी कुछ लोगों के विचार बहुत स्पष्ट नहीं थे और इसी कारण पहले से ही ऐसे कुछ लोगों को भी पत्रकारिता में घुस आने का प्रोत्साहन मिलता रहा, जो वास्तव में पत्रकार के समुचित गुणो से सम्पन्न नहीं थे और न आत्मविकास के ही इच्छुक थे। उस समय भी, इसका कारण मुख्यतः आर्थिक था, हालाँकि सम्मान का आकर्षण आज से कुछ अधिक था और तत्कालीन मानदण्ड के अनुसार कुछ विशेष योग्यता की अपेक्षा की जाती रही। कुछ कठिनाइयों की वजह से, खास करके अपेक्षित योग्यता वाले व्यक्तियों में से बहुत कम का झुकाव इधर होने के कारण, उस समय भी 'कामचलाऊ' वाला सिद्धान्त यदि पूर्णतः नहीं तो अंशतः मान लिया गया था। जो कुछ भी हो, साधारण और असाधारण योग्यता के प्रश्न पर कम-से-कम एक प्रकार का द्वन्द्व तो चलता ही रहा। इस द्वन्द्व के परिणामस्वरूप साधारण योग्यता वाले व्यक्ति कम-से-कम उदासीनता और निष्क्रियता में आकण्ठ नही डूबते थे, कुछ प्रयत्नशील रहते थे। किन्तु, आज तो ऐसा कोई द्वन्द्व छिड़ा नही दिखलायी देता। अतीत के इस द्वन्द्व का एक परिचय हमें पण्डित विष्णुदत्त शुक्ल की पत्रकार-कला पर लिखी गयी पुस्तक से उद्धृत निम्नलिखित शब्दो मे मिल जाता है :—

"पत्रकार के लिए शिक्षासम्बन्धी किसी असाधारण योग्यता की आवश्यकता नहीं होती। यह आवश्यक नही है कि पत्रकार की हैसियत से सफलता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को असाधारण विद्वान होना चाहिए। जो कुछ आवश्यक है, वह यह है कि उसमें उतना साहित्यिक ज्ञान हो कि वह रोजमर्रा की, बोलचाल की, भाषा में समाचार लिख सके और साधारण बुद्धिमानी औ सचाई के साथ, स्पष्ट शब्दों में उन पर अपने विचार प्रकट कर सके। उसके लिए धुरन्धर पण्डित होने की अपेक्षा बहुश्रुत होना अधिक आवश्यक होता है जो मनुष्य बहुश्रुत होने के साथ जितना अधिक विद्वान् होगा वह उतनी ही

योग्यता से काम कर सकेगा। किन्तु, साधारणतः पत्रकारों के लिए यही आवश्यक होता है कि वे किसी एक विषय का अधिक ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा अधिक विषयों का थोड़ा-बहुत ज्ञान रखें। अंग्रेजी-लेखकों के शब्दों में पत्रकार को समस्त विषयों का कुछ और कुछ विषयों का समस्त ज्ञान होना चाहिए......................पत्रकार का काम इससे भी चल सकता है कि जिन विषयों का ज्ञान उसे न हो उन विषयों के सम्बन्ध में वह यह जानता हो कि उनका ज्ञान कहाँ से प्राप्त हो सकता है। उसमें सब कुछ जानने की विलक्षण जिज्ञासा होनी चाहिए। 'संसार से उदासीनता' के दार्शनिक विचार उसके लिए कदापि श्रेयस्कर नहीं हैं। वे व्यक्ति जो यह कह कर कि 'हमें अमुक घटना से क्या पड़ी है' किसी घटना के सम्बन्ध में उपेक्षा प्रकट करते हैं, पत्रकार बनने के योग्य नहीं होते। पत्रकार को तो घटनाओं की और उनके कारणों, परिणामों की उधेड़-बुन में रात-दिन लगा रहना चाहिए।"

यदि ध्यान से देखा जाय तो शुक्लजी के उपर्युक्त कथन में दो-तीन वाक्यों को छोड़ कर सभी 'विशेष योग्यता' की आवश्यकता की ओर ही संकेत करते हैं। उनके पूरे कथन के मूल में 'विशेष योग्यता' की ही प्रधानता है। किन्तु, जिस ढंग से ,उन्होंने कहा है उसमें बहुतों को भ्रम हो सकता है या कुछ लोग अपने मतलब की ही बात निकालेंगे--अपनी अल्पज्ञता को छिपाने या उसकी वकालत करने के लिए। साधारण अभ्यर्थी को तो उपर्युक्त उद्धरण के प्रथम दो वाक्य ही प्रिय लगेंगे। किन्तु, इन दो वाक्यों को छोड़ कर अन्त तक प्रत्येक वाक्य यही बताता है कि पत्रकार की योग्यता कुछ विशेष होनी ही चाहिए। शुक्लजी ने साहित्य का ज्ञान रखने की, बहुश्रुत होने की, अधिक विषयों का थोड़ा-बहुत और कुछ विषयों का समस्त ज्ञान प्राप्त करने की, विलक्षण जिज्ञासु होने की और घटनाओं तथा उसके कारणों व परिणामों की उधेड़-बुन में रात-दिन लगे रहने की जो आवश्यकता बतलायी है, क्या वह कुछ कम है ?

शुक्लजी ने अपनी पुस्तक के प्रारम्भ में ही यह कह दिया है कि "पत्रकार का काम बड़ा टेढ़ा है, अतः इसमें प्रवेश करने के पहले खूब सोच-समझ लेना चाहिए।" उन्होंने अपनी पुस्तक में आगे यह भी तो लिखा है कि पत्रकारों की योग्यता और उनके गुणों को गिनाना बहुत कठिन है। उनके गुण प्रायः नैसर्गिक होते हैं। किन्तु, शुक्लजी के विचारों का अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने

प्रवेशार्थियों को बिलकुल निराश कर दिया है। उन्होंने जहाँ नैसर्गिक गुणों या अन्य गुणों की चर्चा की हैं वहीं यह भी माना है कि निरन्तर अभ्यास करते रहने पर कोई भी व्यक्ति इन गुणों से विभूषित हो सकता है। किन्तु, यह निरन्तर अभ्यास भी तो एक बड़ी समस्या है। यह प्रश्न तो तभी हल हो सकता है जब पत्रकारिता के प्रति पत्रकार की निष्ठा हो और पत्र-संचालक भी केवल 'खर्च घटाओ' और 'शासन करो' में दिलचस्पी न लेकर पत्रकारिता मे, पत्रकारितानुकूल परिस्थिति और वातावरण में भी कुछ दिलचस्पी लेता हो। नैसर्गिक गुणों का परिचय देने के लिए, नये-नये गुणों से विभूपित होने के लिए और उनका विकास करने के लिये परिस्थिति और वातावरण पर विचार न करना पत्र-संचालन में प्रमुख दोष है।

इस पेशे को हँसी-खेल समझने वालों की ओर संकेत करते हुए शुक्लजी ने अ गे लिखा है :—'साधारण शिक्षा का पाठ्यक्रम समाप्त करते ही, यदि उनमें दो अक्षर लिखने की शक्ति हुई तो वे इस ओर दौड़ पड़ते हैं और बिना उसकी पात्रता प्राप्त किये ही उसमें हाथ-पैर फेंकने लगते हैं। बात यहीं से समाप्त नहीं होती। उनकी सबसे बड़ी गलती तो यह होती है कि वे इस मार्ग पर पैर रखते ही आसमान फाड़ डालना चाहते हैं। वे किसी समाचारपत्र के दफ्तर में एक साधारण रिपोर्टर या संवाददाता होकर काम करना पसन्द नहीं करते, वरन् सीधे सम्पादक या, उतना सुलभ न हुआ तो, उप-सम्पादक तो जरूर हो जाना चाहते हैं। कभी-कभी तो किसी प्रचलित पत्र में इस प्रकार का स्थान न पा कर वे नया पत्र तक निकालने की धृष्टता कर बैठते हैं, किन्तु किसी हालत में सम्पादक से नीची जगह पर काम करने के लिए तैयार नही होते। ऐसे लोगों के असफल होने की सदा आशंका रहती है और साधारण अनुभव में यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि ऐसे लोग—जिनमें अत्यन्त असाधारण प्रतिभा और योग्यता होती है उन मनुष्यों को छोड़ कर—असफल ही होते हैं।..................अत्यधिक महत्वाकांक्षा अनिष्टकर होती है। जिन विचारों में प्रौढ़ता नहीं होती वे कोई शक्ति नही रखते। अप्रौढ़ विचार लेकर कोई सम्पादकीय विचार प्रकट नहीं कर सकता और यदि वह ऐसा करता है तो अनधिकार चेष्टा करता है।"

शुक्लजी के उपर्युक्त विचारों को सामने रख कर ये प्रश्न उठते हैं : यदि साधारण शिक्षा का पाठ्यक्रम समाप्त करते ही कोई इस ओर दौड पड़ता हो और पात्रता प्राप्त

> किये बिना ही हाथ-पैर फेंकने लगता हो तो उसे कैसे रोका जाय ? यदि कोई सीधे सम्पादक बन जाना चाहता है तो उसकी इस आकांक्षा के औचित्यानौचित्य पर विचार कर कौन उसे सहायता दे या उस पर अंकुश लगाये ? किसी नौसिखुए द्वारा पत्र निकाले जाने पर कौन उसे धृष्ट घोषित करे ? आज की स्थिति में, जब लोकतन्त्र के नाम पर हर तरह की स्वतन्त्रता की बात उठायी जाती है, क्या यह सम्भव है कि अप्रौढ़ विचार वालों पर ऐसा कोई नियन्त्रण लगा दिया जाय कि वे सम्पादकीय विचार प्रकट न कर सकें—ऊटपटांग बातें न लिख सकें ? क्या लोकतन्त्र के अन्तर्गत ही, लोकतन्त्र का कहीं कोई विरोध किये बिना ही, कोई पत्रकार-विचारक यह समझा सकता है कि यदि लोकतन्त्र एक गतिशील चिन्तन-प्रणाली है, तो गतिशीलता की ही दृष्टि से योग्यता के महत्त्व पर विचार करते हुए रोक या नियन्त्रण की बात अवश्य उठायी जा सकती है ?

विचार-प्रौढ़ता की जो बात शुक्लजी ने कही है उसकी उपेक्षा करके पत्रकारिता समृद्ध नहीं हो सकती और पत्रकार सम्मानित नहीं हो सकता। यहाँ हम प्रौढ़ता की बात पर कुछ और प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं। विचार की प्रौढ़ता की सबसे बड़ी परीक्षा इस बात में होती है कि उसे पढ़ने या सुनने वाले के मन और बुद्धि पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है। किन्तु, मन और बुद्धि पर प्रभाव डालने की कला में निपुण होने से ही किन्हीं विचारों को प्रौढ़ नहीं मान लिया जा सकता। विचारों की प्रौढ़ता वस्तुतः इसमें देखी जानी चाहिए कि कोई व्यक्ति धारणाओं या पूर्वग्रहों से पिण्ड छुड़ा कर वास्तविकता को समझने की कितनी कोशिश करता है और वास्तविकता को समझने के लिए उसका आधार कितना मजबूत है। इतना ही नहीं, उसे यह भी देखना पड़ता है कि वास्तविकता को समझ लेने के बाद, बन्धनों के बावजूद, उसे किस चातुर्य से व्यक्त करता है। वस्तुस्थिति को छिपाने की कला में भी यदि विचारों की प्रौढ़ता-जैसी कोई चीज दिखलायी देती हो तो उसे विचार-प्रौढ़ता मानना बुद्धि की दुर्बलता है। पत्रों का जो व्यावसायिक स्वरूप है और उनके जो तरह-तरह के स्वार्थ-बन्धन हैं उन्हें देखते हुए विचारों की प्रौढ़ता का समुचित उपयोग

करना कठिन जरूर है, किन्तु जिन पत्रकारों के विचार सचमुच प्रौढ़ होते हैं, वे अपनी प्रौढ़ता का उपयोग कर ले जाते हैं। किन्तु, जब आमतौर पर बहुतों के लिए यह पेशा 'हँसी खेल' हो गया हो, यानी खूब सोच-समझ कर इसमें प्रवेश करने की आवश्यकता का अनुभव न करने वालों का प्राधान्य हो गया हो तब विचारों की प्रौढ़ता की आशा क्या की जाय।

योग्यता के सम्बन्ध में इतनी बात तो समझनी ही है कि आदर्श और साधना की दृष्टि से असाधारण योग्यता का प्रश्न हो, या, पत्रकारिता को एक साधारण व्यवसाय के ही रूप में मान कर उसका एक सामान्य स्तर कायम रखने की योग्यता का प्रश्न हो, मानदण्ड तो निश्चित करना ही पड़ेगा। यदि कोई अच्छा रोजगारी एक दूकान खोलता है तो उसे वह सजा कर रखना चाहता है, वह ऐसा सेल्समैन नियुक्त करता है जो ग्राहक के साथ बातचीत करने में होशियार हो। वह चीजें भी अच्छी रखता है। कहने का मतलब कि कुशल दूकानदार यह जानता है कि दूकानदारी भी एक कला है, जिसे चलाने के लिए कुछ योग्यता अपेक्षित होती है। तो फिर पत्र-व्यवसाय में भी यह बात क्यों न सोची जाय? पत्र का पहला आकर्षण उसकी भाषा में होता है, या, होना चाहिए। उसके बाद समाचार-चयन, पृष्ठों की सजावट और आकर्षक एव सार्थक शीर्षक तथा सामयिक विषयों पर सुरुचिपूर्ण सामग्री की आवश्यकता होती है। अब बताइए, ऐसे आकर्षण के लिए कैसे सेल्समैन की आवश्यकता होगी?

अग्रलेखों और टिप्पणियों के प्रसंग में ऊपर भाषा पर कुछ विचार किया गया है। यहाँ कुछ और विचार कर लिया जाय। भाषा की दृष्टि से पत्र के आकर्षण के लिए, इतना तो ध्यान रखना ही होगा कि सम्पादक अगर शैलीकार न हो तो कम-से-कम उसमें इतनी योग्यता तो हो कि वह कालेज के विद्यार्थी की भाषा से कुछ अच्छी भाषा लिख सके, उसमें शब्दों तथा वाक्यों का बचकाना प्रयोग न हो, कृत्रिमता न आये, युक्तिहीन अनुकरण न मालूम पड़े। समाचारों की भाषा के सम्बन्ध में, शुक्लजी के शब्दों में कम-से-कम इतना ज्ञान तो होना ही चाहिए कि समाचार रोजमर्रा की, बोलचाल की भाषा में इस प्रकार लिखे जांय कि पाठक को समझने में कठिनाई न हो और वह यह महसूस करता चले कि उसकी भी अपनी एक परिष्कृत भाषा बन रही है। रोजमर्रा या बोलचाल की भाषा के प्रयोग का यह मतलब नहीं कि उसमें सम्पादक को कोई निखार लाने की आवश्यकता नहीं।

एक जमाना था जब पढ़े-लिखे अभिभावक बच्चों से कहा करते थे कि "सुधरी भाषा लिखने और बोलने का अभ्यास करना हो तो अखबार पढ़ा करो", और एक समय आज है जब लोग कुछ पत्रों के नाम लेकर कहते हैं कि "यदि किसी को अपनी भाषा बिगाड़नी हो तो इन्हे पढ़ें।" ऐसे किसी पत्र से पाठकों की भाषा बिगड़ने की बात तो जाने दीजिए, अपेक्षाकृत अच्छी भाषा लिखने वाला व्यक्ति भी, परिस्थितिवश ऐसे पत्र में काम करने के लिए बाध्य होने पर अपनी भाषा बिगाड़ लेता है। "यदि किसी को अपनी भाषा बिगाड़नी हो तो इन्हें पढ़े"-जैसी उक्तियों के सम्बन्ध में और अधिक कुछ न कह कर यह प्रस्ताव आवश्यक मालूम पड़ता है कि मनमानी, अटपटी, ऊटपटांग और व्याकरण के नियमों से 'मुक्त' भाषा की आलोचनाएँ जिस प्रकार पहले कभी होती थीं उसी प्रकार एक बार फिर शुरू हों। लेकिन अपने प्रचार के लिए सम्पादक के सहयोग के लोभ के कारण क्या कोई विद्वान् आलोचना करके सम्पादक को नाराज करना चाहेगा ?

व्याकरण के अनुशासन या व्याकरण के पुराने नियमों में परिवर्तन की आवश्यकता की दृष्टि से या अपने अनुभवों के आधार पर आवश्यकतानुसार नियमोल्लंघन के उचित साहस की दृष्टि से, जो कुछ करना है उस पर यदि अकेले पत्रकारों द्वारा विचार न किया जा सके तो भाषा और साहित्य-जगत् के अधिकारी विद्वानों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए। किन्तु, प्रश्न तो यह है कि जो पत्रकार अपनी भाषा बिगाड़ चुके हैं और उसमें कोई सुधार करने में असमर्थ हो गये हैं वे क्या इस तरह का कोई सहयोग चाहेंगे ?

वाक्य-रचना और शब्दों के प्रयोग में होने वाली गलतियाँ, जो पत्रों में अक्सर मिलती रहती हैं, कहाँ तक गिनायी जायें। उदाहरणार्थ, एक गलती, जो साधारणत: सबकी पकड़ में नहीं आती, यह है कि एक ही वाक्य में किसी शब्द का स्थान बदल जाने से उसके भाव बदल जाते हैं, किन्तु प्रयोग करने वाला उस पर ध्यान नहीं दे पाता। इसी प्रकार एक दोष यह देखने में आता है कि प्राय: कर्ता और कर्म के पास होने से तत्काल अर्थ समझने में कुछ कठिनाई होती है। अँग्रेजी वाक्य-रचना में 'जो' का प्रयोग जैसे होता है उसी तरह नकल करने से यह आसानी से समझ में नहीं आता कि इसका ('जो' का) सम्बन्ध किस शब्द या वाक्यांश से है। यदि इन गलतियों की वजह से अपने को अपनी ही भाषा समझ में न आती हो तो क्या कोई पत्रकार स्वयं कोई उपाय नहीं निकाल सकता कुछ ध्यान नहीं दे सकता ?

भाषा के साथ साहित्य का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान रखना पत्रकार के लिए आवश्यक बतलाया गया है। किन्तु, देखने में यही आता है कि अधिकांश लोग राजनीति में तथा समाचारों के चयन, मूल्यांकन और सम्पादन मे ही रुचि लेते हैं। यह एक विचित्र समस्या है कि जो लोग राजनीति में ही या केवल समाचारो में ही रुचि लेते हैं उन्हें भाषा और साहित्य में रुचि नहीं होती और जो लोग भाषा और साहित्य के रुचि लेते हैं उन्हें सम्पूर्ण सामाजिक, राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को दृष्टि में रख कर और राजनीति मूल्यांकन करते हुए समाचारों को ठीक-ठीक समझने में रुचि नहीं होती। परिणाम यह होता है, और है, कि पत्र में वह आकर्षण नही रह जाता जो दोनों पक्षों के मेल से सम्भव है।

आज कुछ ऐसा लगता है कि समाचारपत्रों पर मुख्यतः कोरे 'राजनीतिप्रेमी' टूट पड़े हैं—ऐसे राजनीतिप्रेमी जो राजनीति तो बहुत कम जानते हैं, किन्तु दलीय राजनीति में अधिक लिप्त रहते हैं। भाषा-प्रेमियों तथा साहित्य-प्रेमियों के लिए तो जैसे कोई स्थान ही नहीं रह गया है। सौ में शायद दस-पाँच पत्र ऐसे होंगे जिनमें कुछ भाषा-प्रेमी और साहित्यिक या साहित्य-प्रेमी मिल जायँ। राजनीतिक दलों से सम्बद्ध पत्रकारों में यदि दो-चार प्रतिशत साहित्यिक रुचि वाले निकल आयें, तो बड़ी बात समझिए। साहित्य की बात तो अलग रही, भाषा ही अगर कुछ ढंग की लिख लें तो यही बहुत होगा। अनुभव बताता है कि राजनीतिक दल से पूरी तरह आबद्ध होने के कारण मनोवृत्ति और रुचि केवल प्रचारवादी हो जाती है। यह प्रचारवादी मनोवृत्ति और रुचि साहित्य मे रस नहीं लेने देती। परिणाम यह होता है कि पत्रकार के हृदय में वह तरलता और सरलता नहीं आ पाती जिसकी वास्तविक जनसेवा में (पत्र के माध्यम से जितनी हो सकती हो) आवश्यकता होती है। हृदय की तरलता और सरलता का अभाव पत्रकारिता में एक बड़ा दोष है।

जिनके पत्रकारिता-जीवन के साथ-साथ राजनीतिक जीवन भी चलता रहता है उनमें से इने-गिने ही ऐसे होते हैं, जो अपने इन दो जीवनों के बीच साहित्य-माधुर्य का 'दुःखद अभाव' महसूस करते हों और यह समझते हों कि यह अभाव एक दोष है। स्वयं इन पंक्तियों का लेखक अपनी आलोचना का प्रयास करते हुए, आत्मविश्लेषण करते हुए, कचोट और कसक के साथ यह महसूस करता है कि यदि वह राजनीतिक पृष्ठभूमि वाला या कोरा पत्रकार न

हो कर साहित्यिक पृष्ठभूमि वाला भी होता तो उसका सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय विशेष आकर्षक हो जा सकता था।

साहित्य और पत्रकारिता के बारे में प्रारम्भ से ही एक विवाद चला आ रहा है। कुछ लोगों ने इन्हें एक दूसरे का पूरक माना है, तो कुछ ने इस पर बल दिया है कि इनकी पृथक् सत्ताएँ मानी जानी चाहिएँ। पृथक् सत्ता मानने वालों को तो उन स्थलों पर भी भेद दिखलायी देता है जहाँ उनका प्राय: मिलन होता है। जो कुछ भी हो, अनेक चोटी के साहित्यकारों और चोटी के पत्रकारों ने यही कहा है कि "सर्वोत्तम पत्रकारिता साहित्य है और सर्वोत्तम साहित्य पत्रकारिता है।" एच० डब्लू० मसिंघम को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए बर्नार्ड शा ने जो शब्द कहे थे वे यही बताते हैं कि कुशल पत्रकार साहित्यकार से भिन्न नहीं है। अगर साहित्य का काम संसार को ठीक-ठीक देखना और परखना है, तो पत्रकारिता का भी पहला काम यही है। इस उद्देश्य की बात छोड़ दीजिए, साधारणतः हम जो कुछ देखते हैं उसी से यह महसूस हो जाता है कि उनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, कितना है। हमें पुस्तक के रूप में बहुत-सी ऐसी पाठ्य-सामग्रियाँ मिलेंगी, जो कभी पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी थी। तो फिर आज भी ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि आज की पत्र-पत्रिकाओं की कुछ सामग्रियाँ स्थायी मूल्य के साहित्य में आ जायँ। पत्र-पत्रिकाओं की सामग्रियो को पुस्तकों का रूप देने का विशेष प्रयास भारत में अधिक न हुआ हो, किन्तु विदेशों में, खास करके यूरोप और अमेरिका में तो, यह बराबर चलता रहा है। पत्र-पत्रिकाओ में प्रकाशित सामग्रियों के स्थायी मूल्य की होने का पता इसी से लगता है कि साहित्य के जाने कितने शोध-छात्र पुराने समाचारपत्रों और पत्रिकाओं की फाइलें उलटने में महीनों व्यस्त रहते देखे जाते हैं।

स्थायी साहित्य की दृष्टि से, खास करके शोध-कार्यों की दृष्टि से, अग्रलेखो का विशेष महत्त्व होता है। अतः इस दृष्टि से यदि किसी सम्पादक को भविष्य का भी कुछ ख्याल हो और वह अपने महत्त्व को, अपनी लेखनी के महत्त्व को प्रतिष्ठित रखना चाहता हो तो उसे अपने कार्य को 'बाएँ हाथ का खेल' नही समझना चाहिए। सचमुच ऐसे चिन्तित सम्पादक का कार्य कठिन होता है, उसे हमेशा सतर्क और सावधान रहना होता है। उसके सामने एक ओर वर्तमान बाधाएं, कठिनाइयाँ और समस्याएँ होती हैं, दूसरी ओर 'भविष्य में लोग क्या कहेंगे' इसकी चिन्ता रहती है ' पत्र की नीति प्रचारात्मकता प्रेस-कानून और

दूसरी बाधाओं के बावजूद अपने को युगद्रष्टा और भविष्यवक्ता सिद्ध करने की बात तो बहुत बड़ी होती है, यदि पत्रकार वर्तमान में अपने जिज्ञासु पाठकों को थोड़ा-बहुत सन्तुष्ट करता चले तो भी वह पत्रकारिता के इतिहास में, साहित्य-क्षेत्र में, अपना एक स्थान बना ले सकता है।

भविष्य में अपनी लेखनी का प्रभुत्व बनाये रखने की बात छोड़ दीजिए, वर्तमान में ही एक ओर जिज्ञासु पाठकों और दूसरी ओर पत्र की नीति, प्रेस-कानून और दूसरी बाधाओं के बीच अपनी कुशलता का परिचय देने का प्रश्न सामने रखा जाय। पग-पग पर यह समस्या आती है कि पत्र की नीति तथा नीति-सम्बद्ध प्रचारात्मकता और प्रेस-कानूनों का पालन किया जाय या पाठकों को सन्तुष्ट रखा जाय। कभी-कभी बेचारा योग्य (सत्यासत्य को समझने वाला) सम्पादक भी किन्हीं विषयों पर अपने को नीति और कानून में इतना जकड़ा हुआ अनुभव करता है कि कितनी ही सावधानी से वह लिखे, पाठकों का (प्रबुद्ध पाठकों का) कोपभाजन बन ही जाता है। बहुत से विषयों पर वह पाठकों को भुलावे में डाल सकता है, किन्तु सभी विषयों पर वह ऐसा नहीं कर सकता। इस जटिल या विचित्र स्थिति में जो लोग इतना कर ले जाते है कि जनता की भावनाओं को चोट न पहुँचे उनकी संख्या नगण्य है।

विचार और समाचार

अग्रलेख और टिप्पणियाँ लिखने का प्रश्न हो या समाचार प्रस्तुत करने का, एक साथ अपनी पत्रकारिता के प्रति, अपने पाठकों के प्रति और अपने मालिक या सरकार के प्रति उत्तरदायी होने की समस्या सचमुच बड़ी जटिल है, जिसका समाधान नहीं दिखलायी देता। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी होती आयी हैं कि एक साथ सब के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह किसी तरह कर ले जाने वाले भी अब अन्ततः मालिक, सरकार या दल-विशेष के प्रति ही उत्तरदायी होने का 'कर्त्तव्य' (?) पूरा करने वाले सिद्ध हो रहे हैं—अपनी कला और चातुर्य के बावजूद। ऐसी स्थिति में, कोई चारा न होने की वजह से समाचारों की दृष्टि से अखबारों का महत्त्व भले ही बना रहे, किन्तु अग्रलेखों तथा टिप्पणियों की दृष्टि से उनका महत्त्व घटता जा रहा है। अब तो ब्रिटेन और फ्रांस जैसे देशों में भी अग्रलेखों और टिप्पणियों का महत्त्व उतना नहीं रहा जितना पहले था। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, नयी स्थिति का परिचय इतने से ही प्राप्त कर

लिया जाय कि राष्ट्रपति गिरि तक को एक अवसर पर यह कहना पड़ा कि 'मैं अग्रलेख नहीं पढ़ता।'

विचाराभिव्यक्ति के मामले में जहाँ दिमाग पर मालिक, सरकार या दल के हावी होने की बात सोलहों आने सही हो, वहाँ भी तो ऐसे बहुत से विषय प्रतिदिन आते रहते हैं जिन पर पत्रकार अपनी स्वतन्त्रता (यदि वह बिलकुल कुचल नहीं दी गयी है) का, अपने अध्ययन, मनन और चिन्तन का परिचय दे सकता है। किन्तु, इसके लिए भी कुछ विशेष व्यवस्था की, कुछ विशेष सुविधा की, बात सोचनी होगी। आखिर कोई सम्पादक अध्ययन, मनन और चिन्तन कैसे करे। यदि कोई अद्भुत प्रतिभा और श्रमशीलता के गुणों से विभूषित हो तो किसी भी परिस्थिति में, अपवादस्वरूप, यह आशा की जा सकती है कि वह प्रतिदिन और हर विषय पर विद्वत्तापूर्वक तथा आकर्षक शैली में लिख सकता है, अन्यथा प्रतिदिन एक ही व्यक्ति द्वारा विचार प्रस्तुत करते रहने से भयंकर भूलें हो सकती हैं जिनसे वह अपने को ही नहीं पत्र को भी, हास्यास्पद एवं निन्दित बना दे सकता है—जैसा कि हो रहा है। यदि एक ही व्यक्ति पर रोज-रोज लिखने का भार डाल दिया जाता है तो जाहिर है कि पत्रों तथा पुस्तकों के अपेक्षित अध्ययन करने तथा सन्दर्भ पुस्तकों का (यदि उनकी व्यवस्था हुई हो तो) अवलोकन करने के लिए वह समय नहीं पा सकेगा, अपने को घटनाओं के विकासक्रम के साथ नहीं रख सकेगा, पृष्ठभूमि का स्मरण नहीं कर सकेगा और किसी घटना के नया रूप ले लेने की सम्भावनाओं को नहीं समझ सकेगा।

अधिकाँश समाचारपत्रों में एक ही व्यक्ति से अग्रलेख और टिप्पणी न लिखवा कर कई व्यक्तियों से लिखवाने की व्यवस्था न होने का कारण आर्थिक तो है ही, साथ ही यह भी है कि पूर्व-परम्परा या पूर्वधारणा के अनुसार प्रतिदिन एक ही व्यक्ति द्वारा यह लेखन-कार्य होने में उसकी जो 'विशेष योग्यता' मानी जाती थी वही आज भी मानी जाती है, जबकि ज्ञान का क्षेत्र उत्तरोत्तर विस्तृत होता जा रहा है। आज, जबकि राजनीति का अर्थ से विशेष सम्बन्ध हो गया है, जबकि वैज्ञानिक उपलब्धियों का प्रभाव अर्थ-व्यवस्थाओं और राजनीतिक व्यवस्थाओं पर बहुत पड़ रहा है और एक ही विषय में जाने कितने नये-नये विषय निकलते आ रहे हैं तब भला एक ही व्यक्ति से यह आशा कैसे की जा सकती है कि वह सभी विषयों पर लिख लेगा और अज्ञान का परिचय नहीं देगा ? यदि दूसरों को अपने अज्ञान का परिचय मिल जाने के भय से वह अन्यान्य

विषयों को नहीं छुएगा तो एक ही तरह के कुछ विषयों पर सतही तौर पर लिखेगा और सम्पादकीय स्तम्भ में समाचारों की आवृत्ति करेगा। अधिकांश समाचारपत्रों में यही हो रहा है। उदाहरणार्थ : पूर्वबंगाल-काण्ड शुरू होने के बाद उसके सम्बन्ध में समाचारों की बाढ़ के साथ ही, उस पर अग्रलेखों, टिप्पणियों तथा लेखों की भरमार हो गयी—आँख मूँद कर लिखा गया, सरकार को कहीं कोई दूरदर्शितापूर्ण कूटनीतिक सलाह नहीं दी गयी और न किन्हीं खास गलतियों तथा परिणामों की ओर संकेत किया गया। इसी बीच, लिखने के लिए मानो कोई नया विषय मिला ही नहीं। डालर-संकट का एक महत्त्वपूर्ण तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का समाचार इसी बीच आया था, किन्तु बहुत से पत्रों में उस पर एक छोटी-सी भी टिप्पणी देखने को नहीं मिली।

विचारों के बाद समाचारों में योग्यता की परीक्षा होती है। अनुवाद-योग्यता की समस्या कम जटिल नहीं है। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, यहाँ की प्रत्येक भाषा के समाचारपत्रों को अँग्रेजी पर निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समाचारों की प्राप्ति के लिए अभी अँग्रेजी के टेलीप्रिण्टरों का प्रभुत्व है और प्रमुख समाचार-समितियाँ, चाहते हुए भी, सभी भाषाओं के टेलीप्रिण्टरों, सम्पादकों और संवाददाताओं की व्यवस्था नहीं कर सकतीं। यदि हर भाषाई क्षेत्र के लोग स्वयं अपने प्रयास से या सरकार के सहयोग से अपनी ही भाषा में समाचार-संग्रह और वितरण-प्रसारण का निश्चय कर लें तो बात दूसरी है। किन्तु, क्या हर भाषा के टेलीप्रिंटरों का बड़े पैमाने पर निर्माण करना-कराना हर भाषाई क्षेत्र के लोगों के लिए सम्भव है? यदि सम्भव हो भी तो शिक्षा का तथा समाचारपत्रों के खरीद कर पढ़ने की रुचि के विकास की वास्तविक स्थिति का लेखा-जोखा करने पर क्या टेलीप्रिण्टरों की खपत की गारण्टी दी जा सकती है? और फिर, देश में तथा बाहर विभिन्न भाषाओं के क्षेत्र में उन भाषाओं के और अपनी भाषा के अच्छे ज्ञाता संवाददाताओं का जाल बिछाने में जो खर्च पड़ेगा उसे बर्दाश्त करने की सामर्थ्य कितने भाषाई क्षेत्रों में है? जिस क्षेत्र में संवाद संग्रह का काम हो रहा हो उसकी भाषा का तथा अपनी भाषा का अच्छा ज्ञान रखने वाला संवाददाता एक अच्छा वेतन भी तो चाहेगा और उसे अच्छा वेतन मिलना भी चाहिए। यदि संवाददाता को अपनी भाषा की तथा जिस क्षेत्र में वह काम कर रहा है उस क्षेत्र की भाषा की खासी अच्छी पकड़ नहीं है तो वह समाचार-संग्रह करने में और उन्हें अपनी भाषा में प्रस्तुत करने में अक्सर गलती करेगा।

अस्तु, कुल मिला कर स्थिति का अध्ययन करने के बाद यदि निष्कर्ष यही निकलता है कि अभी अँग्रेजी पर निर्भर रहना पड़ेगा तो इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि समाचार-संग्रह के लिए और सही-सही तथा सुन्दर अनुवाद के लिए अँग्रेजी का विशेष ज्ञान प्राप्त करना ही पड़ेगा, उसके साधारण ज्ञान से काम नहीं चलेगा। अँग्रेजी के व्याकरण के पूर्वज्ञान के बिना, उसके मुहावरों की पकड़ के बिना और उसकी वाक्य-रचना के नियमों को जाने बिना प्रायः अर्थ का अनर्थ होने का भय बना रहता है और अनर्थ होता भी रहता है। एक ओर, जिस प्रकार अनेक प्रशासनिक कार्यों के लिए अँग्रेजी अनिवार्य रूप में चली आ रही है उसी प्रकार अखबारों के लिए भी वह चली आ रही है, दूसरी ओर अँग्रेजी शिक्षा का हाल यह है कि स्वतन्त्रता के बाद उसका स्तर उत्तरोत्तर गिरता आया है। अँग्रेजी-ज्ञान की बुनियाद ही कमजोर हो गयी है। अँग्रेजी या किसी भी भाषा के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण ही नहीं बना है, यह विचार ही नहीं उत्पन्न हुआ है, कि यदि कोई भाषा पढ़नी या पढ़ानी है तो अच्छी तरह पढ़ी और पढ़ाई जाय। अँग्रेजी के अधिकांश अध्यापकों तक का यह हाल है कि उनका अँग्रेजी ज्ञान बस 'कामचलाऊ' है।

यदि ध्यान से देखा जाय तो यही पाया जायगा कि ऐसा एक भी पत्र नहीं है जिसके प्रत्येक पृष्ठ में कहीं-न-कहीं कुछ-न-कुछ 'अनुवाद-अनर्थ' न हो। यह अनर्थ जल्दबाजी के कारण, यानी कुछ सोच-समझ कर लिखने का समय न मिलने के कारण, और किसी दूसरी असावधानी के कारण भी हो सकता है। किन्तु प्रायः अँग्रेजी का ठीक ज्ञान न होना ही इसका कारण होता है। अब ऐसे अनेक अनुवादक मिलेंगे जो तार के उन अंशों को, जिनका अर्थ उनकी समझ में ठीक से नहीं आता, छोड़ देते हैं। कुछ लोग तो दूसरों से इसलिए नहीं पूछते कि कहीं उनका अज्ञान न प्रकट हो जाय, कुछ लोग इसलिए नहीं रुकते कि अपना 'कोटा' पूरा करने की चिन्ता रहती है और कुछ लोग इसलिए नहीं पूछते कि दूसरों का समय नष्ट न किया जाय (क्योंकि दूसरों को भी तो 'कोटा' पूरा करने की चिन्ता रहती है)। इस प्रकार, अनुवाद में कठिनाइयों का सामना करने की आदत नहीं पड़ती और जो कुछ आपस में एक दूसरे से सीखा जा सकता है वह भी नहीं सीखा जाता।

जो लोग समझ में न आने वाले या कठिनाई से समझ में आने वाले अंशों को छोड़ देने में माहिर होते हैं, उनकी उस समय मुसीबत हो जाती है जब

किसी महत्त्वपूर्ण समाचार के मुख्यांश ही कठिन होते है। ऐसे लोग, ऐसी मुसीवत के समय के लिए ही अपने कुछ योग्य साथियों को पटाये रखते हैं। किन्तु ऐसे लोग कब तक खैर मनाते रह सकते हैं। यदि अधिकांश समाचारो के समझ में न आने वाले अंशों के छूट जाने पर प्रायः जवाबतलब न हो सकता हो या न होता हो तो किसी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समाचार के समझ मे ठीक से न आने वाले मुख्यांश के भी छोड़ देने पर जवाबतलब या पूछताछ से कब तक बचा जा सकता है। अस्तु, अनुवाद में कठिनाई से भागना अपनी अयोग्यता को कायम रखना है और इसकी वजह से कभी पत्र का ही नहीं अपना भी बहुत बड़ा अहित हो सकता है। अनुवाद मे एक और बात आवश्यक होती है—वह है शब्दों के उपयुक्त अर्थ के ज्ञान की, अपेक्षित शब्द-भण्डार की। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनका अँग्रेजी-व्याकरण का ज्ञान तो दुरुस्त रहता है, किन्तु शब्द-भण्डार अल्प होता है जिससे उपयुक्त अर्थ के प्रयोग में चूक जाते हैं। कुछ लोग आलस्यवश या संकोचवश (कही शब्दज्ञान के अभाव का प्रदर्शन न हो जाय) शब्दकोश नहीं देखते, जबकि अनेक विद्वान् पत्रकारों ने यह कहा और लिखा है कि किसी शब्द का अर्थ न मालूम हो या उसका पहले से ज्ञात अर्थ जम न रहा हो तो शब्दकोश तुरन्त देख लेना चाहिए।

भाषणों तथा कुछ सामान्य घटनाओं के समाचार साधारणतः जैसी सरल भाषा में लिखे जाते हैं वैसी भाषा में उन समाचारों का अनुवाद प्रायः सभी कर लेते हैं; किन्तु जब अपेक्षाकृत जटिल भाषा तथा शब्दावली में प्रस्तुत किय जाने वाले कुछ क्लिष्ट विषयों के अनुवाद की बात आती है तो अधिकांश लोग कतराने लगते हैं। ऐसी स्थिति में जिन समाचारों के देने में विशेष जिम्मेदारी की आवश्यकता होती है या जिन्हें सर्वप्रमुख स्थान देना होता है उन्हें अधिकाश शिफ्ट-इंचार्ज खुद करने के लिए बाध्य होते हैं। हाँ, जहाँ शिफ्ट-इंचार्ज के साथ एकाधिक वरिष्ठ, अनुभवी और योग्य सह-सम्पादक होते हैं वहाँ यदि जिम्मेदारी टाल देने की भावना या आदत प्रबल रही तो शिफ्ट-इंचार्ज पहले किये गये तारों को मिलाने, नये तार चुनने तथा निर्णय करने मे ही व्यस्त रहने के कारण नहीं, बल्कि इस भावना या आदत के कारण भी ऐसे समाचार उन्हीं वरिष्ठ अनुभवी और योग्य सह-सम्पादकों पर लाद देता है। यदि वास्तविकता यही हो कि तार मिलाने, देखने और छाँटने और क्रम से महत्त्व देने के लिए कुछ सोचने-विचारने आदि से छुट्टी न मिल रही हो और प्रेस में मैटर पहुँचाने के लिए काम शुरू कर देना आवश्यक हो तो इसी

बीच महत्त्वपूर्ण और जटिल तार दूसरों को करने के लिए दे देने में जिम्मेदारी टालने या कठिनाई से बचने की-सी बात नहीं देखी जा सकती। अनुभवी, योग्य और वरिष्ठ सहयोगियों को पा कर जिम्मेदारी टालने की प्रवृत्ति में एक यह विचार भी काम करता दिखायी देता है कि यदि उनकी किसी गलती के लिए शिफ्ट-इंचार्ज से पूछा जाय तो वह यह कह कर छुट्टी पा ले कि "अमुक भी तो वरिष्ठ तथा अनुभवी हैं"। यह प्रवृत्ति आत्म-विश्वासपूर्ण योग्यताओं के विकास में तो बाधक होती ही है, कभी-कभी आत्मघाती भी सिद्ध हो जा सकती है। कुछ ऐसे योग्य और साथ ही महान् एवं उदार पत्रकार भी हुए हैं जो दूसरों की गलतियों की जिम्मेदारी अपने ऊपर सहर्ष ले लेते हैं। किन्तु अब ऐसे कहाँ और किसे दिखलायी देंगे? बात यह भी तो हो गयी है कि ऐसी योग्यता, उदारता और महानता का आदर करने वाले संचालक और व्यवस्थापक भी तो नहीं रहे।

जबकि अभी तक ही नहीं आगे भी वर्षों तक (सम्भवतः दशकों तक) अनुवाद का प्राधान्य बना रहे, अनुवाद से, अनुवाद के अभ्यास से, अनुवाद की योग्यता बढ़ाने की आवश्यकता से बचने की प्रवृत्ति भारत की अखबारी दुनिया के प्रवेशार्थी के लिए एक बहुत बड़ी अयोग्यता है। किन्तु अखबारी दुनिया से पहले से ही सम्पर्क रखने वाले कुछ होशियार प्रवेशार्थी यह जानते हैं कि अखबार में कुछ ऐसे स्थान होते हैं जिन पर प्रतिष्ठित पत्रकार को अनुवाद करने की झंझट से मुक्ति मिली रहती है और ये स्थान सम्पर्क बढ़ा कर अपना स्वार्थ साधने में सहायक होते हैं। अतः ऐसे स्थानों को दृष्टि में रख कर और संचालकों या व्यवस्थापकों को किसी तरह 'मुग्ध' करके ऐसे लोगों में से कुछ सफलता प्राप्त कर लेते हैं।

अनुवाद-कार्य से आमतौर पर बचाये रखने वाले स्थान ये होते हैं—स्थानीय समाचारों के सम्पादन का स्थान, जिलों के समाचारों के सम्पादन का स्थान और साहित्य परिशिष्ट का स्थान। किसी समय कहीं-कहीं ये स्थान सामान्यतः स्थायी रहे हैं, यानी एक बार इन पर नियुक्त व्यक्ति बराबर इन्हीं पर बना रहता था। किन्तु अब यह स्थिति आमतौर पर बदल गयी है। स्थायी पद या स्थायी कार्य नाम की चीज नहीं रही। किसी को कभी भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर कर दिया जा सकता है। अपवादस्वरूप उन कुछ इने-गिने लोगों की बात छोड़ दीजिए जो अपनी 'बेजोड़ विशेषता के कारण' एक बार इनमें से

किसी स्थान पर बैठ जाने के बाद अन्त तक उस पर बने रहते हैं, अन्यथा व्यवस्थापक के बदलने पर या कोई अन्य कारण उत्पन्न होने पर किसी को भी अनुवाद-कार्य की ओर ठेल दिया जा सकता है। ऐसा होने पर—ठेले जाने पर—रुचि और अभ्यास दोनों के अभाव से ग्रस्त व्यक्ति मुसीबत और कठिनाई मे पड़ जाते हैं और नये सिरे से प्रशिक्षण प्राप्त करने की-सी स्थिति आने पर भेंप होती रहती है। अतः अभी भी तकाजा यही है कि अनुवाद-कार्य से भागने की कोशिश कोई न करे और कुछ दिनों—वर्षों—तक अनुवाद का अभ्यास कराये बिना, इस अभ्यास के लिए अपेक्षित ज्ञानार्जन की प्रेरणा दिये बिना, किसी को स्थानीय समाचारों, जिलों के समाचारों या साप्ताहिक परिशिष्ट के सम्पादन मे ही न लगा दिया जाय।

जिन कार्यों में अनुवाद की आवश्यकता नहीं होती या बहुत कम होती है, उन्हें 'प्रभाव', 'विशेष कृपा' या 'चाटुकारिता' का लाभ उठा कर, अपने हाथ मे ले लेने वाले महानुभावों में से कुछ अन्त तक अनुवाद-कार्य से बचे रह जाते हैं। इतना ही नहीं, कुछ तो अनुवादसम्बन्धी अपनी कमजोरी के बावजूद समाचार-सम्पादक, सहायक सम्पादक और सम्पादक तक बन जाते हैं। समाचार-सम्पादक, सहायक सम्पादक या सम्पादक के से प्रशासनाधिकारी पद पर पहुँचे ऐसे किसी व्यक्ति को यदि दूसरों की अनुवाद-सम्बन्धी गलती देखते रहने की आवश्यकता महसूस होती है तो वह दो-एक अन्य साथियों को पटा कर उन्ही से गलतियों का पता लगवाता रहता है। पारस्परिक द्वेष के कारण या कुछ प्रवृत्ति ही ऐसी मिली रहने के कारण छोटी-मोटी भूल-चूक की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए तो प्रायः सभी तैयार रहते हैं। दूसरों की आँखों से देखने वाला समाचार-सम्पादक या सहायक सम्पादक दूसरों द्वारा दिखायी गयी गलतियों को कुछ इस तरह पेश करता है मानो उसने ही गलती निकाली हो। भला ऐसे समाचार-सम्पादक या सहायक सम्पादक या सम्पादक से पत्र के वास्तविक दोष कैसे दूर हो सकते हैं। सच पूछिए तो, अनुवादों में जिस तरह की गलतियों के पकड़ने की आवश्यकता होती है वे तो पकड़ में आतीं ही नही। जब आमतौर पर क्लिष्ट अंश छोड़ ही दिये जाते हों तब तो किसी योग्य व्यक्ति द्वारा भी भयंकर गलती निकाले जाने का भय नहीं रहता।

कृपापात्रों को कठिन अनुवादों से मुक्त कर देने की 'विशेष व्यवस्था' किये जाने के भी कुछ उदाहरण मिल जायँगे। एक समाचारपत्र में एक कृपापात्र को

उसके इच्छानुसार स्थानीय समाचारों के सम्पादन का कार्य दिया गया, तो उसे पहले से चली आयी एक व्यवस्था के अनुसार अदालती समाचारों का भी अनुवाद करना पड़ा। किन्तु कुछ ही दिनों में उसकी सुविधा के लिए कई बहाने निकाल कर अदालती समाचारों का भार दूसरे को दे दिया गया। बाद में जब कार्याधिक्य के कारण अतिरिक्त व्यवस्था नहीं चल सकी तो अदालती समाचारों का प्रकाशन ही धीरे-धीरे बन्द हो गया। एक व्यक्ति के लिए पत्र के साथ यह कितना बड़ा अन्याय था और यह अन्याय किया संचालक या व्यवस्थापक ने नहीं, सम्पादक ने।

कुछ ऐसा हो गया है कि अनुवाद में कच्चे या उससे कतराने अथवा भागने वालों के दिमाग में यह बात मानो बैठती ही नहीं कि "जरूरत पड़ने पर हमारे हाथ-पाँव फूल जा सकते हैं, बगलें झाँकने की नौबत आ सकती है, हमारी सारी कलई खुल जा सकती है, अधिकारियों की दृष्टि में ऐसे गिर जा सकते हैं कि सारी चाटुकारिता व्यर्थ हो जाय।" मजा तो यह है कि ऐसे लोगों को अपनी प्रगति का, अपने विकास का, कोई ख्याल ही नहीं रह जाता। इसीलिए अपनी कमजोरी दूर करने के लिए श्रम करने तथा समय और उपाय निकालने की आवश्यकता भी महसूस नहीं होती। शायद यह सोच कर सन्तोष कर लिया जाता है कि 'दूसरों का भी तो यही हाल है।'

निरुत्साह की स्थिति

योग्यता के प्रसंग में, मुख्यतः लेखन और अनुवाद पर विचार करने के बाद एक तीसरी विशेष बात, जिस पर पहले किसी पत्रकार ने विशेष रूप से विचार नहीं किया है, है 'निरुत्साह की स्थिति'। अन्य क्षेत्रों की तरह ही आज पत्रकार-जगत् में निरुत्साह की एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है कि योग्य व्यक्ति भी अयोग्य बनते जा रहे हैं। यों यह सही है कि योग्यता छीनी नहीं जा सकती, किन्तु योग्यता का दमन और ह्रास तो हो ही सकता है। उसका समुचित उपयोग न होते रहने से या उसको कायम रखने का प्रयत्न न होने के कारण या उसके कायम रहने की स्थिति विलुप्त हो जाने के कारण योग्य व्यक्ति का भी उदासीन होते जाना और इस उदासीनता के साथ अपनी योग्यता क्षीण करते जाना तथा अन्त में औरों की तरह 'क्या पड़ी है' का 'सिद्धान्त' अपना लेना बहुत सम्भव है। जहाँ योग्यता का अनादर हो रहा हो, 'नाचे गावे तोड़े

तान ताकर दुनिया राखे मान' का सिद्धान्त 'प्रगति' करता आ रहा हो, योग्यता को प्रोत्साहन मिलने की अपेक्षा चाटुकारिता प्रोत्साहित और पोषित हो रही हो, झूठी और पोली योग्यता को सच्ची और ठोस योग्यता प्रदर्शित करने की कला का रंग जम रहा हो वहाँ बेचारी पत्रकारिता 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का परिचय कैसे दे सकती है। पत्र, पत्रकार और पत्रकारिता के विकास में अधिक योग्य व्यक्तियों के अभाव के बावजूद, एक स्वस्थ वातावरण की रचना से, या उसकी रचना के प्रयास से, जो कुछ सम्भव है वह भी नहीं हो रहा है। हो भी कैसे? घोर स्वार्थ, संकीर्णता एवं विचारहीनता से पिण्ड छुड़ा कर एक उत्तम दृष्टि और ज्योति मिली हो तब तो!

प्रशासनिक दृष्टि की प्रधानता के कारण या चाटुकारिता-प्रेम के कारण या 'पण्डित सोइ जो गाल बजावा', 'नाचे गावे तोड़े तान ताकर दुनिया राखे मान', 'चलती का नाम गाड़ी' आदि उक्तियों के अनुसार, या कुछ विशिष्ट लोगों की सिफारिश के कारण, अयोग्य लोगों के योग्य लोगों पर लद जाने का जो क्रम आज अन्य क्षेत्रों में और तेज हो गया है उससे पत्रकारिता भी बुरी तरह ग्रस्त हो चुकी है। जब इस प्रकार लादे गये अयोग्य व्यक्तियों के अधिकारोन्मादपूर्ण निर्णयों तथा आदेशों के नीचे योग्यताएँ दबती जा रही हों और योग्य व्यक्ति 'मात्र आदेशानुवर्ती' हो चले हों तथा अपने तर्क एवं विचार मन-ही-मन दबाये रहते हों तब एक दिन ऐसा भी आ जाता है जब वे आत्मलाघव का अनुभव करने लगते हैं। इस प्रकार यदि पत्र में कुछ योग्य व्यक्ति हुए भी, तो उनकी योग्यता से पत्र लाभान्वित नहीं होता। ऐसे योग्य व्यक्तियों को यदि उनके योग्य पद न दिये जायँ, उनका विशेष आदर न किया जाय, तो कम-से-कम ऐसा कुछ तो किसी तरह हो ही कि सम्पादक, सहायक सम्पादक, समाचार-सम्पादक, संयुक्त सम्पादक जैसे पदों पर कार्यपालनाधिकारियों के रूप में प्रतिष्ठित हो गये लोग सब को एक ही डण्डे से न हाँकें यानी योग्य के साथ भी बिलकुल उसी तरह पेश न आयें जिस तरह अयोग्य के साथ आते हैं।

निरुत्साह की स्थिति योग्य-से-योग्य व्यक्ति को भी अन्त में ले जाकर 'क्या पड़ी है' के विचार में इस तरह पटक देती है कि पुस्तकों के निरन्तर अध्ययन की कौन कहे, समाचारपत्र तक पढ़ने की रुचि समाप्त हो जाती है। जिस तरह अन्य बहुत से लोगों को बस उतने ही समाचारों से मतलब होता है जितने प्रेस में कर आते हैं उसी तरह समाचारों में रस लेने वाले उनकी पृष्ठ-

भूमियों का भी ज्ञान रखने वाले या ज्ञान रखने के लिए प्रयत्नशील रहने वाले और दूसरों को ऐसा करने के लिए प्रेरित करते आने वाले भी अन्त में उतने ही समाचारों से सन्तुष्ट रहने लगते हैं जितने प्रेस में कर आते हैं या जितने पर अनायास दृष्टि पड़ जाती है। इस स्थिति में कभी-कभी इनके वे 'सहयोगी' भी इन बेचारों को, आड़े हाथ लेने का मौका पा जाते हैं, जो स्वयं शुरू से ही या स्वभाव से ही समाचारों में विशेष रुचि लेने वाले नहीं होते और इसलिये रोज ही न जाने कितने समाचारों से अनभिज्ञ रहते हैं। आज तो ऐसा एक व्यक्ति भी कहीं नहीं दिखलायी देता, जो किसी पुराने योग्य व्यक्ति के भी 'क्या पड़ी है' के विचार में पटक दिये जाने के सारे कारणों पर विचार करके उसके प्रति सहानुभूति और संवेदनशीलता का रुख अपना सके। नयी पीढ़ी के उन छोकरों से तो ऐसी आशा बिलकुल ही नहीं की जा सकती, जो स्वभाव से अधःचेता हों और यह न जानते हों कि व्यापक दृष्टि क्या होती है।

जो कुछ भी हो, जब योग्यता की दुर्दशा या योग्यता के अभाव की स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी हो कि अखबारनवीस कहे जाने वाले लोग स्वयं अखबार न पढ़ते हों, समाचारों में रस लेने की कोई आवश्यकता महसूस न करते हों और खुलेआम, निस्संकोच भाव से अखबार न पढ़ने की बात स्वीकार करते हों तब भला पत्र, पत्रकार या पत्रकारिता को विकासोन्मुख कैसे देखा जाय ! कुछ लोग इस स्थिति पर 'चिराग तले अँधेरा' की ही बात सोच कर रह जायेंगे, किन्तु हम तो यह कहेंगे कि 'चिराग तले अँधेरा भले ही हो वह दूसरों को तो प्रकाश देता है। किन्तु समाचारों से उदासीन 'पत्रकार' तो औरों को भी ठीक से प्रकाश नहीं देता'।

निरुत्साह की स्थिति का सम्बन्ध अर्थ से भी है। सम्पूर्णतः विचार करने पर यही अनुभव होता है कि अयोग्यता निरुत्साह की परिस्थिति के कारण हो या और किन्हीं परिस्थितियों के कारण हो, उसमें अर्थाभाव एक प्रमुख तत्व है। यदि अत्यल्प वेतन से अपने काफी बड़े परिवार का भरण-पोषण ठीक से न कर सकने के कारण कोई पत्रकार ट्यूशन पर दौड़ता हो, प्रकाशकों से कुछ काम पाने के लिए भटकता हो या नेताओं के यहाँ हाजिरी देता हो, तो वह अपने को सचमुच पत्रकार सिद्ध करने के लिए, पत्र को लाभान्वित करने के लिए और सम्पूर्ण पत्रकारिता में कुछ योगदान करने के लिए योग्यता के विकास में कैसे लग सकता है, कैसे लगा रह सकता है। और फिर, जरा उसके उस

स्वास्थ्य की भी सोचिए, जिसके बिना बौद्धिक कार्य सम्भव नहीं है। इतना परिश्रम करने पर और इतने परिश्रम के बाद भी अपने स्वास्थ्य पर कुछ खर्च न कर सकने पर कोई शरीर से स्वस्थ कैसे रह सकता है और शारीरिक स्वास्थ्य के बिना मन और मस्तिष्क स्वस्थ कैसे रह सकते हैं। आखिर 'शरीर स्वस्थ तो मन और मस्तिष्क भी स्वस्थ' की उक्ति यों ही नहीं चल पड़ी थी।

जिस सह-सम्पादक को परिस्थितियों ने चूस कर रख दिया हो, जिसने विषम आर्थिक कठिनाइयों में रहते हुए भी थोड़ी-बहुत तपस्या में अपना शरीर गलाया हो और अन्त में जिसकी पूर्वस्फूर्ति और तत्परता न रह गयी हो उसके सामने यदि हजार-डेढ़ हजार रुपये मासिक पाने वाला हट्टा-कट्टा व्यवस्थापक अपनी स्फूर्ति, तत्परता, क्षमता, सावधानी तथा परिश्रमशीलता का बखान (सही या गलत) करके इन सब की आशा उस गरीब सह-सम्पादक से भी करता हो, तो इससे उसकी मूर्खता या विचारहीनता तथा निर्लज्जता और हृदयहीनता ही प्रकट होगी। जिसे एक-एक शब्द पर ध्यान रखने की आवश्यकता होती है, जिसे अर्द्धविराम, कोलन तथा हाइफन तक पर ध्यान रखना पड़ता है और ज़रा-सा ध्यान इधर-उधर होते ही भारी भूल, भद्दी गलती हो जाने की चिन्ता लगी रहती है, जिससे समाचारों को याद रखने की अपेक्षा की जाती है, उसे विपन्न रख कर 'काम दूना और आदमी पहले से कम' (एक टेलीप्रिण्टर की जगह दो और बीस आदमियों की जगह दस आदमी) वाली अत्याचारपूर्ण स्थिति में डाल कर भी उसे तरह-तरह से परेशान करते रहना और यह आशा करना कि कभी कोई भूल-चूक हो ही नहीं, विचारहीनता, निर्लज्जता और हृदयहीनता नहीं तो और क्या है?

और फिर, लम्बी-चौड़ी हाँकने वाला या केवल अफसरी रोब में अपना बखान करने वाला सम्पादक या व्यवस्थापक किसी सह-सम्पादक के साथ महीने-दो-महीने नहीं, हफ्ते-दो-हफ्ते ही बैठ कर दिखा दे कि उससे कोई चूक नहीं हो सकती। यदि वह ऐसा करके नहीं दिखा सकता, तो अपने बेदम दम्भ से लोगों को आतंकित करके ही अखबार में सुधार नहीं कर सकता। हम यह नहीं कहते कि उसे लोगों की गलतियों पर नजर नहीं रखनी चाहिए, गलतियों के लिए कुछ कहना नहीं चाहिए, हमारा बस इतना कहना है कि उसे गलतियों के बारे मे एक सर्वानुभूत विचार के अनुसार काम करना चाहिए और यदि कड़ाई

जरूरी ही हो तो उसके पीछे सहानुभूति, उदारता और व्यावहारिकता भी होनी चाहिए। इससे सम्पादन-कुशलता में योगदान होगा।

जब तक निरुत्साह की स्थिति का निराकरण करने तथा योग्यता को प्रोत्साहन देने की समुचित व्यवस्था नहीं होती और जब तक एक ऐसा वातावरण नहीं बनाया जाता कि 'कम योग्य तथा कम अनुभवी लोग अपने से सचमुच अधिक योग्य तथा अधिक अनुभवी लोगों से निस्संकोच हो कर सीखते रहे, समान योग्यता वाले एक दूसरे से सहयोग करते रहें, अपने को योग्य और हर दूसरे व्यक्ति को अयोग्य समझने (उससे कुछ भी न सीखने) की प्रवृत्ति से बचते रहें और चाटुकारिता तथा कानाफूसी करने या कान भरने की आदत छोड़ दें तब तक पत्र के लिए अपेक्षित 'सामूहिक योग्यता' का उदय नहीं हो सकता।

योग्यता के सम्बन्ध में मुख्यतः कुछ बुनियादी और सैद्धान्तिक बातों की इतनी चर्चा के बाद सामान्य बातों की ओर भी यहाँ संकेत रूप में कुछ कह देना आवश्यक है। सामान्य बातों में समाचार-मूल्यांकन और समाचार-चयन और पृष्ठों की सजावट मुख्य है। इनके विषय में यहाँ कुछ विस्तार से और कुछ नये विचारों के साथ लिखना अच्छा ही होता, किन्तु चूँकि पत्रकारों को सामान्यतः इसकी जानकारी है और इस पुस्तक में भी अन्यत्र-एकाधिक स्थलों पर-अन्यान्य प्रसंगों में कुछ चर्चा की गयी है, अतः यहाँ केवल संकेत कर दिया जा रहा है।

यदि कोई पत्रकारिता में विशेष योग्यताओं के लिए चिन्तित न हो, तो कम-से-कम समाचारों के मूल्यांकन और चयन में सफलता और योग्यता प्राप्त करने के लिए तो उसे चिन्तित रहना ही चाहिए। कुछ एक ही तरह के समाचारों मे लगे रहने वाला व्यक्ति समाचारों के चयन और मूल्यांकन में वैसी योग्यता नहीं दिखला सकता जैसी सभी तरह के समाचारों में लगे रहने या दिलचस्पी लेते रहने वाले दिखलाते हैं या दिखला सकते हैं। यद्यपि समाचारों के चयन और मूल्यांकन का कार्य मुख्यतः शिफ्ट-इंचार्ज पर ही होता है, तथापि नियमित रूप से विभिन्न पत्रों में विभिन्न क्रमों से प्रकाशित समाचारों को समालोचनात्मक दृष्टि से देखते रह कर, पिछले सम्बन्धित समाचारों को याद रख कर (पृष्ठभूमि से अवगत रह कर) और किसी एक खबर के गर्भ में कोई दूसरी बड़ी खबर देख सकने की दृष्टि प्राप्त कर अन्य सह-सम्पादकगण भी अवसर मिलने पर,

समाचार-चयन और समाचार-मूल्यांकन में विशेष योग्यता का परिचय दे सकते हैं।

कोई शिफ्ट-इंचार्ज हो या न हो, सामान्य योग्यता का परिचय देने के लिए, तो उसे बराबर तैयार रहना ही चाहिए। कोई शिफ्ट-इंचार्ज हो या न हो, उसे शिफ्ट-इंचार्ज का सलाहकार तो बनना ही चाहिए, और इसके लिए अपने में वे सारी योग्यताएँ रखनी चाहिए जो शिफ्ट-इंचार्ज के लिए आवश्यक होती हैं। किन्तु जहाँ आमतौर पर शिफ्ट के सभी लोग समान योग्यता को कौन कहे, साधारण योग्यता के भी न हों, वहाँ शिफ्ट-इंचार्ज बेचारा किसको सलाहकार बनाये। जो लोग पचास प्रतिशत भी आत्मनिर्भर न हों, समाचारों का महत्त्वक्रम निश्चित करने में अपनी भी कुछ बुद्धि न लगा सकते हों, शीर्षक देने तक में कठिनाई का अनुभव करते हों, पग-पग पर शब्दों और वाक्यों का अर्थ या भाव पकड़ने के लिए शिफ्ट-इंचार्ज का ही समय लेते हों वे भला सलाहकार क्या बनेंगे ?

द्विविधा से मुक्त रह कर आत्मविश्वासपूर्वक समाचारों का महत्त्वक्रम निश्चित करना 'अनिवार्य सामान्य योग्यताओं' में प्रमुख है। किन्तु, यह प्रमुख सामान्य योग्यता यदि पत्रकार ने विकसित कर ली है, तो भी एक बड़ी बाधा के रूप में यह तथ्य आकर खड़ा हो जाता है कि नगर से निकलने वाले किसी अन्य बड़े पत्र (खास करके अंग्रेजी पत्र) से मिलान किया जाने लगता है और प्रधान सम्पादक, व्यवस्थापक या संचालक कोई भी यह समझने और सुनने के लिए तैयार नहीं दिखलायी देता कि उसके अपने पत्र का निर्णय और चयन दूसरे पत्र के निर्णय या चयन से अच्छा रहा। कुछ इने-गिने ही सम्पादक या व्यवस्थापक ऐसे मिलेंगे, जो प्रशंसा तथा उदारता के साथ यह देखेंगे कि यदि दूसरे पत्र में प्रकाशित एकाधिक महत्त्वपूर्ण समाचार अपने पत्र में नहीं जा सके तो अपने पत्र में प्रकाशित कई महत्त्वपूर्ण समाचारों से दूसरा पत्र भी तो वंचित रह गया। हाँ, यदि उस दिन का कोई बहुत महत्त्वपूर्ण समाचार, जिसके बहुत महत्त्वपूर्ण होने पर कोई विवाद उठाया ही नहीं जा सकता, प्रकाशित होने से रह जाय तब बात दूसरी है। किन्तु यहाँ भी यह देखना होगा कि जब 'अपने पत्र में काम रात में कुछ पहले ही समाप्त कर देना पड़ता हो और दूसरे पत्र में वह डेढ़-दो घण्टे बाद समाप्त होता हो तब यह बहुत महत्त्वपूर्ण

समाचार इन्हीं डेढ़-दो घण्टों में तो नहीं आया। जो कुछ भी हो, हर हालत में प्रतिदिन दूसरे पत्र से ही मिलान करने और अपने कुछ समाचारों के मामले में दूसरे पत्र से आगे रहने पर अपने सम्पादकों की प्रशंसा न करने का कुल प्रभाव ऐसा होता है कि आत्मविश्वास क्षीण होने लगता है। क्या यह प्रवृत्ति अन्ततः पत्र के लिए अहितकर नहीं सिद्ध हो सकती ?

साधारण अनिवार्य योग्यता हो या असाधारण स्वार्जित एवं स्वप्रेरित योग्यता हो, उसका परिचय-स्थल प्रथमतः पत्र ही होता है। पत्रकारिता पर भाषण दे देना, लेख लिख देना या पुस्तक प्रस्तुत कर देना एक बात है और अपने भाषण, लेख या पुस्तक में व्यक्त किये गये विचारों के अनुसार एक लम्बी अवधि तक या कुछ ही समय तक एक कुछ अच्छा पत्र पाठकों के सामने प्रस्तुत करना दूसरी बात है। अपनी सम्पूर्ण पत्रकारिता का परिचय देने के लिए पत्रकार को पाठकों के सामने ही आना पड़ेगा और यह दिखाना पड़ेगा कि उसकी पत्रकारिता 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' कैसे है। तो, यदि पत्रकारिता या पत्रकार की योग्यता का सर्वप्रमुख परिचय-स्थल पत्र ही, है तो फिर इस स्थल (आधार) के ही गुण-दोष तथा उत्थान-पतन के कारणों का अध्ययन परमावश्यक क्यों नहीं है ? इस अध्ययन के बाद ही असाधारण स्वार्जित एवं स्वप्रेरित योग्यता वाले पत्रकारों को दृष्टि में रख कर यह कहा जा सकता है कि 'पत्रकारिता की योग्यता में कहीं पूर्णविराम नहीं होता'।

सचमुच, प्रतिकूल परिस्थितियों में रहते हुए भी जिसने यह अनुभव कर लिया है और हृदय से मान लिया है कि 'पत्रकारिता की योग्यता में कहीं पूर्णविराम नहीं होता' वह ज्ञानार्जन तथा आत्म-विकास के प्रयास में निरन्तर लगे रहने के बावजूद जब इस दुनिया से चलने लगता है तो अपने में अभाव-ही-अभाव अनुभव करता है। किसी परम संत की तरह वह महसूस करता है कि उसके पास जो कुछ ज्ञान है उस पर वह क्या अहंकार करे ? यदि वह तुलसीचरणानुरागी भारतीय हुआ तो, तुलसी के आराध्य रामपदपद्म-मकरन्द मधुकर-हनुमान-के उस अद्वितीय गुण का स्मरण करेगा, जो बल, बुद्धि, विद्या और बेग को राम के चरणों में अर्पित करके बना। वह गुण है :—सर्व-समर्थ होते हुए स्वयं निरभिमान रह कर सबके अभिमान को चूर

करने का और साथ ही सब को विनम्र बनाने का। तुलसी ने 'महानाटक निपुन कोटि कविकुल तिलक', 'काव्यकौतिक कलाकोटिसिंधो', 'निगमागम व्याकरण करण लिपि', 'सामगायक', 'भूमिपाताल जल गगनगता' पवनसुत को 'विहगेश-बलबुद्धि वेगाति-मदमथन', 'राहुरवि शक्र पवि गर्व खर्वीकरण', 'भीमार्जुन व्यालसूदन गर्वहर' 'गानगुण-गर्व गंधर्वजेता' बता कर मानो आज के पत्रकार को, जिसके सामने ज्ञान का क्षेत्र बढ़ता ही जा रहा है, एक पूर्वसन्देश दे रखा है।

●●

—'माध्यम' के सितम्बर १९६६ के अंक में प्रकाशित अध्याय का विस्तृत रूप

पत्रकार का लेखन-धर्म

पत्रकार को लेखनधर्मी और लेखनी-साधक कहा गया है। लेखनधर्मी पत्रकार की लेखनी उसका साधन ही नहीं, एक तरह से साध्य भी है, आराध्य है, पूज्य है। उसकी लेखनी उसकी ही प्रतिष्ठा नहीं, उसकी पत्रकारिता की, उसके पत्रकार-कर्म की भी प्रतिष्ठा बढ़ाती है और अन्ततः समाज का उपकार कर सकती है। बावजूद इसके कि 'कलम उसकी है और कालम किसी और का है', पत्रकार बहुत हद तक 'कालम के मालिकों' के 'कुछ चाहने या न चाहने' की स्थिति में भी अपनी लेखनी से समाज की उचित सेवा कर ले जा सकता है, बशर्ते ऐसा करने की कला में उसने अपने को पारंगत कर लिया हो। इस कला में पारंगत तथा पूर्ण दीक्षित होने के बावजूद, यदि 'कलम अपनी और कालम किसी और का' की स्थिति में कुछ 'खास' विषयों पर इस कला का प्रयोग या उपयोग करना असम्भव-सा हो और साहस का परिचय न दिया जा सकता हो तो अन्य अनेक विषयों पर तो इस कला का प्रयोग या उपयोग करके पाठकों को एक नयी दृष्टि और नयी चेतना देना तथा उन्हें सही रास्ता दिखाना सम्भव है ही। जिन विषयों पर 'सम्पादकीय अग्रलेख तथा टिप्पणियों के स्तम्भ' में पूर्णस्वतन्त्रता या अर्धस्वतन्त्रता प्राप्त न हो उन पर अन्य स्तम्भों में यदि अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक लिखने का अवसर प्राप्त हो, तो इसका भी उपयोग न कर सकने वाला पत्रकार भीरु ही कहा जायगा और उसे लेखनी का सामान्य साधक भी नहीं माना जायगा।

विशिष्ट लेखनी-साधकों को, या सर-संधान की तरह लेखनी का संधान करने वालों में अग्रणी लोगों की, तो बात ही निराली है, हम सामान्य पत्रकारों के लिए भी लेखनी का उपयोग करते रहने में एक हद तक विशिष्टता की आवश्यकता समझते हैं। यों तो लेखनी सारे समाज का संचालन करती है—

उसके बिना किसी घर का, किसी कार्यालय का, किसी संस्था या किसी व्यक्ति का काम नहीं चल सकता—किन्तु पत्रकार की लेखनी भिन्न होती है, और उसी समाज के संचालन की दृष्टि से उसका अपना एक अलग महत्त्व होता है। जब हम यह कहते हैं कि पत्रकार की लेखनी भिन्न होती है, उसका अपना एक अलग महत्त्व होता है, तब हमारा मतलब समझने में यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि पत्रकारों की लेखनी से अब तक जो कुछ लिखा गया है, लिखा जा रहा है या आगे लिखा जायगा वह सब-का-सब महत्त्वपूर्ण होगा। हम तो बस इतना ही कहना चाहते हैं कि पत्रकारिता के विकास के प्रारम्भिक चरण से आज तक सारे समाज ने न सही, पाठकों के एक सीमित समूह ने ही, चूंकि पत्रकार से बराबर कुछ अपेक्षा की है, अतः उस विशेष अपेक्षा से ही उसकी लेखनी का महत्त्व बढ़ता आया है।

पत्रकार की लेखनी के महत्त्व के प्रसंग में पत्रकारिता के तमाम आदर्शों की ओर भी ध्यान जाना स्वाभाविक है। किन्तु हमेशा ही यह जरूरी नहीं होता कि जहाँ लेखनी के महत्त्व की बातें आयें, उस महत्त्व में आदर्शों को भी देखा परखा जाय, उन्हें ढूँढ़ा जाय। यहाँ उदाहरण देकर यह बताने की आवश्यकता नहीं कि आदर्श और आदर्शवादिता से कोई विशेष सम्बन्ध न रखते हुए भी, परिस्थिति-विशेष में कुछ सामान्य व्यवहारों की ही दृष्टि से, कोई व्यक्ति या विषय महत्त्वपूर्ण हो जा सकता है। पत्रकारिता के सम्बन्ध में भी यही बात आती है। यह सत्य किसी से छिपा नहीं है कि समाचारपत्र लोकमत बनाने में ही नहीं, बिगाड़ने या एक खास साँचे में ढालने में भी बहुत बड़ी भूमिका अदा करते आये हैं। लोकमत को बनाना हो या बिगाड़ना, या एक खास साँचे में ढालना—हर हालत में निर्जीव पत्र नहीं, सप्राण पत्रकार की बुद्धिसंचालित लेखनी ही अपने करतब दिखलाती है। यदि बुद्धि सात्विक हुई, आदर्शपूत हुई तो लेखनी का करतब सात्विक और आदर्शपूत होगा, यदि राजसी और तामसी हुई तो लेखनी राजसी और तामसी 'करतब' दिखलायेगी।

केवल इतना मान कर और कह कर छुट्टी पा लेने से काम नहीं चलेगा कि 'लिखना पत्रकार का धर्म है' और इस धर्म को ही दृष्टि में रख कर जो यह कहा गया है कि 'पत्रकार का मस्तिष्क एक विश्वकोश-सा होना चाहिए' तथा उसमें 'शिक्षकों का शिक्षक, नेताओं का नेता और वकीलों का वकील बनने की योग्यता आनी चाहिए' उसे तोते की तरह रट कर बैठने से भी काम नहीं

चलेगा। इस धर्म का पालन करने के लिए सम्पूर्ण पत्रकारिता के पहले से प्रस्तुत आदर्श और उदाहरण सामने होने चाहिए, इन आदर्शों और उदाहरणों से प्रेरणा लेने के साथ ही स्वयं एक अन्तःप्रेरणा जाग्रत करनी चाहिए और सम्पादक-मण्डल के प्रधान तथा अन्य वरिष्ठ सहयोगियों से प्रोत्साहन के स्थान पर ईर्ष्या की, जो प्रवृत्ति (अनेक कारणों से) उत्पन्न हो गयी दिखलायी दे रही है उसे रोकना चाहिए।

लेखन के सम्बन्ध में, विश्वकोश-सदृश मस्तिष्क होने की आवश्यकता के साथ ही, 'लेखन से अधिक चिन्तन और मनन तथा सबसे अधिक अध्ययन' की आवश्यकता पर जब ध्यान जाता है तो 'विशेष भौतिक सुविधा' की आवश्यकता अपने-आप स्पष्ट हो जाती है। पत्रकार के ऐसे असाधारण लेखन के लिए निश्चय ही साधारण सुविधा से कुछ अधिक सुविधा उपलब्ध होनी चाहिए। विशेष सुविधा के अन्तर्गत समय, स्वास्थ्य तथा अर्थ आते हैं। यदि विशेष सुविधा के बावजूद, कोई पत्रकार लेखन को अपना स्वभाव नहीं बना सका है, तो यह उसका दुर्भाग्य है। लेखन को अपना स्वभाव बनाना, लेखनधर्म का पालन करना, व्यक्तिगत रूप में स्वयं पत्रकार का तो काम है ही; साथ ही इस काम के लिए प्रेरित करना और इसके लिए भौतिक स्थिति बनाना उन लोगों का भी काम है, जो विशुद्ध व्यवसाय की दृष्टि से या आदर्श की दृष्टि से पत्र तथा पत्रकारिता का एक सम्भव स्तर तक उन्नयन चाहते हैं।

आज पत्रकारिता में प्रवेश करने वालों या प्रविष्ट हो चुके लोगों में शायद दो-चार या दस-पाँच प्रतिशत ऐसे होंगे जो पत्रकारिता के ऊँचे संकल्पों, आदर्शों या कल्पनाओं को 'कागज पर उतारने' (यानी, लिखन) के लिए अध्ययन, मनन, और चिन्तन की आवश्यकता महसूस करते हों। अनेक पुस्तकालय छान डालने के बाद भी यावज्जीवन विद्यार्थी बने रहने वाले स्व० बाबूराव विष्णु पराड़कर जैसे पत्रकारों का आदर्श और उदाहरण दिल और दिमाग में रख कर लेखन और अध्ययन का गहरा सम्बन्ध समझने वालों की संख्या तो और कम होगी। वर्तमान व्यावसायिक जगत् में विशुद्ध व्यावसायिक दृष्टिकोण से अखबार चलाने वालों को ऐसे पत्रकारों की आवश्यकता हो या न हो, स्वयं को 'पत्रकार' मान कर 'विशिष्ट प्राणी' के रूप में प्रस्तुत करने या प्रस्तुत करने की इच्छा रखने वाले पत्रकारों को तो स्वयं ऐसा बनने की चिन्ता होनी ही चाहिए, अन्यथा उन्हें विशिष्ट प्राणी मानने के लिए कोई तयार नहीं होगा।

किन्तु प्रश्न तो यह है कि बेचारे चिन्ता ही करके क्या पायेंगे—यदि परिस्थितियाँ ही अनुकूल न हों, वे अपेक्षित विशेष सुविधाओं से ही वंचित हों।

लेखन के सम्बन्ध में, यदि 'लिखना कम और मनन, चिन्तन तथा अध्ययन अधिकाधिक' का सिद्धान्त कुछ अर्थ रखता है और किसी हद तक आज की सामान्य पत्रकारिता-स्थिति में भी व्यावहारिक हो सकता है तो, और यदि लेखन में 'परिमाण की अपेक्षा गुण अधिक' का विचार कायम रखना है, यदि पत्रकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी लेखनी के बल पर नेताओं का नेता, शिक्षकों का शिक्षक और वकीलों का वकील बने, यदि उसके बारे में इस कथन का कोई संकेत हो कि 'उसका मस्तिष्क विश्वकोश-सदृश होना चाहिए' और यदि सचमुच अपने मस्तिष्क को विश्वकोश-सदृश सिद्ध करने के लिए उसके (मस्तिष्क के) अगणित सेलों को सक्रिय बनाना है और रखना है तो पत्रकार को समय चाहिए, स्वास्थ्य चाहिए और साथ ही औसत से कुछ अधिक अर्थ। पूर्ण पत्रकार कहलाने के लिए ही नहीं, पत्र की भरपूर सेवा करने के लिए भी, इन तीन सर्वोपरि आवश्यकताओं की पूर्ति सर्वोच्च प्राथमिकता है।

लेखनधर्मी पूर्ण पत्रकार बनने के लिए और लेखनधर्मिता से पत्र को विशेष रूप में लाभान्वित करने के लिए कम-से-कम उतना ही समय घर पर पत्र-पत्रिकाओं के पढ़ने तथा पुस्तकों का अध्ययन करने में लगाना होगा जितना कार्यालय में लगाया जाता है। प्रतिदिन की खास-खास खबरों को ही ठीक से पढ़ने और याद रखने के लिए कम-से-कम दो-तीन घण्टे की तो आवश्यकता है ही। ये दो-तीन घण्टे हर पत्रकार के लिए—वह छोटा हो या बड़ा—अनिवार्य हैं। सुबह उठते ही पहला काम पत्रकार का यही होता है और होना चाहिए—अन्य नित्य कर्मों की तरह। जिसे नियमित रूप से अग्रलेख और टिप्पणियाँ लिखना हो उसका तो पहला काम यह होना ही चाहिए, अन्यथा वह भयंकर भूलें करेगा, पत्र को हास्यास्पद बनायेगा या उन विषयों पर कुछ लिखेगा ही नहीं, जिनका सूत्र नहीं पकड़े होगा। यदि अग्रलेख और टिप्पणी लिखने वाला अपना सुबह का समय किसी अन्य काम में लगा देता हो तो सामान्यतः वह ठीक से समाचारपत्र पढ़ने का समय नहीं प्राप्त कर सकता। जिन पत्रकारों को नेतागिरी का शौक लग गया हो या जो अपने को प्रथमतः पत्रकार न मानते हों उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे दिन का सर्वप्रथम कार्य समाचारपत्र-पाठन को ही मानेंगे।

किन्तु पाँच-छः घण्टे दफ्तर में काम करने के बाद घर पर भी अतिरिक्त समय पढ़ने-लिखने में लगाने वाले की एक बड़ी आवश्यकता है स्वास्थ्य। उसे अपना स्वास्थ्य ठीक रखना ही पड़ेगा, अन्यथा वह अतिरिक्त श्रम कैसे कर सकेगा। किन्तु, उसका स्वास्थ्य तभी ठीक रह सकता है जब इतने श्रम के लिए उसके शरीर-यन्त्र को कुछ अतिरिक्त 'तेल-पानी' मिलता रहे और वह परिवार की ही सेवा मे, अपने शरीर को श्रम तथा चिन्ता से क्षीण न कर डाले।

पढ़ने-लिखने के काम की माँग यदि समय और स्वास्थ्य है, तो समय और स्वास्थ्य की माँग अर्थ है। अर्थाभाव के कारण जब किसी पत्रकार को 'नून-तेल-लकड़ी' जुटाने, दवा-दारू के लिए दौड़ने तथा गृहस्थी के तमाम छोटे-बड़े काम करने में ही समय बिताने के लिए बाध्य होना पड़ता हो और वह इस बाध्यता से मुक्त होने के लिए कोई व्यवस्था न कर सकता हो तो वह समय कैसे बचा सकता है। इसी प्रकार, जिस शरीर-यन्त्र को छः घण्टे के बजाय बारह घण्टे चलाना है उसे दुरुस्त रखना अर्थ के बिना असम्भव है। जिसे स्मरण-शक्ति की जरूरत है, जिसे दिमाग को सोचने और विश्लेषण करने में लगाना है वह यदि पौष्टिक आहार और कुछ दवा-दारू के अभाव में अपना शरीर क्षीण करता आया हो तो वह अपनी स्मरणशक्ति दुरुस्त कैसे रख सकता है, मस्तिष्क को क्षीण होने से कब तक बचाये रख सकता है?

पत्रकार को अर्थ चाहिए—समय बचाने के लिए और समय का सर्वोत्तम रूप में (अध्ययन, मनन और लेखन में) उपयोग करने के लिए। उसे अर्थ चाहिए पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें खरीदने के लिए, अपना एक निजी वाचनालय और पुस्तकालय बनाने के लिए, और एक पृथक् कक्ष के लिए, जिसमें वह अपना वाचनालय और पुस्तकालय रख सके और बैठ कर बिना किसी व्यवधान के शान्तिपूर्वक लिख-पढ़ सके। उसे अर्थ चाहिए नियमित रूप से पुस्तकालय जाने के लिए (यदि वह स्वयं पुस्तकें न खरीद सकता हो, अपने वाचनालय और पुस्तकालय न रख सकता हो)। उसे अर्थ चाहिए—सवारी के किराये के लिए ताकि पैदल आने-जाने में ही उसका समय नष्ट न हो जाय और वह लिखने-पढ़ने के लिए समय बचा सके। और उसे अर्थ चाहिए अपने शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए, गृहस्थी के अनावश्यक झंझटों से छुटकारा पाने के लिए, ताकि उसका मन लिखने-पढ़ने में लग सके

किन्तु, यदि सारी सुविधाओं के बावजूद कोई पत्रकार लिखता न हो, या लिख न पाता हो तो इस स्थिति पर भी कुछ विचार करना होगा। यह एक ऐसी स्थिति है जिसके लिए पत्रकार स्वयं जिम्मेदार हो सकता है या वे दूसरे लोग जिम्मेदार हो सकते हैं जिन्हें प्रेरक शक्ति बनना चाहिए और जिनका प्रेरक शक्ति के रूप में काम करना पहला पत्रकार-धर्म होता है। प्रत्येक पत्रकार में लिखने की स्वयं एक प्रेरणा होनी चाहिए, उसे पढ़ने और साथ ही लिखने की एक रुचि लेकर पत्रकारिता में प्रवेश करना चाहिए। यदि वह स्वयं यह रुचि लेकर न आया हो तो आने के बाद तो उसमें यह रुचि अवश्य उत्पन्न होनी चाहिए; उसे लेखन-धर्म का बोध न होने पर प्रधान सम्पादक, सम्पादक या दूसरे वरिष्ठ सम्पादक को या प्रबन्ध-सम्पादक को (जो लिखता भी हो) एक प्रेरक-शक्ति के रूप में यह रुचि पैदा करनी चाहिए, यह बोध कराना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो उसे सम्पादक-मण्डल का प्रधान या वरिष्ठ कहलाने का कोई अधिकार नहीं है।

जिससे 'प्रेरक शक्ति' बनने की आशा की जाती है उसका कर्तव्य यह देखने का होता है कि उसके अन्य सहयोगियों का जीवन केवल अनुवाद करने, समाचारों का चयन करने, शीर्षक लगाने और मेकअप करने तक ही सीमित न रह जाय—वे तेली के बैल की तरह एक घेरे में ही चक्कर लगाते न रहें, बल्कि कुछ लिखते-पढ़ते भी रहें। उनके लिए अलग-अलग स्तम्भों की व्यवस्था की जा सकती है—किसी को स्थानीय समस्याओं पर, किसी को प्रान्तीय समस्याओं पर, किसी को राष्ट्रीय और किसी को अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों पर लिखने का काम दिया जा सकता है। सामान्यतः सभी अखबारों—अच्छे अखबारों में—इस प्रकार अलग-अलग विषयों के लिए स्तम्भ होते ही हैं और सामयिक लेखों की बराबर आवश्यकता रहती है। अतः इन स्तम्भों में सामयिक लेखों के लिए बाहरी ही व्यक्तियों को प्रोत्साहित, विज्ञापित और लाभान्वित न करके अपने सहयोगियों-सहकर्मियों को भी प्रोत्साहित, विज्ञापित और लाभान्वित करना कई दृष्टियों से अच्छा होता है।

यदि कोई प्रधान सम्पादक, सम्पादक या प्रबन्ध-सम्पादक लेखन-कार्य पर एकाधिकार-सा कर लेता है तो वह पत्र का तो अहित करता ही है, अपना भी करता है। अपवाद स्वरूप, कुछ असाधारण योग्यता-प्रतिभा वाले लोगों को छोड़ कर सामान्यतः किसी एक व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह

सातों दिन और सभी विषयों पर लिखता रहे और उससे कभी कोई भद्दी भूल, हास्यास्पद-भूल, न हो। अतः भद्दी, हास्यास्पद, भूल या गलती से बचने के लिए इस 'एकाधिकार' का त्याग करना होगा। सातों दिन अग्रलेख तथा टिप्पणियाँ लिखने के काम यदि एक ही व्यक्ति के जिम्मे हो, तो भी अन्य सहयोगियों के लिए अलग-अलग स्तम्भ खोल कर उनको अलग-अलग विषयों के विशेषज्ञ बना देने से अग्रलेखों और टिप्पणियों में प्रसंगवश आने वाले कुछ अन्य विषयों से सम्बन्धित तथ्य इन विषयों के विशेषज्ञों से प्राप्त करना आसान होता है और इस प्रकार अग्रलेखों और टिप्पणियों में तथ्यात्मक गलती होने की सम्भावना नहीं रहती। कितनी बड़ी सहायता है यह। किन्तु 'एकाधिकार' की प्रवृत्ति या 'अहं' के कारण ऐसी कुछ व्यवस्था हो सकने पर भी नहीं होती या नहीं होने दी जाती।

कुछ ऐसे भी एकाधिकारी सम्पादक देखे गये हैं, जो इस भय से अपने किसी सहयोगी को लेखन के लिए प्रोत्साहित नहीं करते कि उसकी लेखनी से अपनी लेखनी के दुर्बल होने की बात पत्र-संचालकों के सामने स्पष्ट न हो जाय। कुछ ऐसे होते हैं जो संचालकों को यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि सातों दिन अकेले लिखना ही बहुत बड़ी योग्यता है तथा यह और किसी के बस की बात नहीं है। कुछ तो उन स्तम्भों पर भी एकाधिकार कर लेते हैं—आत्मविज्ञापन के लिए और साथ ही मालिक को अपनी 'क्षमता' दिखलाने के लिए—जिन पर उनका एकाधिकार नहीं होना चाहिए। ऐसे एकाधिकारी प्रधान सम्पादकों, सम्पादकों या प्रबन्ध-सम्पादकों के सम्बन्ध में यहाँ हम 'परिमाण की अपेक्षा गुण अधिक' के कथन की ओर एक बार फिर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

जिसे प्रेरक शक्ति होना चाहिए, जिससे प्रेरक शक्ति बनने की आशा की जाती हो, वही जब लेखन के सम्बन्ध में 'पत्रकारिता के तकाजे' की जान-बूझ कर उपेक्षा करता हो तब बेचारा संचालक, जो पत्रकारिता के मर्म की समझ से दूर ही पड़ा माना जाता है, सभी पत्रकारों में लेखन-प्रेरणा भरने, लेखन-रुचि पैदा करने, की बात कैसे सोच सकता है? यदि किसी संचालक ने सभी उप-सम्पादकों के लेखन के सम्बन्ध में 'अर्थ का प्रश्न' उठा दिया तब तो वह आवश्यकता समझते हुए भी उदासीन हो जायगा। किन्तु एक अच्छा पत्र-संचालक, सम्पादन-अनुभव से न सही, संचालन-अनुभव से ही अपने पत्र में

विभिन्न स्तम्भों की, और इन स्तम्भों में पत्र के ही उप-सम्पादकों से कुछ लिखवाते रहने की, आवश्यकता महसूस करेगा, अवश्य करेगा।

पत्रों में स्थानीय से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय तक विविध विषयों पर लिखने वालों की इस प्रकार टोली बन जाने पर, पत्र सचमुच एक विश्वविद्यालय बन जा सकता है, किसी एक विषय पर लिखने वाले को दूसरे विषयों पर लिखने वाले अपने ही साथियों से दूसरे विषयों का अच्छा ज्ञान आसानी से होता चल सकता है। एक-एक या दो-दो विषयों के विशेषज्ञ हो जाने पर, सभी विषयों पर अनाप-शनाप लिखने या हर विषय में यों ही नाक घुसेड़ने या टटोलने की अथवा कुछ विषयों को टाल जाने की स्थिति (जो एकाधिकारी की होती है) समाप्त हो जायगी। स्थानीय विषयों पर लिखने वाला स्थानीय प्रशासन के ढाँचे को समझे होगा, उससे सम्बन्धित नियमों-कानूनों का ज्ञान रखेगा, व्यक्तियों और संस्थाओं के इतिहास से परिचित होगा और रोजमर्रा उठती आने वाली समस्याओं का एक रिकार्ड उसके पास होगा। इसी प्रकार प्रान्तीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विभिन्न विषयों पर लिखने वाला अपने विषयों में ज्ञानसज्ज हो जायगा और अपने पत्र को एक अच्छा पुस्तकालय और वाचनालय भी बना लेगा। लेखन-कार्य से जब पढ़ने की भी रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी तो वह अपने घर को भी एक अच्छा, वाचनालय और पुस्तकालय बना लेगा। हाँ, इस कार्य में उसे अर्थ की आवश्यकता होगी। उसकी यह आवश्यकता पत्र को उत्तम देखने के इच्छुक संचालक से, अवश्य पूरी होगी।

अवसर, किन्तु उपेक्षा

यदि यह सम्भव न हो कि किसी पत्र के सभी पत्रकारों को या अधिकांश पत्रकारों को दूसरे पत्रों में अपनी रचनाओं के प्रकाशन का बराबर या कभी-कभी अवसर मिलता रहे, तो कम-से-कम अपने ही पत्र में उसे – बराबर, नियमित रूप से नहीं तो यदाकदा ही— लिखने का अवसर मिलना चाहिए, लिखने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए। प्रायः हर पत्र का एक साप्ताहिक परिशिष्ट या विशेषांक निकलता है और अग्रलेख तथा टिप्पणियों के पृष्ठ पर प्रतिदिन दो-एक सामयिक लेख प्रकाशित होते हैं। अतः विशेषांक में और अग्रलेख व टिप्पणी के पृष्ठ पर बारी-बारी से सभी लोग कुछ लिखते रह सकते हैं। किन्तु, जहाँ स्थिति यह होती आयी हो, हो रही हो या हो गयी हो कि अपने एकाधिकार को बनाये रखने के कारण या ईर्ष्यावश अथवा भयवश

(किसी सहयोगी की कलम के सामने अपनी कलम दुर्बल सिद्ध होने के भय से) या स्वस्त स्वार्थवश कोई 'प्रधान' या अन्य सम्बन्धित सम्पादक अपने सहयोगियों को प्रेरित करना, प्रोत्साहित करना और अवसर देना न चाहता हो, तो बेचारे सह-सम्पादकों को भला स्थान कैसे मिल सकता है ? बेचारे अपने हक का कोई दावा भी तो नहीं कर सकते ।

अपने ही पत्र में अपनी रचनाओं के लिए स्थान न पा सकने वाले सम्पादकों के लिए एक और दुखद स्थिति सस्ते प्रचारप्रिय लेखकों के कारण उत्पन्न हुई है । इन सस्ते प्रचारप्रिय लेखकों की अपनी एक 'रणनीति' एक 'व्यूहरचना' ही गयी है । रचनाएँ प्रकाशित करने वाले सम्पादकों से सम्पर्क स्थापित करके वे उन्हें ऐसा 'मोह' लेते हैं कि उनसे पिण्ड छुड़ाना मुश्किल हो जाता है । चूँकि लेखक के रूप में अपने नाम बार-बार देखना, यानी अपना प्रचार करवाना, इनका सर्वप्रथम उद्देश्य होता है, अतः ये कम पारिश्रमिक पर या बिना पारिश्रमिक के ही अपनी रचनाएँ प्रकाशित कराने के लिए तैयार रहते हैं । इस स्थिति में, जिन पत्रों की वित्तीय स्थिति सचमुच बहुत अच्छी नहीं होती या जो वित्तीय स्थिति अच्छी होते हुए भी बड़े लेखकों, वास्तविक लेखकों, को उनके योग्य पारिश्रमिक नहीं देना चाहते यानी अत्यधिक व्यावसायिक प्रवृत्ति से चलाये जाते हैं, वे ऐसे लेखकों के अड्डे बन जाते हैं ।

ये बरसाती मेढकों-से बढ़ गये लेखक अपनी 'रचनाओं' के प्रकाशनार्थ सम्बन्धित सम्पादकों को खुश रखने के लिए अपने यहाँ दावतें देते रहते हैं, गोष्ठियाँ आयोजित करके उनकी अध्यक्षता इन्हीं सम्पादकों से कराते हैं और यदि इनमें से कुछ ने अपनी कोई सामाजिक और राजनीतिक स्थिति भी बना ली हो तो उसके बल पर अधिक आसानी से सम्बन्धित सम्पादकों पर हावी हो जाते हैं । इस प्रकार सम्पादकों पर हावी होने वालों में ऐसे कुछ सभासद, विधान-सभा-सदस्य और संसद-सदस्य भी आते हैं, जो अपनी स्थिति का लाभ उठा कर लेखक भी कहलाना चाहते हैं । ये सब अपने क्षेत्र में भले ही योग्य हों, लेखन-क्षेत्र में भी योग्य नहीं हो जा सकते । किन्तु कुछ सम्पादकों की कृपा से या उन पर अपनी कृपा लाद कर ये लेखक बन बैठते हैं और उनकी 'रचनाएँ' प्रमुख स्थान पाने लगती हैं ।

ऐसे तमाम लेखकों के सामने अपने ही पत्र में काम करने वाले अपने लेखनधर्मी साथियों की उपेक्षा कोई आश्चर्य की बात नहीं है जो सम्बन्धित

सम्पादकों से सम्पर्क स्थापित करके लाभान्वित होते हैं या जिनसे सम्बन्धित सम्पादक सम्पर्क स्थापित करके लाभान्वित होता हैं, उनकी रचनाओं के प्रकाशन से स्थान बचे तब तो अपने साथियों की रचनाएँ प्रकाशित की जायँ या उन्हें लिखने के लिए प्रेरित या प्रोत्साहित किया जाय। बाहर वालों की अपेक्षा अपने साथियों के प्रति कुछ-कुछ ईर्ष्या की भी, जो प्रवृत्ति देखी जाती है वह भी अपने साथियों के अपने ही पत्र में लिखने के मार्ग में एक रोड़ा है। कितने दुःख और लज्जा की बात है कि ऐरे-गैरे लोगों का तो अपने से भी अधिक प्रचार किया जाता है, उन्हें 'विशिष्ट' बनाया जाता है, किन्तु अपने योग्य सहकर्मी को उदासीन बना दिया जाता है और इस प्रकार उसकी लेखनी के लाभ से पत्र को वंचित रखा जाता है; दुःख और लज्जा की इस बात के लिए जो लोग जिम्मेदार हों उन्हें पत्र और पत्रकारिता का शत्रु क्यों न माना जाय ?

ऐसी घोर प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझते हुए भी, अपना लेखनधर्मी स्वरूप या व्यक्तित्व बनाये रखने—यानी लेखनी से सर्वथा उदासीन न हो जाने-वाले कुछ पत्रकार मिलते रहते हैं। किन्तु उन्हें अपवाद ही माना जायगा। किन्तु ये अपवाद पत्रकार भी कुछ दिनों में निराश होकर बैठ जाते हैं और मात्र अनुवादक बने रहते हैं। यदि इन्हें अपेक्षित अवसर, प्रोत्साहन और सुविधाएँ मिल सकती तो वे अपने को ही नहीं अपने पत्र और पत्रकारिता को भी प्रतिष्ठित करते। खास करके ऐसे पत्रकारों को, और आमतौर पर सभी पत्रकारों को, दृष्टि में रख कर समय रहते यह सोचना होगा कि क्या लेखन-धर्म को नष्ट करने वाली इन प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल परिस्थितियों में बदलने का कोई उपाय निकाला जा सकता है, कोई प्रयास किया जा सकता हैं, उसमें कोई लाभ देखा जा सकता है ?

प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल परिस्थितियों में बदलने में यदि न्यस्त स्वार्थ वाले प्रधान सम्पादक, सम्पादक या किसी अन्य वरिष्ठ सम्पादक को दिलचस्पी नहीं हो सकती, यदि वह प्रेरक शक्ति नहीं बन सकता और लेखन-धर्म के पालन से पत्र का हित होने की बात नहीं सोच-समझ सकता, तो क्या अनुभवी और कुशल पत्र-संचालकों, व्यवस्थापकों या प्रबन्ध-सम्पादकों से भी यह आशा करना व्यर्थ है कि वे कम-से-कम व्यावसायिक दृष्टि से तो इस लेखन-धर्म के महत्त्व को समझें और स्वयं प्रेरक शक्ति बनें। यह कितने दुःख और शर्म की बात है कि जो आशा बुद्धिजीवी कहे जाने वालों से की जानी

चाहिए वह इन संचालकों या व्यवस्थापकों से की जाय; किन्तु और उपाय ही क्या है ?

एक बार यदि कोई मालिक, संचालक या व्यवस्थापक पत्रकार के लेखन-धर्म के महत्व तथा लाभ को समझ लेगा तो वह मितव्ययिता के नाम पर ऐसा कुछ करना नहीं चाहेगा जिससे लेखनधर्मी पत्रकारों के लिए यथोचित व्यवस्था प्रस्तुत न रहे और जो स्वतः लेखनधर्मी नहीं बन पाते उनके लिए एक प्रेरक वातावरण किसी तरह न बने। इस सम्बन्ध में समाचारपत्र के अपने निजी पुस्तकालय-वाचनालय का सुझाव उपयुक्त होगा और उसे सर्वथा अव्यावहारिक नहीं माना जायगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सम्पादकीय कक्ष की बगल में ही लगा यह पुस्तकालय-वाचनालय हठात प्रेरणा देता रहेगा और पढ़ने-लिखने की रुचि न रखने वाले भी लज्जावश पढ़ने-लिखने में रुचि लेने लगेंगे। पत्रकार के लिए लेखन में, और लेखन के लिए आवश्यक अध्ययन में, जब संचालकों और व्यवस्थापकों को इतनी दिलचस्पी होगी तो पत्रकार दिलचस्पी लिये बिना कैसे रहेगा ? अर्थाभाव में सभी पत्रकारों के लिए अपना निजी पुस्तकालय-वाचनालय रखना सम्भव न होने की स्थिति में पत्र का अपना पुस्तकालय-वाचनालय उनके पत्रकारिता-सम्बन्धी एक बड़े अभाव की पूर्ति कर देगा। संसार का हर सुयोग्य और कुशल व्यवसायी पत्र-संचालक यह मानता है कि अपने पुस्तकालय के बिना कोई समाचारपत्र हीनांग होता है। पत्रकार के लिए जो यह कहा गया है कि 'उसका मस्तिष्क विश्वकोश-जैसा होना चाहिए' उसे दृष्टि में रखने पर तो पत्र के अपने पुस्तकालय-वाचनालय की सर्वोपरि आवश्यकता अपने आप स्पष्ट हो जाती है। यदि अकेले किसी एक ही पत्रकार का मस्तिष्क विश्वकोश नहीं बन सकता, तो इस पुस्तकालय और पुस्तकालयप्रियता से सभी पत्रकारों के मस्तिष्क एक साथ मिल कर तो एक विश्वकोश का काम कर ही सकते हैं। इस प्रकार पुस्तकालय की सहायता से बना संयुक्त मस्तिष्क समाचारपत्र के लिए हर अवसर पर उपयुक्त, अच्छी-से-अच्छी, लेखन-सामग्री प्रस्तुत रख सकता है।

जहाँ कहीं (जिन पत्रों के साथ) अच्छा पुस्तकालय और वाचनालय चलाना सम्भव हो, कम-से-कम वहाँ तो इसकी माँग करनी चाहिए तथा व्यवस्था होनी चाहिए और उसमें पत्रकारिता पर अधिक-से-अधिक पुस्तकें होनी चाहिएँ। हमारे देश के बड़े-से-बड़े पुस्तकालयों में भी पत्रकारिता पर इनी-गिनी पुस्तकें मिलेंगी।

इस विषय पर तो हमारे देश में पुस्तकें प्रकाशित ही बहुत कम हुई हैं, जितनी प्रकाशित हुई हैं वे भी पुस्तकालयों में नहीं मिलतीं। विदेशों में प्रकाशित पुस्तकें ढूंढ़-ढूंढ़ कर लाने की चिन्ता किसी पुस्तकालय-संचालक को भला क्यों होने लगी। इस स्थिति में समाचारपत्र से सम्बद्ध पुस्तकालय को तो देश-विदेश से इस विषय की अधिक-से-अधिक पुस्तकें जुटाने का काम करना ही होगा और अन्य विषयों की कुछ चुनी हुई पुस्तकें खरीदते रहने के लिए एक धनराशि निश्चित करनी ही होगी। यदि कुछ भी सम्भव न हो तो समीक्षा के लिए आयी पुस्तकों का ही संग्रह होना चाहिए और उन पर दो-एक सम्पादकों का ही उचित-अनुचित स्वत्व नहीं हो जाना चाहिए। सन्दर्भ-ग्रन्थ तो यों भी प्रत्येक समाचारपत्र-कार्यालय के सम्पादकीय विभाग के लिए अनिवार्य हैं। इन सन्दर्भ-ग्रन्थों में यदि 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' जैसे सन्दर्भ-ग्रन्थ की व्यवस्था हो सके तो और भी अच्छा है।

ऐसी व्यवस्था हो जाने और ऐसा वातावरण बन जाने पर सम्पादकीय विभाग का बौद्धिक स्तर ऊँचा होना निश्चित है। यदि सब-के-सब सम्पादकों का विद्वान् और सिद्धहस्त लेखक होना सम्भव न हो तो, वे उन बरसाती मेढकों की तरह उत्पन्न हो गये 'कटिंगबाज' विशुद्ध 'कलेण्डरवादी' लेखकों से तो अच्छे होंगे ही जिनकी ओर पहले संकेत किया जा चुका है। विशिष्ट पुरुषों के जन्म-दिवस या मृत्यु-दिवस पर, त्योहारों और ऐतिहासिक स्थानों पर और इसी तरह के और सामान्य सामयिक विषयों पर जो लेख पत्रों में प्रकाशित होते रहते हैं उन्हें तो ये पत्रकार स्वयं लिखने लगेंगे और आपस में विचार-विमर्श से उनकी रचनाएँ अधिक परिष्कृत तथा समृद्ध होंगी, उनमें 'नकल-की-नकल' नहीं होगी, 'अपनी रचना में' सचमुच 'बहुत कुछ अपना' होगा और वे यह महसूस करके विशेष आनन्दित होंगे कि अपनी रचना में 'मैं कहीं हूँ', यानी इस प्रकार उनका अपना विशिष्ट लेखक-व्यक्तित्व बन कर रहेगा और वे अपना तथा पत्र का समान रूप से हित करेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये लेखक-पत्रकार स्वयं अपने पत्र की एक अतिरिक्त पूँजी का काम करेंगे। यह अतिरिक्त पूँजी अन्य सम्पादन-कार्यों में भी सम्पादकीय विभाग के सदस्यों की दिलचस्पी बढ़ा देगी।

कुछ लोग कह सकते हैं कि प्रत्येक पत्रकार से लेखन धर्म का पालन किये जाने की आशा नहीं की जा सकती। ऐसी आशा में बहुतों को कोरी कल्पना,

कोरा आदर्शवाद और अव्यावहारिकता ही दिखलायी देगी, क्योंकि यह मूलतः रुचि का प्रश्न है और रुचि ऐसी चीज है जो लादी नहीं जा सकती। किन्तु, यहाँ रुचि लादने का कोई प्रश्न नहीं है। वह तो अनुकूल स्थिति और वातावरण बन जाने पर अपने-आप आ जायगी। अपने को पत्रकार मान कर गौरव का अनुभव करने वाले व्यक्ति को यदि एक बार यह बोध करा दिया जाय कि लेखन-कार्य के बिना उसकी पत्रकारिता अधूरी है, तो वह लेखन की ओर प्रवृत्त हो जायगा, उसमें रस लेने लगेगा। लेखन से कुछ अर्थोपार्जन के साथ ही अपने नाम का प्रकाशन एक ऐसी बात है, जो किसी को भी लिखने के लिए प्रेरित करेगी ही। हो सकता है कि इस तथ्य के बावजूद कुछ लोग ऐसे हों जो लिखने में रुचि न लें। किन्तु लिखने में पत्रकार की रुचि का अर्थ यही नहीं होना चाहिए कि वह लेखक के रूप में अलग से अपना नाम विज्ञापित होने के लिए ही हमेशा लालायित रहे। यदि कोई पत्रकार अलग से लेख या निबन्ध न लिख सका हो, उसके अपने ही नाम से लेख या निबन्ध अलग से प्रकाशित न हुए हों, उसकी अपनी कोई पुस्तक प्रकाशित न हुई हो तो भी उसे लेखक माना जायगा, बशर्ते वह अपने पत्र में कुशल अग्रलेखक या टिप्पणी-लेखक या स्तम्भ-लेखक रहा हो। हम अपने हिन्दी-क्षेत्र में स्वर्गीय बाबूराव विष्णु पराड़कर को ही लेते हैं। उन्होंने कौन-सी पुस्तक लिखी, अपने नाम देकर कितने अधिक लेख प्रकाशित कराये? फिर भी, क्या किसी को यह कहने की हिम्मत हो सकती है कि वह लेखक नहीं थे। वस्तुतः वह लेखकों के लेखक बन गये थे। उनके समय के और उनकी पीढ़ी के बाद के अनेक बड़े लेखकों ने उन्हें 'लेखक-निर्माता' स्वीकार किया है। उन्होंने अपने अग्रलेखों तथा टिप्पणियों से ही अपनी लेखनी का ऐसा कमाल दिखलाया था कि उनके अग्रलेखों तथा टिप्पणियों के अंश अनेक अँग्रेजी पत्रों में उद्धृत होते रहे।

लेखन-धर्म, लेखन-रुचि और लेखन-सुविधा आदि के प्रसंग में यह पूछा जा सकता है कि जिन देशों में पत्र और पत्रकार की स्थिति काफी अच्छी है और पत्र-संचालकों की दिलचस्पी भी काफी ऊँची है, उनमें क्या सभी पत्रकार लेखक हो गये हैं? यहाँ कोई ठीक-ठीक आँकड़े रख कर प्रश्न का उत्तर देना तो कठिन है, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रत्येक पत्रकार घोषित रूप में या प्रत्यक्ष रूप में लेखक भले ही न हो गया हो, वह लिखने के लिए हमेशा तैयार रहता है, तैयार रखा जाता है। यह भी पूछा जा सकता है कि संसार के जिन अनेक समाचारपत्रों में सम्पादक-मण्डल के सदस्यों की संख्या

दस-बीस नहीं कई सौ तक हो (ऐसे पत्र हैं), उनका प्रत्येक सम्पादक क्या लेखक होगा ? हो या न हो, हो सकता है। इतने सारे विषय अखबार में आते हैं कि अकेले एक या दो, दस या बीस व्यक्ति उन सबके विशेषज्ञ नहीं हो सकते, अतः सैकड़ों व्यक्तियों का विविध विषयों में लगना-लगाना असम्भव नहीं है। विश्व के अनेक समाचारपत्रों में एक-एक विषय के दस-दस विशेषज्ञ हैं, जो बारी-बारी से लिखते रहते हैं और एक-दूसरे के लेखन में योगदान करते रहते हैं। काश भारत में भी कम-से-कम दो-चार पत्र ऐसे हो जाते !

लेखन की विशिष्ट स्थिति

लेखन के लिए, यदि किसी का किताबी ज्ञान अधिक न हो तो भी पत्रकार को चिन्तन और मनन के ऐसे अवसर उपलब्ध होते रहते हैं, जो अन्य लेखकों को सामान्यतः अनुपलब्ध से ही रह जाते हैं। किसी भी पत्रकार के सामने प्रतिदिन उतार-चढ़ाव की जाने कितनी बातें और जाने कितने राजनीतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक और साहित्यिक पात्र भिन्न-भिन्न रूपों में विविध नाटकीयताओं के साथ आते रहते हैं। उसके सामने चोर, डाकू, हत्यारे, लुटेरे और दूसरे आततायी भी आते हैं। किसी क्षण पत्रकार इस भले-बुरे के साथ होता है, किसी क्षण उस भले-बुरे के साथ। पत्रकार कभी शासक को निकट से देखता है कभी शासित को। वह कभी शासक की भाषा सुनता है और समझता है, कभी शासित की भाषा के मर्म तक पहुँच जाता है। दोनों 'भाषाओं का विवाद' देख कर वह अपने कुछ सही निष्कर्ष निकाल सकता है—औरों की अपेक्षा अधिक आसानी से। इसी प्रकार कभी मानो शासक दल के बीच, कभी मानो प्रतिपक्षी दल के बीच, बैठे-बैठे वह दोनों की दूरी नापने के बाद यह देखने का प्रयास करता है या कर सकता है कि स्वयं ये दोनों पक्ष जनता से कितने दूर हैं, कितने निकट हैं।

पत्रकार बैठे-बैठे ही, 'बिना सम्पर्क के सम्पर्क से', यह पता लगा लेता है या पता लगा सकता है कि तमाम राजनीतिज्ञों के बीच कितने सफेदपोश 'सुसभ्य' चोर, डाकू और ठग हैं, वह एक-एक के चरित्र का सही चित्र अपने विचार-पटल पर खींच लेता है, उसे यह समझने में देर नहीं लगती, दिक्कत नहीं होती, कि किसी नेता की जन-कल्याणकारी-सी लगने वाली मीठी-मीठी बातों में वस्तुतः कितनी मिठास है और कितनी कटुता-तिक्तता है, कितनी विषाक्तता है; वह आसानी से पता लगा लेता है या लगा सकता है कि किसी

की धमकी में कितनी ताकत है, और कितनी कमजोरी है और कब किसकी धमकी में कोई तत्व था और कब वह कैसे निस्तत्व हो गयी। हर व्यक्ति के स्वर की गहराई, उसके अन्तर्द्वन्द्व, उसकी मानवता और दानवता को भी ठीक-ठीक नापने-परखने में पत्रकार समर्थ हो जाता है। अपनी कल्पनाशीलता, भावप्रवणता, अनुभूति, अनुभव, बुद्धि, विवेक, तर्क तथा विश्लेषण-क्षमता से पत्रकार को सचमुच ऐसा महसूस होने लगता है कि हत्यारे, चोर, डाकू आदि से लेकर परम दार्शनिक तथा साधु-महात्मा तक उसके पास बैठ कर अपने दिल और दिमाग खोल रहे हैं। इस, एक-तरह के साक्षात्कार या एक-तरह-की भेंट-वार्ता में पत्रकार जहाँ एक ओर यह देख लेता है कि हत्यारों, चोर-डाकुओं और दूसरे आततायियों में कहीं-न-कहीं कोई साधुता, महानता तथा देवत्व भी है वहीं दूसरी ओर उसे यह देखने में भी कठिनाई नहीं होती कि दार्शनिकों और महात्माओं के रूप में अतिविज्ञापित लोगों में कितनी असाधुता, तुच्छता, पाखण्ड, प्रवंचकता, अहं, आत्मप्रदर्शन आदि हैं। यह सब पत्रकार का अपना एक अनूठा अध्ययन ही तो है, जिसके आधार पर वह अपनी लेखनी को अनूठी बना सकता है।

यदि पत्रकार अधिक कल्पनाशील, भावप्रवण आदि न हुआ तो भी, और कुछ नहीं तो कम-से-कम उन वक्तव्यों तथा भाषणों से ही, जो वह प्रकाशित करता रहता है, लोगों को ठीक-ठीक समझ लेता है, बशर्ते बुद्धिनेत्र पर दासता या धारणा की पट्टी न पड़ गयी हो। इन भाषणों और वक्तव्यों में जो परस्पर-विरोधी बातें वह देखता है वे उसके व्यक्ति-अध्ययन का एक सरल आधार प्रस्तुत करती हैं। वक्तव्यों और भाषणों के माध्यम से व्यक्ति का अध्ययन ऐसा होता है कि एक साधारण पत्रकार भी, जिसकी स्मरणशक्ति सर्वथा क्षीण न हो गयी हो या जो जान-बूझ कर सब कुछ भुला न देना चाहता हो, भाषणों और वक्तव्यों के 'स्वर-परिवर्तन' से किसी व्यक्ति को परिवर्तित हो गया नहीं मान लेगा। कुछ ही दिनों पूर्व अपने भाषणों और वक्तव्यों में भीरुता, कायरता या बचाव का परिचय देने वाले राजनेता या राजनीतिज्ञ को एक परिवर्तित नयी परिस्थिति में निर्भयता, साहस और प्रहार का परिचय देने पर एक तथ्यदर्शी पत्रकार साधारण जनों की तरह वाह-वाह नहीं करने लगेगा और व्यक्ति के बजाय परिस्थितियों का अध्ययन करेगा और इसी अध्ययन के अनुसार लिखने का प्रयास करेगा। यह अध्ययन किताबी अध्ययन को और गहरा बना देता है

'बिना पुस्तकों का यह अध्ययन' केवल पुस्तकें पढ़ कर विद्वान् कहलाने वाले या विद्वान् हो गये लोगों के मन में भी एक ईर्ष्या पैदा कर सकता है और एक बड़े अभाव का बोध करा सकता है। किन्तु, यदि 'बिना पुस्तकों का यह अध्ययन' भी किसी पत्रकार के पल्ले न पड़े, तो इसे उसका दुर्भाग्य ही कहा जायगा। इस अध्ययन के लिए इतना तो आवश्यक है ही कि अखबारनवीस कम-से-कम उतने समय तक तो समाचारों में रमा रहे जितने समय वह कार्यालय में होता है। टेलिप्रिण्टर के पास बैठा पत्रकार यदि यह महसूस नहीं करता कि 'जहाँ-जहाँ के समाचार आ रहे हैं वहाँ-वहाँ वह पहुँचा हुआ है, वहाँ-वहाँ वह घूम रहा है' तो उसे समाचारों में रमा नहीं कहा जायगा। समाचारों में रमा पत्रकार टेलिप्रिण्टर की बगल में बैठा कुछ ऐसा अनुभव करता है कि वह सर्वव्यापी हो गया है। जबकि किसी बाहरी आदमी को खट-खट, पट-पट करते टेलिप्रिण्टर के पास घण्टा-आध-घण्टा बैठना भी कष्टकर मालूम होता हो, ऐसे पत्रकार को टेलिप्रिण्टर का दस-पाँच मिनट के लिए भी मौन हो जाना खलने लगता है। टेलिप्रिण्टर के पास बैठे समाचारों में इस प्रकार रमे पत्रकार को जब अपनी सर्वव्यापकता का बोध होता हो तो वह अपनी कल्पनाशीलता को जरा और आगे बढ़ा कर उसमें किताबी ज्ञान का योग करके अच्छा लेखक क्यों नहीं हो सकता ?

पत्रकार के लिए उपलब्ध उपर्युक्त विशिष्ट स्थितियों में उसके विशिष्ट लेखक और विश्लेषक बनने की जो सम्भावनाएँ हैं उन्हें अधिकांश पत्रकार स्वयं नहीं समझ सके हैं, क्योंकि न तो वे विशिष्ट दृष्टि लेकर आते हैं और न विशिष्ट दृष्टि प्राप्त कर पाते हैं—जैसाकि पूर्व चित्रण से स्पष्ट है। काश, पत्रकारों को अपनी विशिष्ट स्थिति का बोध हो जाता और बोध होने के बाद वे उसका उपयोग करने में समर्थ हो जाते ! अपनी इस विशिष्ट स्थिति का उपयोग करने में समर्थ होने के साथ ही यदि वे किताबी ज्ञान के लिए भी आतुर हो जायँ, तो क्या कहना ! अपनी विशिष्ट स्थिति से प्राप्त ज्ञान के साथ अपने किताबी ज्ञान को मिला कर जब पत्रकार लेखन-कार्य करता है, तो उसे यह विश्वास हो जाता है कि वह उन लोगों से कहीं अच्छा लिख सकता है, जो केवल किताबी ज्ञान से लदे होते हैं। कोई विद्वान् होने से ही अच्छा लेखक भी हो ही जायगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनेक विद्वानों के सम्बन्ध में अक्सर देखा गया है कि अपने विषय पर भाषण देना हो या उसे पढ़ाना हो, तो अपनी

पूरी विद्वत्ता दिखला ले जायँगें, किन्तु लिखने बैठने पर या तो बहुत अधिक नही लिख पायेंगे या ऐसा विस्तार कर देंगे की पाठक ऊब जायगा। कब, कहाँ और कैसे कोई विषय संक्षेप में (गागर में सागर) और कोई विषय विस्तार में प्रस्तुत करना होता है, इसे अपनी परिस्थिति में रमा और साथ ही अध्ययन मे रमा पत्रकार जितनी अच्छी तरह जानता है या जान सकता है उतनी अच्छी तरह और कोई नहीं जानता या जान सकता।

पत्रकार को अपनी लेखनी को विशिष्ट बनाने का एक विशेष अवसर मिलता है— स्वयं अपनी समस्याओं से। यदि पत्रकार ने इन समस्याओं से कतराने की कोशिश नहीं की या वह परिस्थितिगत उदासीनता अथवा झुँझलाहट का शिकार नहीं हुआ, तो ये समस्याएँ ही उसकी लेखन-शक्ति बन जायेंगी और उनका समाधान अपने-आप हो जायगा। यह कोई कल्पना की बात नहीं, एक अनुभूत सत्य है। अपने पाठकों के समक्ष विविध विषयों पर रचनाएँ प्रस्तुत करते समय जिन-जिन बातों का ख्याल रखने की आवश्यकता होती है वे सब समस्या के ही रूप में पत्रकारों के सामने आती है और पत्रकार उन्हें बड़ी खूबी से निपटा देता है या निपटा सकता है। जिस तरह पाठकों के समक्ष समाचार प्रस्तुत करते समय यह देखना पड़ता है कि पाठक क्या चाहते हैं उसी तरह लेख प्रस्तुत करते समय भी यही देखना पड़ता है। पत्रकार को अपने लेखन मे एक ओर जहाँ पाठकों की अच्छी या बुरी रुचि के साथ चलना पड़ता है अथवा समझौता करना पड़ता है वहीं दूसरी ओर उसी रुचि को पकड़ कर उसे परिष्कृत करके प्रस्तुत करने की कला भी अपनी रचना में दिखलानी पड़ती है। यह कार्य कठिन अवश्य है, किन्तु पत्रकार से इसे सम्पन्न करने की आशा की जाती है। अपने लेखन-कार्य में पत्रकार को संचालकों या प्रबन्धमण्डल के विशुद्ध व्यावसायिक दृष्टिकोण से भी इस तरह समझौता करने की योग्यता तथा क्षमता दिखलानी पड़ती है कि पाठक बहुत ज्यादा नाराज न हो जाय।

चूँकि पत्रकारों पर दूसरों की प्रकाश्य रचनाओं को सम्पादित करने का भी दायित्व होता है और अपने इस दायित्व के अन्तर्गत उनके लिए यह देखना आवश्यक होता है कि सामग्री कहाँ तक सरल, सुबोध तथा रोचक है, उसमें क्या प्रासंगिक है क्या अप्रासंगिक है, उसका समारम्भ और समापन कैसा है उसमें जो अंश जहाँ होने चाहिए (आगे पीछे और बीच में) वहाँ हैं या नही अत जब वे स्वय कुछ लिखेंगे तो इन बातो को अवश्य देखना चाहेंगे जो

दूसरों की रचनाओं को परखता है, उनका परिष्कार करता है वह भला अपनी ही रचनाओं को इस प्रकार क्यों नहीं परखेगा और उनका परिष्कार क्यों नहीं करेगा और अन्त में अपने को 'लेखकों का लेखक' क्यों नहीं सिद्ध करेगा ? किन्तु यहाँ अनेक कारणों से अनेक 'किन्तु' लग गये हैं।

यदि पत्रकार 'लेखकों का लेखक' हो या उसे होना चाहिए तो क्यों ? क्या केवल 'स्वान्तः सुखाय' ? यह सही है कि पत्रकार अपना लिखा हुआ कुछ देख कर सुखी होता है, किन्तु यदि वह केवल 'स्वान्तः सुखाय' को ही अपना उद्देश्य बना लेता है और पाठकों को सुख पहुँचाना उसका गौण उद्देश्य होता है, तो बहुत सम्भव है कि उसका लिखना पाठकों के लिए आकर्षक और सार्थक न रह जाय। पाठकों के लिए उसका लिखना आकर्षक और सार्थक न रह जाने पर, उससे पाठकों को कोई नयी चीज न मिलने पर, उसकी लेखनी धन्य नहीं होगी——भले ही वह अपने को लेखक भी मान बैठे और ऊपर-ही-ऊपर पुरस्कृत भी हो जाय। 'स्वान्तः सुखाय' लिखा जाय या अपने हृदय की बात औरों को बता देने की इच्छा से लिखा जाय या 'पत्र की नीतियों की सेवा' के लिए लिखा जाय, उसे पढ़ता है पाठक ही। अतः पाठक को गौण मान कर या, दूसरे शब्दों में, पाठकों को सुख पहुँचाने का उद्देश्य गौण हो जाने पर, लिखना व्यर्थ क्यों नहीं माना जायगा ?

पाठकों को अतीत, वर्तमान और भविष्य पर एक साथ दृष्टि रखने की जितनी आशा सम्पादकों से हो सकती है उतनी शायद और किसी से नहीं। किन्तु जब समय के प्रवाह के साथ वस्तुस्थिति का दर्शन करने में सम्पादक विफल हो जाते हैं, तो पाठकों की रुचि उनके कृतित्व में नहीं रह जाती। आज सामान्यतः अग्रलेखों और टिप्पणियों के बारे में ऐसा ही कुछ देखने में आ रहा है। इस बात को स्वयं अनेक ब्रिटिश पत्रकारों ने कहा है कि ब्रिटेन तक में अब अग्रलेखों और टिप्पणियों का वह मान नहीं रह गया है जो आज से ४०-५० वर्ष पहले तक था। इस स्थिति से वे चिन्तित हो उठे हैं और उन्होंने अपनी चिन्ता लिख कर भी व्यक्त की है। सचमुच अब यही लगता है कि सम्पादकीय स्तम्भ का महत्त्व सर्वत्र घट जायगा। जब काल अपनी गति से और अपने ढंग से एक निश्चित सामाजिक विकास के मार्ग पर चला जा रहा हो, जब काल की जो दिशा है वही रहेगी, जब सामाजिक विकास किन्हीं मूलभूत विधि-विधानों से अनुशासित और संचालित होता हो और जब इनमें

परिवर्तन करना किसी के वश की बात न हो तब यह सम्भव कैसे माना जा सकता है कि समाज सभी पत्रों के विचारों और नीतियों के अनुसार ही चलता रहेगा—भले ही कुछ समय तक वह किसी सम्पादक को अपने विचारों तथा नीतियों के अनुसार चलता दिखलायी देता हो ?

इस स्थिति में कोई सम्पादक युगानुभूति के प्रतिकूल पाठकों को कहाँ तक और कब तक ले चल सकता है ? युगानुभूति न होने पर तमाम सामाजिक एवं आर्थिक स्तरों के वैज्ञानिक अध्ययन तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों, विभेदों और असंगतियों के विश्लेषण की क्षमता के बावजूद, सम्पादक की लेखनी पाठकों के सामने अन्ततः विफल हो जाती है और उनका महत्त्व कम होता चला जाता है। बेचारे पाठक यह कैसे जानेंगे कि सम्पादक ने तमाम सामाजिक एवं वैज्ञानिक स्तरों का अध्ययन तो किया है, उनके पारस्परिक सम्बन्धों, विभेदों और असंगतियों का विश्लेषण करना भी जानता है, किन्तु उन्हीं के अनुसार अपने विचार व्यक्त करने में स्वतन्त्र नहीं है या उन्हीं के अनुसार उसे एक युगानुभूति नहीं हुई है। हाँ, यह हो सकता है कि सम्पादक अपनी वकीली कला—यानी तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर अपने ढंग से प्रस्तुत करने की, सत्य को असत्य और, असत्य को सत्य सिद्ध करने की, कला—से तथा अपनी विशिष्ट भाषा या शैली से कुछ दिनों तक पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट किये रहे। किन्तु ये 'कुछ दिन' पाठकों के समक्ष अन्ततः प्रवंचना के दिन सिद्ध हुए बिना नहीं रहेंगे।

जो कुछ भी हो, मात्र लेखन-कला की ही दृष्टि से, ऐसे पत्रकार उन पत्रकारों से तो कुछ अच्छे कहे जायेंगे जो न तो आदर्शों, विश्लेषणों और अध्ययनों के अनुसार और न पत्र की किन्हीं नीतियों के ही अनुसार कुछ विशिष्ट ढंग से लिख कर पाठकों को संतुष्ट कर पाते हैं। इनके द्वारा अपने स्तम्भ में व्यक्त किये गये विचारों पर उस समय तक तो पाठकों का ध्यान जाता ही रहेगा जब तक उनका (पाठकों का) बौद्धिक धरातल—क्रान्तिकारी परिवर्त्तन की आशा तथा विश्वास से—ऊँचा नहीं उठ जाता। उस समय तक ऐसे अनेक विषयों पर जिन पर मालिक का अंकुश नहीं है वे पाठकों के सामने कुछ स्वतन्त्रतापूर्वक विचार व्यक्त करते रह सकते हैं और मालिक तथा पाठकों—दोनों को—संतुष्ट रख सकते हैं।

यदि काल के अपनी गति से और अपने ढंग से एक निश्चित सामाजिक विकास के मार्ग पर चलते रहने, उसकी अपनी एक निश्चित दिशा होने और सामाजिक विकास के किन्हीं विधि-विधानों से उसके अनुशासित-संचालित होने की बातों के बारे में आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि पहले न मिली होने के बावजूद 'टाइम्स' को किसी समय 'शासक-निर्माता' कहा जाता रहा तो इसका श्रेय उसके सम्पादक डीलेन की लेखनी को ही था। इसी प्रकार लेखनी के कमाल के प्रसंग में एच० डब्लू० नेसिंधम का नाम लिया जायगा। इन दोनों का उल्लेख पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है। इन दोनों ने यह सिद्ध कर दिया था कि कलम की ताकत के सामने तलवार (आणविक आयुधों के वर्त्तमान युग में भी तलवार को भीषणतम आयुधों के अर्थ में, प्रतीक रूप में, प्रयुक्त किया जायगा) की ताकत नगण्य है। हमारे देश में भी अनेक पत्रकार ऐसे हो गये हैं जिनकी कलम अक्सर तलवार बन जाती थी। किन्तु, आज अपने देश या दूसरे देशों में अधिकांश पत्रकारों की लेखनी उत्तरोत्तर दुर्बल होती दिखलायी दे रही है।

आज कितने पत्र-सम्पादक दावे के साथ स्वयं कह सकते हैं या उनके बारे में दूसरे कह सकते हैं कि उनकी लेखनी तलवार का काम कर रही है या कर सकती है। खास करके हमारे देश में जब हाल यह हो गया हो कि अधिकांश पत्रकार दिल्ली या प्रान्तीय राजधानियों की ओर दौड़े चले जा रहे हैं, दूतावासों की सेवा में लग गये हैं या आँख मूँद कर पत्र की नीति के ही भक्त हो गये हैं, प्राप्त स्वतन्त्रता का भी समुचित उपयोग नहीं कर रहे हैं या नहीं कर सक रहे हैं और परम 'व्यावहारिक' बन गये हैं अथवा व्यावहारिकता का राग अलाप रहे हैं, तब भला उनकी कलम के तलवार बन जाने की आशा कैसे की जा सकती है? जहाँ तक केवल व्यावहारिकता का, या व्यावहारिक ही बने रहने का, सवाल है, वह एक हद तक समझ में आती है; किन्तु इस व्यावहारिकता की भी तो एक योग्यता होनी चाहिए और उसे खूबी से कागज पर उतारने की एक कला अपने पास होनी चाहिए।

लेखन-क्षेत्र की निर्भीकता और स्वतन्त्रता के जो उदाहरण अतीत में या वर्त्तमान में प्रस्तुत हुए हैं उन्हें सामान्यतः यदि अपवाद ही माना जाय तो भी उनसे थोड़ी-बहुत प्रेरणा कोई भी पत्रकार ले सकता है और सम्पूर्णतः आत्म-समर्पण करने के बजाय व्यावहारिकता का परिचय 'कुछ विशिष्टता के साथ'

दे सकता है। ऐसे पत्रकार द्वारा लिखे गये अग्रलेख और टिप्पणियाँ पढ़ने पर आसानी से कोई यह नहीं भाँप सकता कि वे बहुत डरते-डरते लिखे गये हैं और उनमें निर्भीकता तथा स्वतन्त्रता बिलकुल नहीं है। किन्तु आज कोरी व्यावहारिकता का राग अलापने वाले पत्रकार उनसे भी कुछ सीखने के लिए तैयार नहीं हैं, जो व्यावहारिकता का परिचय कुछ विशिष्टता के साथ देते हैं। ऐसे तृतीय श्रेणी के पत्रकारों के बारे में वस्तुतः बात यह होती है कि वे आत्मलाघव से बहुत ज्यादा पीड़ित रहते हैं और उन्हें अपने ही ऊपर विश्वास नहीं होता।

अन्त में एक बार फिर हम यह कहना चाहते हैं कि स्थिति सामान्य हो या असामान्य, पत्रकार आदर्श प्रेरित हों या मात्र 'व्यावहारिक', पत्रकारिता के क्षेत्र में आकर लिखना होगा, लिखने के लिए तैयार रहना होगा और यदि कहीं से किसी से, कोई प्रोत्साहन न मिल रहा हो, तो भी स्वयं प्रयत्न करना होगा, संघर्ष करना होगा। यदि प्रति दिन कुछ लिखना असम्भव हो, हर हफ्ते लिखना सम्भव न हो और महीने में एक बार भी लिखने का अवसर न मिले तो कम-से-कम साल में दो-चार बार तो कुछ-न-कुछ लिखने का अवसर प्राप्त करना ही चाहिए ताकि लेखनी कुण्ठित न हो जाय। अपनी ओर से कुछ उठा न रखने के बावजूद भी यदि किसी पत्रकार को अपनी लेखन-योग्यता और क्षमता का परिचय देने का अवसर न मिले तो वह कम-से-कम 'लेखक न बन सकने की एक पीड़ा' तो पाल ही ले और बिना कुछ लिखे ही यह सन्तोष करके न बैठ जाय कि 'कुछ भी हो पत्रकार तो हूँ ही'।

—'माध्यम' में प्रकाशनार्थ स्वीकृत

प्राप्त स्वतंत्रता का भी उपयोग नहीं

वस्तुस्थिति को समझ कर व्यावहारिक बुद्धि का उपयोग करने वाले पत्र-संचालकों की कृपा से यदि समाचारों के मामले में थोड़ी-बहुत स्वतन्त्रता प्राप्त हो तो इसे ही आज की परिस्थिति में एक आदर्श मान लिया जा सकता है। इस प्रकार 'संचालक-प्रदत्त' आदर्श का उपयोग करके सम्पादकगण पाठकों को कुछ संतुष्ट कर सकते हैं और पत्र की ओर आकृष्ट कर पत्र की सेवा का श्रेय भी ले सकते हैं। जो पत्रकार समाचारों के मामले में भी डरे-डरे-से होते हैं या मालिक के न चाहते हुए भी उसे खुश रखने की कोशिश में कुछ समाचार बिलकुल दबा देते है या उन्हें अपेक्षित महत्व से बहुत कम महत्व देते हैं वे न केवल अपनी बुद्धि और प्रवृत्ति को दूषित और दुर्बल करते हैं, बल्कि अन्ततः पत्र के और पत्र-संचालक के भी द्रोही सिद्ध हो जाते हैं। यद्यपि सामान्यतः अधिकांश स्वामी चाटुकारिताप्रिय होते हैं, किन्तु समझदार स्वामी ऐसी किसी चाटुकारिता से नाराज भी हो सकते हैं जो उनके व्यावहारिक हित पर प्रहार करने वाली सिद्ध होती दिखलायी देती हो। और फिर, जहाँ सभी लोग 'खुशामद में आमद' का सिद्धान्त अपना कर बैठे हों वहाँ तो मामूली बुद्धि वाला संचालक भी सम्पादन-कार्य में अनावश्यक चाटुकारिता का परिचय देने वाले सम्पादकों से नफ़रत करने लगेगा।

प्रायः यह देखा गया है कि जो पत्र-संचालक अखिलदेशीय स्तर के उद्योगपति होते हैं वे अपने अन्य बड़े-बड़े उद्योगों से ही सीधा सम्पर्क रखते हैं और समाचार-पत्र व्यवसाय को गौण (आर्थिक दृष्टि से) मान लेते हैं। अतः वे पत्रों के संचालन का काम बीच के अपने कुछ खास लोगों पर छोड़ देते हैं। बीच के इन लोगों की दृष्टि यदि पत्र-व्यवसाय के अनुकूल न हुई और यदि वे लोग यह न देख सके कि समाचारों के मामले में स्वयं उनके मालिक कुछ

स्वतन्त्रता देना व्यावसायिक हित में समझते हैं, यदि अज्ञानवश मालिक से डरे रहने या चाटुकारिता से ही खुश करने का स्वभाव इनका भी रहा और यदि . . द ये खुशामदपसन्द हुए या अपने से नीचे के लोगों की खुशामद से प्रभावित होते गये तो पत्रकारिता-द्रोही चाटुकार एवं अयोग्य सम्पादकों की बन आती है। किन्तु, ऐसे सम्पादकों का पाला जब किसी 'टेढ़े' आदमी से पड़ जाता है तब उन्हें बगलें झाकनी पड़ती हैं और किसी के लिए उनका पक्ष लेना कठिन हो जाता है। यहाँ 'प्राप्त स्वतन्त्रता' का भी उपयोग न करने और न करने देने वाले एक . . पादक की चर्चा से सम्पूर्ण स्थिति का एक संक्षिप्त परिचय मिल जायगा।

एक बार एक पत्र-स्वामी के अन्य संस्थानों के विरुद्ध गम्भीर आरोप का एक समाचार, जो समाचार-समिति द्वारा प्रसारित किया गया था, '...संस्थानों के विरुद्ध . . ीर आरोप' शीर्षक से मुखपृष्ठ पर प्रकाशित हो गया। शीर्षक मामूली टा . . में एक-कालमी ही था। समाचार प्रकाशित होते ही सम्पादक ने दो सह-सम . . कों के नाम एक पत्र लिख कर जवाब-तलब किया। सम्पादक ने पत्र में लि . . कि "यह समाचार पहले पृष्ठ पर नहीं देना चाहिए था और...जी का नाम . . शीर्षक में नहीं जाना चाहिए था।" पत्र में आगे उन्होंने लिखा, "आप दोनों को यह मालूम होगा कि श्री...सम्बन्धी समाचार इस तरह नहीं बैठाये जाते। फिर भी आपने शीर्षक में नाम देकर पहले ही पृष्ठ पर दे दिया है। हमें तो लगता है कि जिसने मेक-अप किया है उसने जानबूझ कर इस समाचार को पहले पृष्ठ पर बैठाया। क्या आप लोग बता सकते हैं कि परम्परा के विरुद्ध इस तरह यह समाचार क्यों बैठाया गया?"

अपने दो सहकर्मियों के नाम यह पत्र लिख कर सम्पादक बहुत खुश था। इसकी एक-एक प्रति उसने व्यवस्थापक, प्रधान व्यवस्थापक, सचिव और डायरेक्टर के पास भेज दी—यह दिखाने के लिए कि वह मालिक के खिलाफ मामूली ढंग से भी कोई समाचार प्रकाशित नहीं देखना चाहता। किन्तु जिनसे जवाब-तलब किया गया था उनमें से एक ने इस पत्र का जो जवाब दिया उससे उसकी सारी 'ठकुर-सुहाती' ध्वस्त हो गयी और उसे अपना-सा मुँह लेकर रह जाना पड़ा। उस सहकर्मी के तर्क इतने प्रबल थे कि कोई कारंवाई की ही नहीं जा सकती थी और यदि वह पत्र सीधे पत्र-स्वामी के पास जाता तो वह

(पत्र-स्वामी) जवाब-तलब करने वाले सम्पादक की मूर्खता और मूर्खतापूर्ण चाटुकारिता पर शायद नाराज ही होता।

जवाब इस प्रकार है :—

"श्रीमान् सम्पादकजी...

"आपका......[1] का पत्र मिला। '..............[2] के विरुद्ध आरोप' शीर्षक समाचार के बारे में आपने मुझसे जो जवाब-तलब किया है, उसके सम्बन्ध में पहले तो मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि वह पहले से ही प्रथम पृष्ठ पर बैठा था। शीर्षक भी पहले का ही था।

"मैं जानता हूँ कि किसी पत्र की निर्धारित नीति के विरुद्ध काम करके कोई एक दिन भी नहीं टिक सकता। मैंने जिस किसी पत्र में काम किया उसकी नीति को बराबर ध्यान में रखा। अपने पत्र-स्वामी के विरुद्ध स्वयं कुछ लिखने या देने की बात तो मैंने कभी सोची भी नहीं। अगर पत्र की नीति और पत्र-स्वामी के मान तथा हित पर ध्यान न रहता तो इतने दिनों तक कहीं निर्वाह न होता। नीति पर अपना कोई विचार या अपनी कोई भावना लादने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।"

"चूँकि पहले भी इस सम्बन्ध में '.......'[3] और '.......'[4] में समाचार प्रकाशित हुए हैं, और जहाँ तक मुझे याद है, एकाधिक बार पहले पृष्ठ पर भी रखे गये हैं, अतः उक्त समाचार को दूसरे किसी पृष्ठ पर हटा देने की आवश्यकता की ओर मेरा ध्यान हठात् नहीं जा सका।......[5] के अपने सहयोगी पत्रों— '......[6] और' '.......'[7] में इस सम्बन्ध के समाचार एकाधिक बार प्रथम पृष्ठ पर ही देखे थे। जिस दिन आपने जवाब-तलब किया उसी दिन के '.......'[8] में प्रथम पृष्ठ पर तीन-कालमी शीर्षक '..........'[9] से यह समाचार देखने को मिला। '.......'[10] और '.......'[11] में प्रकाशित समाचार में भी......[12] जी का नाम (शीर्षक में) था।

नोट:— १. तारीख। २. संचालक का नाम। ३. उसी मालिक के एक अखबार का नाम। ४. उसी मालिक के दूसरे अखबार का नाम। ५. संचालक का नाम। ६. समाचारपत्र का नाम। ७. दूसरे समाचारपत्र का नाम। ८. समाचार पत्र का नाम। ९. शीर्षक की शब्दावली। १०. अखबार का नाम। ११. अखबार का नाम।

"अब तक की इस स्थिति में मेरे ही दिमाग में भला यह बात अपने-आप कैसे आ सकती थी कि ऐसे समाचारों के सम्बन्ध में किसी एक केन्द्र से कहो कोई नीति निर्धारित तो नहीं हो चुकी है। अस्तु, आपका यह कथन कि "आपको यह मालूम होगा कि श्री ·····[१३] जी-सम्बन्धी समाचार इस तरह नहीं बैठाये जाते" मेरी समझ में नहीं आ रहा है। अगर किन्हीं विशेष कारणों से '·······'[१४] तथा '·······'[१५] की नीति '·······',[१६] '·······'[१७] तथा '·······'[१८] की नीति से भिन्न रही हो तो आपसे उसकी लिखित या मौखिक सूचना अब तक हमें मिल जानी चाहिए थी। किन्तु, वह आज तक नहीं मिली। इसी प्रकार, और इसीलिए, आप द्वारा उल्लिखित 'परम्परा के विरुद्ध' की भी बात कुल मिला कर कुछ समझ में नहीं आती।

"आपने 'जानबूझ कर पहले पृष्ठ पर समाचार बैठाने' का जो आरोप लगाया है, उससे मुझे बहुत चोट पहुँची है। मुझे 'जानबूझ कर' शब्दों पर आपत्ति है। यथाशक्ति और यथाबुद्धि संस्था की सेवा करते आने के बावजूद अपने प्रति इस तरह का रुख देख कर मुझे अगर ऐसा कुछ लगे कि 'जानबूझ कर' का प्रयोग जानबूझ कर हुआ है तो स्वाभाविक ही होगा।"

"मुझे आश्चर्य और साथ ही क्लेश होता है कि आपने अच्छी तरह जाँच-पड़ताल किये बिना ही यह फैसला कैसे दे दिया कि शीर्षक में ·······[१९] जी' का नाम मैंने ही दिया। क्या इसे मैं अपने प्रति अन्याय न समझूँ? इसमें यदि मैं कुछ अन्यथा समझूँ तो क्या यह मेरी ही गलती होगी? कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ कि इस समाचार को लेकर मुझे ही क्यों पकड़ा गया, क्यों लपेटने की कोशिश की जा रही है?

"अगर आप 'छोटे मुँह बड़ी बात' न समझें और पत्रकारिता में कुछ बौद्धिक परम्परा का भी ख्याल रखें तो, पत्र के हित में अपने किसी अधिकारी से भी, एक बुद्धिजीवी के नाते, मुझे यह निवेदन करने का अधिकार होना चाहिए कि इस तरह जवाब-तलब करने से जो मनःस्थिति बनती है वह बौद्धिक कार्य में अहितकर होती है—नौकरशाही ढर्रे में भले ही अहितकर न होती हो।

---

१२. संचालक का नाम। १३. संचालक का नाम। १४. अपने अखबार का नाम। १५. सम्बद्ध अखबार का नाम। १६. अखबार का नाम। १७. अखबार का नाम। १८ अखबार का नाम। १९ मालिक का नाम।

"आशा है, एक बुद्धिजीवी के नाते आप मुझे भी एक छोटा-मोटा बुद्धिजीवी मान कर मेरी उत्तप्त भावना पर नाराज होने के बजाय कुछ सन्तुष्ट ही होंगे और मुझे क्षमा करेंगे।

"यहीं मैं आपसे यह भी जान लेना चाहता हूँ कि 'एकाधिकार विधेयक' तथा 'चीनी मिलमालिकों के दबाव में सरकार के आने का आरोप'—जैसे समाचारों के बारे में हमें क्या करना चाहिए ?"

सम्पादक को इस जवाब के बाद चुप हो जाना चाहिए था और भविष्य में समाचारों पर प्रतिबन्ध के बारे में अपनी चाटुकारितापूर्ण प्रवृत्ति पर कुछ सोचना चाहिए था; किन्तु भला वह क्यों सोचता। इस पत्र के उत्तर में उसने फिर एक पत्र लिखा, जिसमें पहले पैराग्राफ में कुछ खेद का भाव जरूर व्यक्त किया गया, किन्तु यह समझा दिये जाने के बावजूद कि 'उसी मालिक के अन्य सभी पत्रों में उक्त समाचार प्रकाशित हुआ था और कुछ प्रमुखता के ही साथ प्रकाशित हुआ था' उसने अपने द्वारा सम्पादित पत्र को मानो किसी और मालिक का पत्र मानते हुए फिर वही 'परम्परा का राग' अलापा। अपने सहकर्मी के पत्र के चौथे पैराग्राफ के अन्तिम दो वाक्यों पर कुछ गम्भीरता से ध्यान देने पर तो उसे यह राग नहीं अलापना चाहिए था, लेकिन खुशामद की ही ओर लगा दिमाग कुछ सोचने दे तब तो। अपने द्वारा सम्पादित पत्र से, अपनी घोर चाटुकारिता के कारण, उसने पहले भी कई बार इसी तरह समाचारों को दबवा दिया था और उसी से यह मान लिया कि उसके पत्र की कोई अलग परम्परा या नीति बन गयी है।

इसी प्रकार समाचारों पर अनुचित एवं अनावश्यक रोक के सम्बन्ध में, उसी सम्पादक का एक दूसरा पत्र उसी सह-सम्पादक के नाम देखिए :—

"श्री ....जी[२०]

'समाचारपत्रों में छँटनी के विरुद्ध चेतावनी' शीर्षक जो समाचार अभी जबलपुर-संस्करण में प्रकाशित हुआ है वह आपका दिया हुआ है। आपने न तो श्री......जी[२१] से उसके बारे में कोई सलाह ली और न मुझसे ही उसकी कोई चर्चा की। इससे स्पष्ट है कि आपने जानबूझ कर हम लोगों से छिपा कर उसे नीचे भेज दिया। येन-केन-प्रकारेण यह समाचार छप जाय, यही आपका

---

२०. सह-सम्पादक का नाम। २१. एक दूसरे सहयोगी का नाम।

...न और प्रयत्न था, अन्यथा ऐसा समाचार पास करने के पहले आप इसके ...में परामर्श अवश्य करते।

"हाल ही में.........[22] शीर्षक समाचार के बारे में मैंने जब आप से ...-तलब किया था, तो आपने उत्तर में लिखा था कि अपने पत्र-स्वामी के विरुद्ध स्वयं कुछ लिखने या देने की बात मैंने कभी सोची ही नहीं। लेकिन इस तरह के समाचार देने से यह साफ मालूम हो जाता है कि आपको किसी आदेश-निर्देश की कोई परवाह नहीं है।

"प्रेस में आते ही मैंने आपसे पूछा कि कोई खास समाचार तो नहीं है, तब भी आपने यह समाचार मेरे सामने नहीं रखा। एक तरह से हम लोगों से चोरी-छिपे आपने इसे पत्र में छपवा दिया। आपका इस तरह का कार्य और व्यवहार बहुत ही आपत्तिजनक है। आपकी इस तरह की मनमानी नहीं चल सकती। आपने अपनी कापी पर अपना नाम और समय भी नोट नहीं किया।

"कृपया अविलम्ब उत्तर दें कि आपके इस तरह के आपत्तिजनक और ...मेदारहीन व्यवहार के लिए आपके विरुद्ध उचित कार्रवाई क्यों न की जाय?"

............[23]

उत्तर :—

"श्रीमान् सम्पादकजी,

....

"महोदय,

आपका............[24] पत्र मिला। उसके उत्तर में सबसे पहले मुझे विनम्रतापूर्वक यह कहना आवश्यक हो गया है कि आप मेरे अधिकारी या प्रधान हैं तो इसका मतलब यह नहीं कि मुझ पर निराधार आरोप लगाने और फिर अपशब्दों का प्रयोग करने का भी अधिकार आपको है। आपने अपने.........[25] के पत्र में छानबीन किये बिना मुझ पर एक निराधार

---

२२. शीर्षक की शब्दावली। २३. सम्पादकका नाम। २४. तारीख। २५. तारीख।

आरोप लगाया था—एक समाचार मेरे ही द्वारा जानबूझ कर दिये जाने और उस पर मेरे ही द्वारा शीर्षक लगाने का। अब..........[२६] के पत्र में आपने मुझे एक तरह से चोर बनाया है।

"मैं नहीं जानता कि इस तरह मुझे चोर कहने पर इस संस्था के उच्चतर और उच्चतम अधिकारियों का तथा किसी न्यायालय का निर्णय क्या हो सकता है और क्या होगा, किन्तु अपने पास जो समझ शेष रह गयी है उसके अनुसार मुझे पूरा विश्वास है कि शब्दों की साधना करने वालों या शब्दजीवियों का जगत अगर इसे पत्रकारिता के लिए कलंक और आपत्तिजनक नहीं, तो कम-से-कम अशोभनीय और अप्रिय जरूर कहेगा।"

"आपने एक स्थान पर 'जानबूझ कर, हम लोगों से छिपा कर' लिखा है और दूसरे स्थान पर 'चोरी-छिपे' शब्द का प्रयोग किया है। यह मुझे चोर बताना नहीं तो और क्या है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक आपका पत्र अपमान से भरा है। यहाँ मैं आप से निवेदन करता हूँ कि अगर सम्पादक का एक व्यक्तित्व, मान तथा स्वाभिमान है, तो सह-सम्पादक का भी एक व्यक्तित्व, मान और स्वाभिमान मानना चाहिए। यदि बड़े आदर और सम्मान चाहते हैं, तो छोटों के भी आदर और सम्मान का ख्याल रखना चाहिए। अनुशासन की रक्षा और उसके पालन की दृष्टि से भी यही आवश्यक है।

"पिछली बार जबकि आपने मुझ पर सर्वथा निराधार आरोप लगाया था और दोषी ठहरा देने की कोशिश की थी, मैंने भारी चोट सह कर भी शिष्ट भाषा का प्रयोग किया था और अगर क्षोभ व्यक्त करना ही था, तो इस ढंग से किया था कि आपके पद की मर्यादा पर चोट न पहुँचे। उदाहरणार्थ पाँचवें पैराग्राफ का अन्तिम वाक्य ही देख लीजिए :—'अपने प्रति इस तरह का रुख देख कर मुझे अगर ऐसा कुछ लगे कि 'जानबूझ कर' शब्द का प्रयोग जानबूझ कर किया गया है तो स्वाभाविक होगा।' यही बात अगर शिष्टता छोड़ कर लिखनी होती तो सीधे-सीधे यों लिखता :— 'आपने 'जानबूझ कर' का प्रयोग जानबूझ कर किया है।" इसी तरह छठे पैराग्राफ के अन्तिम तीन वाक्य भी फिर से देख लीजिए :—"क्या इसे मैं अपने प्रति अन्याय न समझूँ ? इससे यदि मैं कुछ अन्यथा समझूँ तो क्या यह मेरी ही गलती होगी ? कुछ

---

२६. तारीख।

समझ नहीं पा रहा हूँ कि इस समाचार को लेकर मुझे क्यों पकड़ा गया, मुझे ही क्यों लपेटने की कोशिश की जा रही है ?" इतना लिखने के बाद अपराधी न होते हुए भी शिष्टता और आपके पद का ख्याल करके अन्त में विनम्रतावश मैंने क्षमा भी माँग ली।

"अब मैं आता हूँ मूल बात पर :—'समाचारपत्रों में छँटनी के विरुद्ध चेतावनी' शीर्षक समाचार पर। आपका आरोप है कि यह समाचार 'छिपा कर, चोरी-छिपे' दे दिया गया। अगर आपके कथनानुसार यह समाचार छिपा कर, चोरी-छिपे दे दिया गया तब तो इसका मतलब यही हुआ कि अखबार में जितने समाचार जाते हैं, खास करके आपके जाने के बाद रात की शिफ्ट में जो समाचार दिये जाते हैं, वे सभी करीब-करीब 'छिपा कर,' 'चोरी-छिपे' ही जाते हैं। क्या आज तक किसी भी पत्र में यह सम्भव हो सका है कि प्रत्येक समाचार सम्पादक या समाचार-सम्पादक को दिखा कर ही दिया जाय ? प्रत्येक समाचार पर परामर्श लेना सम्भव नहीं है। यदि प्रत्येक समाचार पर परामर्श ही चलता रहे तब तो बेचारे शिफ्ट-इंचार्ज का सारा समय परामर्श में ही बीत जायगा। दूसरी बात यह है कि ऊपर के लोगों से परामर्श ही करते रहने से स्वतन्त्र निर्णय की क्षमता नष्ट होती है। समाचार-मूल्यांकन की समझ के साथ स्वतन्त्र निर्णय की क्षमता का सिद्धान्त जुड़ा हुआ है। कम-से-कम अपने व्यावहारिक अनुभव तथा पत्रकारिता-सम्बन्धी पुस्तकों के थोड़े-बहुत अध्ययन से तो यही बात समझ में आती है।

"और, जब अपने सहयोगी पत्रों में कई बार प्रकाशित होने के बाद यह स्पष्ट हो चुका हो कि अमुक तरह का समाचार जा सकता है, उसके प्रकाशन में पत्र-स्वामी का, संचालकों का या व्यवस्थापकों का कोई हस्तक्षेप नहीं है तब तो हर बार पूछना या समाचार रोक रखना अपने पत्र के साथ, अपनी छोटी-मोटी पत्रकारिता के साथ, पाठकों के साथ, अपनी निर्णय बुद्धि के साथ, निर्णय-क्षमता के साथ तथा पत्र के लिए स्वयं मालिक द्वारा दी गयी स्वतन्त्रता के साथ अन्याय है।

"शिफ्ट-इंचार्ज को स्वयं निर्णय करना पड़ता है और करना भी चाहिए। ऐसा करने का उसे अधिकार है (लिखित न सही)। हाँ यदि उसके इस अधिकार को कुण्ठित करना ही अभीष्ट हो या उस पर भरोसा न किया जा

सके तो ऐसी कोई व्यवस्था क्यों नहीं करा दी जाती कि हर शिफ्ट के साथ एक समाचार-सम्पादक लग जाय।

"एक बात और :—आपने अपने पत्र के तीसरे पैराग्राफ के दूसरे वाक्य में, जो 'हम लोगों से' लिखा है उससे सहमत होने के लिए मैं बाध्य नहीं हूँ। 'हम लोगों' की जगह अगर 'मुझसे' लिखा होता तो बात कुछ समझ में आ सकती थी। इसके अलावा प्रश्न यह भी तो है कि समाचारपत्र में समय-तथ्य का जो महत्व होता है, जो आवश्यकता होती है, उसमें क्या एक-एक व्यक्ति से परामर्श लेना सम्भव है या जरूरी है?

"आपके ऐसे आरोप से कि इस तरह समाचार देना चोरी है, 'महानुभावों' द्वारा पीड़ित, कुण्ठित और आहत मेरी पत्रकारिता, जो अब मुमूर्षु ही है, तिलमिला उठी है। मुझे तो ऐसा लगता है कि आपने मुझे नहीं, मेरी उस मरणासन्न पत्रकारिता को ही चोर कहा है। '.........'[२७] के हित में मुझे यह कह लेने दीजिए कि आपने उसके साथ, अपने पद के साथ, अपने साथ और पत्र को प्राप्त स्वतंत्रता के साथ दुर्व्यवहार किया है।

"यदि आपके सम्पूर्ण पत्र का मतलब यही है कि वह समाचार नहीं जाना चाहिए था, तो क्या मैं आपसे यह पूछने का अधिकारी हूँ कि इसी प्रतिष्ठान से निकलने वाले दूसरे पत्र '.........'[२८] के संस्करणों में यह कैसे प्रकाशित हो गया? क्या वहाँ भी कोई 'चोर' था? क्या '.........'[२९] में भी इस समाचार के लिए कोई जवाब-तलब किया गया? इसी तरह का एक समाचार पहले भी '............'[३०] के स्थानीय समाचारों के स्तम्भ में प्रकाशित हो चुका था? क्या उस पर कुछ जवाब-तलब हुआ था?

अब 'मनमानी' पर आता हूँ। आपने लिखा है 'मनमानी नहीं चलेगी'। मेरे लिए आपने बड़ा अच्छा विषय दे दिया। इस पर अपनी डायरी के आधार पर विस्तारपूर्वक फिर कभी लिखूँगा (पुस्तिका या लेख के रूप में)। यहाँ संक्षेप में यही लिखना है :—"वस्तुतः मनमानी कहाँ हो रही है, हिन्दी और हिन्दी-पत्रकारिता के मान, स्तरोन्नयन और नव-व्यक्तित्व पर प्रहार कहाँ से

---

२७. अपने पत्र का नाम। २८. दूसरे सम्बद्ध पत्र का नाम। २९. दूसरे सम्बद्ध पत्र का नाम। ३० दूसरे सम्बद्ध पत्र का नाम

...रहा है, इसकी एक झाँकी तो इस पत्र में ही मिल जायगी। अगर मेरे ...रे लोगों के तात्कालिक स्वनिर्णयाधिकार और विचाराधिकार जैसे पत्रकारिता-...गों और सिद्धान्तों में ही मनमानी देखी गयी तो भगवान ही मालिक है।

"पत्र के और पत्र में काम करने वाले व्यक्तित्वप्रिय साथियों के हित में ...यह कहना आवश्यक समझता हूँ कि कुल मिला कर 'मनमानी' का प्रयोग मुझे कुरुचिपूर्ण, कटु और दुर्भावना-बोझिल लगा। इसे एक व्यक्ति की मनमानी पर परदा डालने का एक अच्छा प्रयास भी कहा जायगा। गरजते प्रमाण सामने आयेंगे—शायद मेरी ही कलम के रथ पर चढ़ कर। यहाँ अपने ऊपर आरोपित मनमानी के प्रतिवाद में मैं एक बार फिर कहना चाहूँगा कि आपकी इस तरह की बातों का मतलब सिर्फ यही होता है कि आप प्राप्त या प्राप्य स्वतंत्रता का भी उपयोग नहीं करने देना चाहते और अखबार के 'तात्कालिक निर्णयाधिकार' और 'विचाराधिकार' पर रोक लगा देना चाहते हैं। यहाँ यदि मैं 'अपराध' शब्द का प्रयोग करूँ तो क्या यह मेरा ही अपराध हो जायगा?

"एक बार फिर मुझे यह कह लेने दीजिए कि अगर उसी मालिक के ...य सहयोगी पत्रों..[31] मे ऐसे समाचार दिये जा सकते हैं तो अपने पत्र में उनका देना मनमानी नहीं है। जिस समाचार के बारे में आपने पूछा है उसका '.........'[32] के संस्करणों में प्रकाशित होना अगर मनमानी नहीं है तो '.........'[33] में ही उसको प्रकाशित कर देने में 'मनमानी' कहाँ से आ गयी? मुझे तो वस्तुत: मनमानी इस बात में कहीं दिखलायी देती है कि जबकि '.........'[34] मे उसके प्रकाशित होने पर रोक नहीं लगी, '.........'[35] में वह जबलपुर-संस्करण के बाद बिलकुल निकाल दिया गया।

"यहीं मैं डंके की चोट पर कहूँगा कि अपने सभी सहयोगी पत्रों में इस तरह के समाचारों के प्रकाशन से सारे तथ्यों और नीतियों के स्पष्ट हो जाने के बावजूद यहाँ ऐसा दीखता है कि पत्र-स्वामी की नहीं, संचालकों की नहीं व्यवस्थापकों की नहीं, सिर्फ एक व्यक्ति की नीति—जिसे मैं 'मनमानी' संज्ञा दूँ तो अनुचित न होगा—पत्र पर लद कर उसका रूप विकृत कर रही है, उसका

---

३१. पत्रों के नाम। ३२. सम्बद्ध पत्र का नाम। ३३. अपने पत्र का नाम। ३४. सम्बद्ध पत्र का नाम। ३५. अपने पत्र का नाम।

अपना कोई व्यक्तित्व नहीं बनने दे रही है और इस प्रकार उसके और उसके संचालकों के सम्मान पर आघात पहुँचा रही है। मेरी ये बातें कितनी ही कटु और तीक्ष्ण क्यों न लगें, एक दिन पत्र के हित में सिद्ध होकर रहेंगी। पत्र के पाठक तो सिद्ध कर ही रहे हैं। आज बाहर यह कहते शर्म लगती है कि मैं '.........'[३६] का एक सह-सम्पादक हूँ। '.........'[३७] की इस दुर्दशा के लिए सबसे पहले सम्पादकीय विभाग की 'प्रवृत्ति-विशेष' ही जिम्मेदार है। मेरी ये बातें '.........'[३८] के इतिहास में हमेशा रहेंगी।

"अस्तु, अपनी पूरी शक्ति के साथ मैं 'मनमानी' का आरोप मानने से इनकार करता हूँ और साथ ही आप से यह पूछना चाहता हूँ कि अगर मनमानी करने की मेरी कोई आदत ही होती, तो क्या इतनी लम्बी अवधि तक यहाँ रहने दिया जाता या उसके बावजूद मेरी किसी अन्य विशेषता के ही कारण आप या और कोई उसे बर्दाश्त करता रहता ?

"पत्र-स्वामी के विरुद्ध कुछ न लिखने या न देने की मेरी बात आपने फिर दोहराई है। इस पर मुझे यही कहना है कि उक्त समाचार दे कर मैंने ......[३९] जी के विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया है। इस समाचार में तो ......[४०] जी का कहीं नाम भी नहीं था। पहले के समाचार में, जो मेरा दिया हुआ नहीं था, ...[४१] जी का नाम ही होने पर तो आपने आपत्ति की थी। पत्रस्वामी या ......[४२] जी के नाम का उल्लेख करके आप उनका नाम व्यर्थ घसीट रहे हैं और उनके नाम और यश के साथ खेलवाड़ कर रहे हैं।

"ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे बिलकुल स्पष्ट है कि ......,[४३] जी, जो विख्यात व्यवसायी के अलावा एक अध्ययनशील व्यक्ति भी हैं और पत्रकारिता के मर्म को बहुत कुछ समझते हैं, यह नहीं चाहते कि उनके सम्बन्ध में अगर ऐसा कोई समाचार आये तो न दिया जाय। मेरा निश्चित मत है कि' ....[४४] में '.........'[४५] शीर्षक से जो समाचार प्रकाशित

---

३६. अपने पत्र का नाम। ३७. अपने पत्र का नाम। ३८. अपने पत्र का नाम। ३९. पत्रस्वामी का नाम। ४०. पत्रस्वामी का नाम। ४१. पत्रस्वामी का नाम। ४२. पत्रस्वामी का नाम। ४३. पत्रस्वामी का नाम। ४४. सम्बद्ध पत्र का नाम। ४५ शीर्षक की शब्दावली।

हुआ था वह '..........'४६ जी की इच्छा या विचार के विरुद्ध नहीं प्रकाशित हुआ था। जिस या जिन सम्पादकों ने यह समाचार दिया था उन्होंने कोई दुःसाहस करके 'मनमाने' ढंग से नहीं दे दिया। मेरा ख़याल है कि पहले से चली आ रही एक नीति के अनुसार ही दिया गया।

"किन्तु, अफसोस है कि आपने उसी विषय पर जवाब-तलब करके यह दिखलाने की कोशिश की है की..........४७ जी ऐसा नहीं चाहते या उनका कोई आदेश अथवा संकेत है। आपकी यह कोशिश क्या..........४८ जी की इस मान्यता पर ही चोट नहीं है कि उन्होंने ऐसे किसी समाचार पर रोक नहीं लगायी है। लेकिन आपने लगा ही दी। क्या अनजाने में आपने इस प्रकार उन्हें बदनाम करने की कोशिश नहीं की है? एक ऐसे समय जबकि अपने स्वामी पर कुछ लोग उँगलियाँ उठा रहे हैं, आपकी यह अनजानी कोशिश, मेरी समझ से, आपके हित में भी नहीं होगी।

"अपने पिछले पत्र में मैंने आपसे यह जानना चाहा था कि 'एकाधिकार विधेयक', 'मिल-मालिकों के दबाव में सरकार के आने का आरोप' शीर्षक से जो समाचार प्रकाशित हुए हैं उनके सम्बन्ध में आगे आने वाले और समाचारों के बारे में हमें क्या करना चाहिए। किन्तु, इस प्रश्न पर आपने अपने उत्तर में एक शब्द भी नहीं लिखा और न एक जगह बुला कर या अलग-अलग साथियों से ही कुछ कहा। इसका क्या अर्थ लगाऊँ?

"जबकि इस तरह के समाचारों के सम्बन्ध में पहले ही आप प्रश्न उठा चुके थे, तो आपको पत्रकार संघ के अधिवेशन के पूर्व ही सबको एक बार फिर सतर्क कर देना चाहिए था। सम्मेलन होने का समाचार तो आपको पहले से मालूम ही रहा होगा। सम्मेलन के अवसर पर इस तरह के समाचार आ सकते हैं, ऐसा कुछ आपने सोचा ही होगा। बड़ा अच्छा होता कि आपने दो-एक दिन पूर्व यह हिदायत दे दी होती कि अगर ऐसे कुछ समाचार आयें, तो न दिये जायँ।

"अपने..........४९ के पत्र के तीसरे पैराग्राफ में आपने जो यह लिखा

---

४६ पत्रस्वामी का नाम। ४७ पत्रस्वामी का नाम। ४८ पत्रस्वामी का नाम ४९ तारीख

है कि "प्रेस में आते ही मैंने आपसे पूछा कि कोई खास समाचार तो नहीं है, तब भी आपने यह समाचार मेरे सामने नहीं रखा," इस पर पहले तो यह बताना है कि उस समय तक यह समाचार आया ही नहीं था। दूसरे जब कोई सम्पादक या अन्य सम्पादकीय अधिकारी कोई खास समाचार की बात पूछते हैं तो उनका मतलब सर्वप्रमुख राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय समाचारों से होता है। आपके रोज के इस तरह के प्रश्न के बारे में अबतक तो यही समझदारी रही।

"अन्तिम पैरा में आपने लिखा है कि 'कृपया अविलम्ब उत्तर दें कि आपके इस तरह के आपत्तिजनक और दायित्वहीन व्यवहार के लिए आपके विरुद्ध उचित कार्रवाई क्यों न की जाय'। इसके उत्तर में ही तो यह सारा पत्र है। मुझे जो कुछ कहना था मैंने कह दिया और जो कुछ मैंने कह दिया है वह पत्रकारिता की दृष्टि से और पत्र के हित की दृष्टि से यह सिद्ध करने के लिए काफी है कि मेरा व्यवहार न आपत्तिजनक है, न दायित्वहीन। शेष समझ आपके हाथ में है।

"हाँ, अन्त में इतना और कह देना आवश्यक समझता हूँ (अपने हिताहित का विचार करके नहीं) कि अगर 'अनुशासन' या 'स्थायी आदेश' के नाम पर ही कोई कार्रवाई आप करना चाहते हैं या करवाना चाहते हैं, तो उसके पहले मेरी इस अन्तिम राय पर विचार जरूर कर लीजिएगा कि 'अनुशासन' या 'स्थायी आदेश' का व्यावहारिक उद्देश्य यही होता है या होना चाहिए कि 'व्यक्ति-विशेष' के किसी मामूली हित में पूरे पत्र का हित विलीन न हो जाय। इस स्थल पर मैं अधिक कुछ न कह कर केवल उन कुछ व्यक्तियों के नाम गिना देना चाहता हूँ जो 'व्यक्ति-विशेष' की ही कृपा से यहाँ से हट गये या जिन्हें हटना पड़ा (एक-एक करके) सर्वश्री............अवस्थी,............ शुक्ल,............दीक्षित,... ....जोशी,............वर्मा,........ वर्मा।

"मुझे आशा और विश्वास है कि मेरा यह पत्र प्रस्तुत किये जाने प हमारी संस्था के सचिव, प्रधान व्यवस्थापक तथा व्यवस्थापक, जो भाग्य पत्रकार और साहित्यकार भी हैं (और शायद पहले पत्रकार और साहित्यका कहलाना ही पसन्द करेंगे), मेरे इस पत्र पर प्रथमतः पत्रकारिता के और पू संस्था के हित को ध्यान में रख कर ही विचार करेंगे।

"बस ! थक गया । शरीर और मस्तिष्क भी तो कुचल गये हैं न ।"

यह पत्र एक मामूली सह-सम्पादक द्वारा, जिसका नाम सम्पादकमण्डल के हाजिरी रजिस्टर में ग्यारहवाँ या बारहवाँ पड़ता था, लिखा गया था और उस सम्पादक को लिखा गया था जिसने अपनी योग्यता की नहीं, चाटुकारिता की ही रोटी खायी थी और जिसे पूरा विश्वास था कि सम्पूर्ण प्रबन्धमण्डल उसका ही साथ देगा और इस 'शरारती' 'सह-सम्पादक' से उसका पिण्ड हमेशा के लिए छुड़ा देगा । व्यंग्यों से भरे इस पत्र से, जो पत्रकारिता के इतिहास में एक मामूली सह-सम्पादक द्वारा अपने सम्पादक की 'योग्यता' पर दिये गये एक 'प्रमाण-पत्र' के रूप में ही देखा जायगा, सम्पादक का तिलमिला उठना स्वाभाविक था । यदि उसे जरा भी समझ होती (दूरदर्शिता की आशा तो उससे कभी की ही नहीं जा सकती थी) तो वह पहले जवाब पर ही चुप लगा जाने में अपना कल्याण समझता । लेकिन उससे रहा नहीं गया । अपने एक योग्य सहकर्मी को—पत्रकारिता के मर्म को समझने वाले सहकर्मी को—एक तरह से चोर बनाने का प्रयत्न करते हुए ही उसने दूसरा पत्र लिखा । उसका उत्तर कुछ कड़े शब्दों में देना ही था । इन कड़े शब्दों में तर्कों तथा युक्तियों के साथ व्यंग्य जरूर थे, किन्तु कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि इनमें उद्दण्डता जैसी कोई बात है । इसकी तह तक पहुँचने वाला कोई बुद्धिवादी इसमें सम्पादक द्वारा बराबर पीड़ित होते आने वाले एक योग्य सह-सम्पादक की एक सहज प्रतिक्रिया ही देखेगा । लेकिन अपने सहकर्मी को 'चोर' कह कर गाली देने वाले, पूरे सम्पादकमण्डल को कलंकित और अपमानित करने वाले तथा पत्रकारिता की मर्यादाओं को बिलकुल न समझने वाले इस सम्पादक को सह-सम्पादक के दूसरे पत्र में 'उद्दण्डता की पराकाष्ठा' दिखलायी दी । उसने जवाब में लिखा :—

" श्री.........[50] जी,

" मेरे............[51] पत्र का जो उत्तर आपने एक सप्ताह के बाद सात पृष्ठों में दिया है उसे आद्योपान्त पढ़ जाने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि आपमें अनुशासनहीनता की भावना प्रबल रूप में है । वास्तव में वह उद्दण्डता की पराकाष्ठा तक पहुँच गयी है । किसी बात का साफ-साफ जवाब

न देकर आपने व्यंग्यात्मक ढंग से अपनी खीझ प्रगट की है। अपनी कोई गलती स्वीकार न करके उलटे मेरे ही ऊपर सब दोष मढ़ने का प्रयास किया है।

"आश्चर्य है कि आपने अपने पत्र की भाषा को शिष्ट भाषा की संज्ञा दी है, यद्यपि 'पत्रकारिता के लिए कलंक' कह कर मेरे ऊपर कटाक्ष किया है। पत्र में लिखा है कि' आपने उसके (.........[५२] के) साथ, अपने पद के साथ, अपने साथ और पत्र को प्राप्त स्वतन्त्रता के साथ दुर्व्यवहार किया है।

" अपनी शिष्ट भाषा में आपने आगे लिखा है' सिर्फ एक व्यक्ति की नीति, जिसे मैं मनमानी संज्ञा दूं तो अनुचित न होगा, पत्र पर लद कर उसका रूप विकृत कर रही है। आपके इस तरह के शब्द और वाक्य, जिनसे आपका पत्र प्रायः भरा हुआ है, घोर अनुशासनहीनता के सूचक हैं और पत्र के हित में ऐसी अनुशासनहीनता कदापि सहन नहीं की जा सकती।

"अतः आपसे निवेदन है कि या तो पत्र पाने के दो दिनों के अन्दर इस अशिष्टतापूर्ण व्यवहार के लिए लिखित रूप में खेद प्रगट कीजिए और क्षमा मांगिये या फिर अनुशासनात्मक कार्रवाई का सामना करने के लिए तैयार हो जाइए।"

सम्पादक की इच्छा के अनुसार अनुशासनात्मक कार्रवाई का सामना करने के लिए तैयार होते हुए, सह-सम्पादक ने इस पत्र का जवाब इस बार केवल एक वाक्य में दिया :—"आपके......... तारीख के पत्र के उत्तर में मुझे बस इतना ही कहना है कि मैं न उद्दण्ड हूँ, न अशिष्ट और न अनुशासनहीन, और मुझे अपनी सभ्यता, शिष्टता तथा अनुशासनप्रियता पर पूरा विश्वास है।"

कहाँ पहला जवाब सात पृष्ठों में और कहाँ यह जवाब सिर्फ एक वाक्य में !

इस जवाब के बाद क्या हुआ ? सह-सम्पादक के खिलाफ कोई कार्रवाई की कौन कहे, उलटे उसकी कलम का लोहा मान कर उसके व्यक्तित्व को कुछ समझ कर व्यवस्थापक-मण्डल ने चुप रह जाना ही ठीक समझा और साथ ही सम्पादक को भी परख लिया।

इस प्रकार इस पत्रव्यवहार से स्पस्ट है कि जहाँ भयवश, चाटुकारितावश या अज्ञानवश 'प्राप्त स्वतंत्रता' का उपयोग, समाचारों के मामले में भी, कोई

५२ अपने पत्र का नाम

सम्पादक न करता हो वहाँ विचारों के मामले में उसके उपयोग की आशा कैसे की जा सकती है। समाचारों के मामले में भी अज्ञान, भय या चाटुकारिता का परिचय देते आने वाले सम्पादकों की समझ में यह बात जल्दी नहीं आ सकती कि लोकतंत्र की लाज ढोने के नाम पर अभी भी, विचारों के मामले में भी, जो स्वतंत्रता प्राप्त है उसका उपयोग, कोई कुशल पत्रकार, वस्तुस्थिति को देखने वाला पत्रकार, किस प्रकार कर लेता है। विचारों की प्रौढ़ता की बात उन सम्पादकों पर लागू नहीं होती जिनमें से एक का चित्रण, उदाहरण के रूप में, ऊपर किया गया है। जिन सम्पादकों में विचारों की कुछ प्रौढ़ता है वे ही विचारों के मामले में भी 'प्राप्त स्वतन्त्रता' का उपयोग कर सकते हैं। पत्रों के 'राजनीति-संयुक्त' व्यावसायिक रूप तथा तज्जन्य स्वार्थ-साधनों को देखते हुए भी, विचारों में प्रौढ़ और पत्रकार-कला-कुशल सम्पादक वास्तविकता को देखे बिना नहीं रह सकता और वह तटस्थ तथा निरपेक्ष भाव से विचार व्यक्त कर ही देता है। हाँ, यदि समाचार और विचार दोनों पर सोलहो आने प्रतिबन्ध लग जाय तो बात दूसरी है।

उदाहरण

यहाँ पर उदाहरण के रूप में, कुछ ऐसे समाचारपत्रों के सम्पादकीय स्तम्भों में कम्युनिस्टों के प्रति तटस्थता के साथ व्यक्त किये गये विचार प्रस्तुत करते है, जो सिद्धान्ततः, बुनियादी रूप में, कम्युनिज्म और कम्युनिस्टों के विरोधी ही कहे जायेंगे। केरल के प्रथम कम्युनिस्ट मन्त्रि-मण्डल के सम्बन्ध में 'टाइम्स आफ इण्डिया' ने अपने एक अग्रलेख (१७ जून) में लिखा था :—

"जैसाकि प्रारम्भ से ही स्पष्ट था, केरल में पिछले पाँच दिनों में घटी घटनाओं ने यही दिखलाया है कि मंत्रिमण्डल को उलटने के लिए चलने वाले आन्दोलन को शान्ति के दायरे में रखना कठिन है। आन्दोलन का श्रीगणेश करने वालों की चाहे जो इच्छा रही हो, कानून और व्यवस्था की संगठित अवज्ञा का तर्क अनिवार्यतः हिंसा की ओर अग्रसर करता है। केरल में वह उसी ओर ले गया है। तीन स्थानों पर पुलिस को गोली चलानी ही पड़ी। राज्य में व्याप्त हिंसा किस हद तक पहुँच चुकी है, इसका पता ११ व्यक्तियों की मृत्यु और बहुतों के घायल होने से नहीं लगेगा। जिसे वस्तुतः गृह-कलह कहना चाहिए उससे राज्य का वातावरण दूषित हो गया है। इस तर्क से कि 'विगत काल में कम्युनिस्टों ने सिद्धान्तहीन नीति—जिसका सबसे ताजा उदाहरण पञ्जाब का

आन्दोलन है—अपनायी है,' केरल के विरोधी नेताओं के आचरण के लिए बहाना नहीं मिलता। वास्तव में वहाँ कम्युनिस्ट-नीति से उनका जो विरोध रहा है उसी से उनके ऊपर यह जिम्मेदारी आ जाती है कि उत्तेजन कितना ही गम्भीर क्यों न हो वे ऐसा कोई कार्य न करें जिससे हिंसा की स्थिति पैदा हो। अगर वे अपने सिद्धान्त के प्रति सच्चे होते तो वे स्कूलों, कलेक्ट्रेटों और तालुका-दफ्तरों पर इस तरह के धरनों का संगठन न करते। इस तरह के धरनों का संगठन करके उन्होंने स्कूलों तथा सरकारी कार्यालयों में उपस्थित होने की इच्छा रखने वालों और उन्हें रोकने वालों के बीच संघर्ष आमन्त्रित कर दिया है। पुलिस द्वारा गोली चलाये जाने में औचित्य और अनौचित्य जो भी हो, जब तक आन्दोलन जारी रहता है उसकी जाँच मुश्किल से हो सकती है। प्रत्यक्ष कार्रवाई के सूत्रधार उस सामूहिक हिंसा के नैतिक उत्तरदायित्व से नहीं कतरा सकते जो वहाँ भड़क उठी है।

"दुःखद बात तो यह है कि काँग्रेस, जो अन्य सभी राज्यों में सत्तारूढ़ दल है केरल में कानून और व्यवस्था की इस खुली अवज्ञा में हाथ बँटा रही है। दल के स्थानीय नेताओं द्वारा प्रधानमन्त्री और काँग्रेस-अध्यक्ष की भी सलाह की उपेक्षा किया जाना यह दिखलाता है कि कट्टर साम्प्रदायिक संगठनों के साथ गठबन्धन करके उन्होंने कितनी गैरजिम्मेदारी का परिचय दिया है। अभी भी देर नहीं हुई है; काँग्रेस दल ऐसे आन्दोलन से अलग हो जाय जिनसे अराजकता की स्थितियों को प्रोत्साहन ही मिल सकता है। आन्दोलन से यह बात दिखायी जा सकती है कि केरल मन्त्रिमण्डल का विरोध कितना व्यापक है, किन्तु यही तथ्य कि आन्दोलन के पीछे इतना ज्यादा समर्थन है यह सिद्ध करता है कि इसके सूत्रधारों को असंवैधानिक उपायों का आश्रय नहीं लेना चाहिए। अगर वे कम्युनिस्ट-मन्त्रिमण्डल से लड़ना ही चाहते हैं, तो ऐसा करने के लिए और दूसरे शान्तिपूर्ण तथा अधिक प्रभावकारी उपाय भी हैं। जबतक किसी सरकार को विधानमण्डल का विश्वास प्राप्त है, उसे असंसदीय उपायों से उलटने के प्रयास से वास्तव में कम्युनिस्टों की अपेक्षा अन्य दल ही कमजोर होंगे।

"केरल के राज्यपाल ने कहा है :—"सभी दलों को यह महसूस करना चाहिए कि किसी भी मसले पर जनता के क्रोध को भड़का देना तो बड़ा आसान है; किन्तु इस तरह के भावोत्तेजन से जो शक्तियाँ निकल पड़ती हैं उन्हें नियन्त्रित

करना अत्यधिक कठिन होता है।'' राज्यपाल ने यह बात कह कर उस मसले को रख दिया है, जो राज्य के सामने साफतौर पर उपस्थित है। यह स्पष्ट है कि पार्टियाँ उस जनसमूह को नियंत्रित करने में समर्थ नहीं हो सकती है, जिसे उन्होंने सड़कों पर ला खड़ा किया है। आन्दोलन जितने अधिक दिनों तक चलेगा उतना ही हिंसा की शक्तियों को रोकना और किसी शान्तिपूर्ण समाधान पर पहुँचना कठिन होगा। अतः ये दल जिन सिद्धान्तों को मानते हैं उन्हीं के प्रति उनका यह कर्त्तव्य है कि वे जनसमूह को सड़कों से हटा लें और अगर सारा आन्दोलन वापस न लें तो कम-से-कम धरना देना तो बन्द करें। यहाँ मुख्य दायित्व कांग्रेस पर आता है। घटनास्थल पर ही जा कर स्थिति का अध्ययन करने के लिए श्री ढेबर और श्री सादिक अली को केरल भेज कर श्रीमती इन्दिरा गांधी ने ठीक ही किया है। किन्तु अब ज्यादा वक्त नहीं गँवाना चाहिए। जो कुछ हो चुका है उनके बाद वर्तमान आन्दोलन के पूरे खतरों का अन्दाज लगाने के लिए किसी विस्तृत जाँच की आवश्यकता नहीं है। जाँच का निष्कर्ष जो कुछ भी निकले, स्कूलों और सरकारी कार्यालयों पर धरना देने का कोई औचित्य कांग्रेसजनों के लिए नहीं हो सकता। यहाँ टाप ओल की कोई आइश नहीं है और कांग्रेस हाईकमान का आदेश दृढ़ और स्पष्ट होना चाहिए। राज्य की शान्ति की रक्षा का मतलब कम्युनिस्ट-मन्त्रिमण्डल की हत्या करना नहीं होगा। एक बार शान्तिपूर्ण परिस्थितियाँ पैदा हो जाने पर संवैधानिक उपायों से, और मन्त्रिमण्डल के अप्रिय कार्यों के पक्षपातपूर्ण स्वरूप का पर्दाफाश करते हुए विरोधी पार्टियों का मन्त्रिमण्डल से संघर्ष करना पूर्णतः उचित होगा। वस्तुतः ये ही एकमात्र उपाय हैं, जिनसे अन्यथा कानून के शासन पर खतरा पहुँचाये बिना मन्त्रिमण्डल को हटाया जा सकता है।'

पुनः १७ जुलाई को उसी पत्र ने लिखा :—

"अभी भी श्री नेहरू का सारा दृष्टिकोण असंगतियों की पहेली बना हुआ है। वह स्वीकार करते हैं कि मामलों को तय करने का इस तरह का प्रयास, जो हिंसा तक पहुँचता है, बुरा है; फिर भी वह आन्दोलन को उचित दिखलाने का प्रयास करते हैं। वह यह मानते हैं कि वापस हटाने (निर्वाचित विधायकों को) की प्रणाली भारतीय परिस्थितियों में राजनीतिक अस्थिरता पैदा कर देगी; फिर भी वह यह देखने में असमर्थ हैं कि जो बात विधायकों को

विधानमण्डलों से वापस हटा लेने के बारे में सही है वही उस आन्दोलन के बारे मे क्यों नहीं सही है, जो एक ऐसे मन्त्रिमण्डल को इस्तीफा देने के लिए बाध्य करने के उद्देश्य से चलाया जा रहा है, जिसे विधानमण्डल का विश्वास प्राप्त है।

"उनका तर्क यह है कि आन्दोलन को शान्तिपूर्ण बनाये रखने के उद्देश्य से ही कांग्रेस को आन्दोलन में शामिल होने की अनुमति दी गयी है। किन्तु, जरा उदासीनता के साथ, वे यह भी स्वीकार करते हैं कि अनेक कांग्रेसजनों ने दल के निर्देश की उपेक्षा करके स्कूलों पर धरना देना जारी रखा है। वे इस बात से सहमत हैं कि किसी राज्य-सरकार के विरुद्ध राष्ट्रपति के समक्ष कोई अभियोग प्रस्तुत करना साधारणतः अनुपयुक्त है, फिर भी केरल के सम्बन्ध में वे इसे उचित बताते हैं। इसे उचित बताने का उनका विचित्र आधार यह है कि अभी भी यह मामला संसद के वातावरण में अस्पष्ट रूप मे व्याप्त है। बातें तो बहुत-सी, अक्सर ही वातावरण में गूंजती रहती हैं; किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि उन सब को सजीव बना दिया जाय।

"अगर कोई खास आरोप रहे ही हैं तो केन्द्रीय सरकार ने पिछले कुछ महीनों में यह पता लगाने के लिए कुछ क्यों नहीं किया कि इनकी पुष्टि कहाँ तक हो सकती है।

"केरल की स्थिति इतनी विस्फोटक है कि अब अनिश्चितता और डवांडोल स्थिति को और अधिक दिनों तक बने नहीं रहने दिया जा सकता। श्री नेहरू का यह बात प्रकट कर देना कि केन्द्रीय सरकार को केरल की स्थिति पर विचार करने का भी समय नहीं मिला, यह बतलाता है कि समस्या की गम्भीरता को जैसे उसने कुछ समझा ही नहीं। क्या उसके लिए यह समझना कठिन है कि शेष भारत में केरल के आन्दोलन की दूरगामी प्रतिक्रियाएँ हो रही हैं और जितने ही अधिक दिनों तक यह अनिश्चितता बनी रहेगी उतना ही ज्यादा खतरनाक रूप ये प्रतिक्रियाएँ धारण करेंगी?........"

इसी प्रकार 'स्टेट्समैन' के 'राजनीतिक विचार' (८ जुलाई) देख लिये जायँ :—

"पिछले कुछ हफ्तों में कांग्रेस ने जो काम किये हैं वे मूर्खतापूर्ण और बेढंगे रहे हैं इनसे उसने अपने को और दूसरों को भी बुरी तरह गुमराह किया है

जिस तरह श्री ढेबर ने कुछ बातों का खण्डन किया है उसी तरह औरों द्वारा उनका खण्डन किये जाने के बावजूद, बाद के बहुत से भ्रम इस अस्थिर नेतृत्व से ही उत्पन्न हुए हैं।

" केरल के कुछ कांग्रेसजनों की इस तरह की बात बन्द हो जानी चाहिए कि अगर कम्युनिस्ट पुनः बहुमत प्राप्त कर लेते हैं तो इसी तरह का आन्दोलन उनके विरुद्ध छिड़ेगा।

" अच्छा यही होगा कि केरल में कांग्रेसजन और विरोध-पक्ष के अन्य नेता अपनी निर्वाचन-स्थिति सुधारने के काम में अपनी शक्ति केन्द्रित कर दें। जबतक कांग्रेस अपने काम और कार्यक्रम से केरल में अपना स्थान नहीं बना लेती, राज्य के मामलों में उसकी आवाज़ असरदार नहीं हो सकती। दिल्ली के सहारे उसका कोई भला नहीं हो सकता।

"इसके अलावा उसे यह भी अनुभव करना होगा कि अगर केरल में नया चुनाव होता है तो कांग्रेस एक ऐसे दल के रूप में आन्दोलन छेड़ेगी, जिसका अल्पमत में रहना निश्चित-सा है। उसे अन्य विरोधी दलों के साथ मिल कर चुनाव लड़ना पड़ेगा और इसलिए वह सभी निर्वाचन-क्षेत्रों में अपने उम्मीदवार खड़े करने में समर्थ नहीं होगी।..........."

"केरल की अशान्ति ने ऐसी शक्तियाँ उत्पन्न कर दी हैं, जो लोकतन्त्रात्मक प्रगति के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकती हैं। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में कांग्रेस ने, जो केवल एक राज्य को छोड़ कर सारे भारत में शासन करती है, यह स्वीकार कर लिया है कि संवैधानिक जीवन में आन्दोलन का एक स्थान है और निर्वाचन के निर्णय को उलटने के लिए भी उसका इस्तेमाल हो सकता है। उसने यह भी मान लिया है कि अपने राजनीतिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए असन्तुष्ट लोगों को अगले निर्वाचन तक प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं है।"

'फ्री प्रेस जर्नल' की दिल्ली-डायरी (१३ जुलाई) में लिखा गया——

"केरल के मोर्चे पर कांग्रेस में संकट और उद्भ्रान्ति है। हाई कमान का अन्दाज बिलकुल गड़बड़ा गया है। कम्युनिस्ट-मन्त्रिमण्डल को हटाने के लिए आनन-फानन की कार्रवाई का उफान अचानक दब गया है।

"इसके पीछे कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं के बीच गरमागरम बहस की

कहानी है, जो उन्हें दिल टटोलने और पुनर्विचार करने की दिशा में ले आयी है। सत्तारूढ़ दल के सत्तालिप्त व्यक्तियों के बीच यह परिवर्तन लाने में संयुक्त महाराष्ट्र समिति के केन्द्रीय संसदीयमण्डल ने कम काम नहीं किया है। बम्बई-मन्त्रिमण्डल के पदत्याग की माँग करते हुए और राज्य सरकार को हटाने के जनाधिकार के रक्षार्थ अगली कार्रवाई करने के निश्चय की घोषणा करते हुए, उसका जो प्रस्ताव है उसने कांग्रेसजनों के मन में कुछ भय पैदा कर दिया है।

"शीघ्र ही पश्चिम बंगाल की कम्युनिस्ट पार्टी ने इसका अनुगमन किया और वह राज्य के मुख्यमन्त्री के विरुद्ध एक लम्बा अभियोग-पत्र लेकर आगे आयी।

"इन घटनाओं ने कांग्रेस हाई कमान को, जो अबतक उत्तेजित था, ज़रा सोचने के लिए बाध्य किया। उसके शुभेच्छुओं ने कहा की तसवीर का दूसरा पहलू भी है। अभियोग लगाना कांग्रेसी विरोध-पक्ष का ही एकाधिकार नहीं है। ....श्री आर० शंकरन अभियोग-पत्र का जो मसविदा दिल्ली ले गये थे उसमें केरल की मोर्चेबन्दी का रूप निर्धारित करने के लिए श्री ढेबर, श्रीमती इन्दिरा गाँधी और सादिक अली—त्रय—के हाथ से अनेक परिवर्तन हुए। सबसे अधिक आश्चर्य की बात जो है वह यह है कि 'अभियोग-पत्र' को स्मृति-पत्र कहा जाने लगा और बाद में स्मृति-पत्र को उस समय तक निवेदन-पत्र कहा गया जबकि अन्त में वह राष्ट्रपति के पास केवल एक पत्र के रूप में गया—श्री शंकरन के राष्ट्रपति से मिलने के २४ घण्टे पहले।

"इस प्रकार केरल प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष द्वारा नयी दिल्ली मे यह नाटक खेला गया। वे त्रिवेन्द्रम में कुछ उदास से लौटे। उन्होंने सोचा था कि मैं अपने राज्य में राष्ट्रपति के शासन की घोषणा लेकर लौटूंगा; किन्तु उनसे कहा गया कि हाई कमान—खास करके जो लोग उसमें सर्वाधिक बुद्धिमान हैं—केरल के कांग्रेसजनों की सलाह से फिर गुमराह नहीं होगा।"

'ट्रिब्यून' अग्रलेख, ८ जुलाई :—

"श्री नेहरू जिस तरह के आन्दोलन के पक्ष में नहीं हैं उस पर उनके विचार प्रकट कर दिये जाने के बावजूद स्थिति भद्दी बनी हुई है। विरोध-पक्ष के अभियोग-पत्र की निस्सारता और साथ ही स्कूलों तथा राज्य पारवहन सेवाओं पर धरना देने की   ने स्वीकार की है रिफ भी

आम चुनाव के लिए श्री नम्बूदरीपाद को राजी होने के लिए बाध्य करने के स्पष्ट उद्देश्यों को लेकर किसी तरह के आन्दोलन चलाये जाने के पक्ष में वे है। अतः जब यह पक्ष या वह पक्ष नही झुकता, कुछ समय के लिए गतिरोध अनिवार्य है। कांग्रेस हाई कमान के रुख की उपयुक्तता पर सारे देश में व्यापक रूप से संदेह प्रकट किया गया है और इस बात पर चाहे जितना तर्क दिया जाय कि आन्दोलन के साथ कांग्रेस का लगाव वास्तव में चरमपंथियों को नियंत्रण मे रखने के लिए ही है, लोगों को इससे सन्तोष नहीं होगा।''

इन विचारों का बारीकी से अध्ययन करने के बाद कुछ लोग यह कह सकते हैं कि इसमें 'प्राप्त स्वतन्त्रता' का ऐसा कोई उपयोग नहीं है, जो पत्र-स्वामियों के हित के विरोध तक जाता हो और विशुद्ध निष्पक्षता के साथ कम्युनिस्टों के पक्ष में पड़ता हो। उपर्युक्त उद्धरणों के कुछ स्थलों को लेकर वे यह कहना चाहेंगे कि उनमें वस्तुतः कांग्रेस को एक 'हितैषी चेतावनी' है और कम्युनिस्टों के भावी प्रसार तथा प्रभाव का खतरा देखा गया है।

जो कुछ भी हो, कांग्रेस को 'हितैषी चेतावनी' तथा 'कम्युनिस्टों' के भावी प्रसार तथा प्रभाव के खतरे के चित्रण के साथ ही कांग्रेस की आलोचना से और मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध उसकी प्रेरणा से संचालित आन्दोलन की निन्दा मे पत्रकार-सुलभ दूरदर्शिता, बुद्धिमत्ता और लेखन-कौशल या 'लेखन-चातुर्य' का परिचय तो मिलता ही है। क्या कोई भयभीत, चाटुकार और अज्ञान पत्रकार ऐसा परिचय दे सकता है। वह तो अगर सलाह भी देगा तो डरते-डरते, और युक्तिसंगत ढंग से नहीं। वह बीच-बीच में अनावश्यक रूप से ये वाक्य लिखता चलेगा—'हमारा यह मतलब नहीं', 'हम उनका समर्थन नही करते', 'हमें भी उनके कार्यों, उनकी नीतियों से विरोध है', 'हम उन्हे देश के लिए खतरा ही समझते हैं..........। बीच-बीच में आये उसके ऐसे वाक्यों से ऐसा लगेगा कि मानो वह पत्र-स्वामी को सफाई देता चलता है और उसे यह डर लगा है कि कहीं पत्र-स्वामी कुछ उलटा तो नहीं समझ लेगा। यदि ऊपर के उद्धरणों से 'कांग्रेसहितैषी चेतावनी' और कम्युनिस्टों के प्रचार और प्रभाव के खतरे के चित्रण की ही बात सामने आती हो तो भी देखना यह है कि कांग्रेस की और कांग्रेस-प्रेरित आन्दोलन की निन्दा कितनी निर्भीकता के साथ स्पष्ट शब्दों में आयी है। अपनी इस तरह की निर्भीकता से कोई अपने को भी सिद्ध कर सकता है

यह बात आज बहुत साफ हो गयी है। ऊपर के उद्धरणों में कम्युनिस्टों की प्रभाववृद्धि की चेतावनी बाद में सही सिद्ध हुई। उसी केरल में पुनः कम्युनिस्ट सत्तारूढ़ हो गये और फिर एक और प्रान्त, बंगाल, भी उनके प्रभाव में आ गया।

इन उद्धरणों से एक यह बात भी समझ में आ जानी चाहिए कि यदि पत्रकार सचमुच पत्रकार है तो वह पत्र-स्वामी का खयाल रखते हुए भी अपनी कलम का चमत्कार दिखला सकता है, अपने को भविष्यवक्ता सिद्ध कर सकता है और बता सकता है कि वह राजनीतिज्ञों और राजनेताओं से कहीं अधिक राजनीतिक दूरदर्शिता रखता है। सक्रिय राजनीति से दूर रह कर अपना समय लिखने-पढ़ने और सोचने में लगाने वाला पत्रकार राजनीतिज्ञों को चुनौती देते हुए उनसे कह सकता है कि "बैठकों, सभाओं और दौरों में, फोनों और फाइलों में ही अधिकांश समय लगाने वाले तुम लोग हम पत्रकारों से अधिक कुछ नहीं जान सकते। तुम राजनीतिक व्यक्ति कहला सकते हो, राजनीतिज्ञ नहीं।" यह सही है कि ऐसा कोई पत्रकार होता तो है पत्र-स्वामी का वेतनभोगी कर्मचारी ही, फिर भी वह अपने ऐसे व्यक्तित्व से अपने मालिक को भी प्रभावित कर लेता है या कर सकता है। जब तक, जहाँ तक, विचारों की स्वतन्त्रता और प्रौढ़ता का उपयोग करने की स्थिति बनी रहती है तबतक और उस हद तक वह उनका उपयोग निर्भीकता के साथ करता रहता है।

प्राप्त स्वतन्त्रता का उपयोग करने में समर्थ पत्रकारों को इस बात पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि लोकतन्त्र में जो संकट पैदा हो गया है या पैदा होता दिखायी देता है उसमें बहुत सम्भव है कि वे भी असमर्थ हो जायें और सारी विचार-प्रौढ़ता और विचार-स्वतन्त्रता समाप्त हो जाय, जैसाकि अनेक देशों में हम साफ देखते आये हैं। इन देशों में जो पत्र पहले थे उनमें से प्रायः सभी या अधिकांश शासन-परिवर्तन के बाद भी बने रहे और उन सब के सम्पादक मण्डलों में नये शासन के अनुकूल कोई परिवर्तन भी नहीं हुआ; किन्तु प्राप्त स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकने वाले पत्रकारों का स्वर दब गया या बदल ही गया। अतः जिन देशों में ऐसी स्थिति नहीं आयी है उनमें विचारों की दृढ़ता, प्रौढ़ता, स्वतंत्रता आदि की सबसे बड़ी परीक्षा इस बात में है कि ऐसी स्थिति को रोकने में क्या प्रयास किये जाते हैं और समय रहते कहाँ तक सफलता प्राप्त कर ली जाती है अनुभव बताता है कि जो कुछ प्राप्त है और

इस 'प्राप्त स्वतंत्रता' का उपयोग करने की जो सामर्थ्य कुछ पत्रकारों की है उसका सम्बन्ध पत्र-स्वामियों से ही नहीं, शासन से भी है। ऐसी स्थिति सर्वथा असम्भाव्य नहीं है कि किसी नये शासन के साथ सम्बद्ध हो कर पत्र-स्वामी भी उस स्वतन्त्रता का गला घोंट दे, जो अब तक प्राप्त थी। अतः जिन पत्रकारों ने अपने को बिलकुल 'दास' नहीं बना लिया है या नहीं मान लिया है और जो 'प्राप्त स्वतन्त्रता' का उपयोग कर लेते हैं, उन्हें इस वर्तमान स्थिति से ही संतुष्ट हो कर नहीं बैठे रहना चाहिए, बल्कि अपनी स्वतन्त्रता के प्रति अनुरक्त और उसकी रक्षा के लिए सचेष्ट रहते हुए, भविष्य पर भी दृष्टि रखनी चाहिए।

स्वस्थ वातावरण का अभाव

पत्रकारिता में एक विशेष वातावरण की, स्वस्थ वातावरण की, आवश्यकता बतलायी गयी है। यों तो हर कार्य के सुसम्पादन के लिए एक स्वस्थ वातावरण अनिवार्य है, किन्तु पत्रकारिता-जैसे बौद्धिक कार्य में यदि एक अपेक्षित वातावरण न हुआ तो बौद्धिकता नाम की चीज नहीं रह जायगी। यदि पत्रकारिता को एक व्यवसाय ही मान लिया जाय तो इसे एक ऐसा व्यवसाय कहा जायगा जिसमें लगे प्रत्येक व्यक्ति की बातों, व्यवहारों और आदतों से कुछ ऐसा मालूम पड़े की सचमुच वह एक बौद्धिक प्राणी है। सब की बातें, आदतें और व्यवहार एक-से तो नहीं हो सकते, किन्तु व्यक्तिगत जीवन में, सामान्यत: जो बातें, आदतें और व्यवहार होते हैं उन्हें पत्रकार-जीवन में कुछ अलग रख कर पत्रकारों के बीच एक हद तक एक ऐसी एकरूपता की कल्पना की जा सकती है जिससे किसी व्यक्ति को ऐसा लगे कि पत्रकार सचमुच एक विशेष वातावरण का प्राणी है। उसका यह वातावरण 'अनेकता में एकता' का परिचय सबसे अधिक दे सकता है। 'अनेकता में एकता' यदि साध्य है तो वह बुद्धि, विवेक और चिन्तन में ही साध्य है और इसकी आशा बुद्धि-जगत् के विशेष प्राणी माने गये पत्रकारों से की जानी चाहिए।

यदि पत्रकार सचमुच बुद्धि-जगत् का प्राणी है तो यह कल्पना की जा सकती है कि वह पारस्परिक अविश्वास, द्वेष या कृत्रिम व्यवहारों से ऊपर उठ कर एक ऐसे वातावरण की रचना करेगा जिसमें ऊँची बातें सोचने-समझने, एक ऊँचे स्तर पर विभिन्न विषयों पर विचार-विमर्श करने, एक दूसरे के विचारों का स्वागत करने, एक दूसरे से सीखते रहने तथा योग्यता का सम्मान करने की प्रवृत्ति आसीन होगी। ऐसी प्रवृत्ति के आसीन होने पर पग-पग पर कलहपरायणता, निन्दा-स्तुति, आत्म-प्रदर्शन (कम ज्ञान से अधिक ज्ञान का

प्रदर्शन) क्षुद्रता और संकीर्णता बहुत हद तक दब जाती है और कोई भी यह कह सकता है कि पत्रकार का अपना एक विशेष, स्वस्थ और सुन्दर वातावरण है। ऐसे वातावरण में ही पत्रकार और पत्र के व्यक्तित्व के उत्तरोत्तर विकास की बात सोची जा सकती है।

पत्र छोटा हो या बड़ा, उसके सुसंचालन तथा उत्तरोत्तर उत्थान के लिए और पाठकों के बीच उसका सम्मान बनाये रखने के लिए संचालकों, प्रबन्धकों तथा प्रधान-सम्पादक का सबसे बड़ा दायित्व यह है कि वे मुनाफे या अन्य किसी स्वार्थ को ही दृष्टि में न रख कर पूरे पत्र के एक अविच्छिन्न स्वार्थ को समझने की कोशिश करते हुए एक अपेक्षित वातावरण बनाये रखने में अपनी ओर से कुछ उठा न रखें। गहराई से विचार करने पर यह बात भी समझ में आ जायगी कि मुनाफा बढ़ाने के लिए भी एक ऐसे वातावरण की रचना करनी होगी जिसमें सब में पूर्ण सहयोग हो, कोई भयंकर प्रतिद्वन्द्विता या गुटबाजी न हो और लोग परस्पर छिद्रान्वेषण तथा जोड़-तोड़ में ही न लगे रहें। सीमित साधनों और सीमित योग्यता वाले सम्पादकों को लेकर चलने वाले संचालकों का तो कल्याण इसी में है कि वे वातावरण को दूषित न होने दें।

किसी पत्र में, यदि व्यक्ति-व्यक्ति के स्वार्थों को या परस्पर कुछ व्यक्तियों के स्वार्थों को टकराते देख कर केवल इसलिए प्रसन्नता प्रकट की जाती है कि किसी आर्थिक संघर्ष में इस प्रकार उनमें एकता नहीं होगी और मुनाफे पर आँच नहीं आयेगी, तो यह एक आत्मघाती दृष्टिकोण कहा जायगा। ऐसे ही दृष्टिकोण से भारत के कितने पत्र अकाल-काल-कवलित हो गये या अभिशप्त-से चल रहे हैं। कितने बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इस दृष्टिकोण में परिवर्तन का विचार यदि आता भी है तो वह ठोस रूप नहीं ले पाता। पत्रों के संचालन में आर्थिक लाभ को ही सर्वोपरि उद्देश्य मानने वाले व्यवसायियों को भी कोई कुशल पत्रकार (यदि वह हाँ में हाँ मिलाने वाला नहीं हो गया है) यह महसूस करा सकता है कि पत्र को अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुँचाने के लिए, यानी ग्राहक-संख्या बढ़ाने के लिए, आन्तरिक सन्तोष और शान्ति की, परस्पर सहयोग और प्रोत्साहन की तथा क्षुद्रताओं पर विजय के वातावरण की नितान्त आवश्यकता है।

संचालकों का दृष्टिकोण चाहे जो हो, कोई प्रधान सम्पादक या सम्पादक तो इस दृष्टिकोण के विरुद्ध यथासम्भव थोड़ा-बहुत प्रयास करके संचालकों को

प्रभावित कर सकता है—बशर्ते उसने अपने को पूर्णतः 'चाकर' न बना लिया हो। यों भी वह, स्थिति के बहुत अनुकूल न होने के बावजूद, अपने उस कर्त्तव्य का पालन कर सकता है जिसकी पत्रकारिता अपेक्षा करती है और जिससे वह आज भी अपना पत्रकार-चरित्र कुछ ऊँचा रख सकता है। यदि वह यह चाहे कि सम्पादक-मण्डल के सभी लोग एक दूसरे से सहयोग करते हुए, एक दूसरे से कुछ-न-कुछ सीखते हुए और छिद्रान्वेषणों से मुक्त रहते हुए मन लगा कर काम करने के लिए प्रोत्साहित हों तो उसे इन सब के लिए प्रयास करने से कौन रोक सकता है। अपनी बौद्धिक योग्यता, पत्रोन्नति की इच्छा और व्यवहार-कुशलता से सब को प्रभावित, प्रेरित और प्रमुदित रखना उसका परम कर्त्तव्य होना है। यदि अपनी अयोग्यता के कारण गुट, तिकड़म, खुशामद आदि के बल पर ही अपने पद पर बने रहना अभीष्ट हो तो वह अपने इस कर्त्तव्य का पालन कभी नहीं कर सकता। ऐसे सम्पादक या 'प्रशासन सम्पादक' के प्रति किसी के मन में यह भाव हुये बिना कैसे रह सकता है कि वह कुछ के साथ पक्षपात करता है और कुछ के साथ दुर्भाव रखता है?

यदि कोई सम्पादक सचमुच 'कार्यपालनाधिकारी' बन गया है या प्रबन्धक का भी काम करता है तो कुछ पत्रकार-धर्म एवं सम्पादक-कर्त्तव्य का भी ख्याल रखते हुए उसे यह महसूस करने की कोशिश जरूर करनी चाहिए कि उसे एक हद तक अभिभावक, प्रेरक और शुभचिन्तक का भी पार्ट अदा करना है—पत्र के ही हित में, अच्छा पत्र निकाल कर मालिक को खुश रखने की भी दृष्टि से। अपने को बुद्धिवादी और बुद्धिजीवी समझ कर बैठे सम्पादक को यह भी समझना होगा कि समाचारपत्र के वातावरण को बौद्धिक बनाये रखने के लिए उसके मन में 'अधिकारी और अधीनस्थ' का भाव बिलकुल उसी तरह आना पत्र के लिए अहितकर होगा जिस तरह किसी नौकरशाह या कार्यपालनाधिकारी के मन में आता है। यहाँ उसे यह समझने की जरूरत है कि पत्रकारिता एक बुद्धि-व्यवसाय है, जिसमें लगे सभी लोगों को बुद्धिवादी मान कर या बुद्धिवादी बना कर उसके साथ कहीं-न-कहीं समानता का व्यवहार रखना पड़ेगा, अफ़सरी धौंस से पिण्ड छुड़ाना पड़ेगा।

किसी संस्था का अधिकारी बन बैठा व्यक्ति यदि अपने को बुद्धिजीवी भी समझता हो तो उसे व्यावसायिक मनोविज्ञान का भी थोड़ा-बहुत अध्ययन करके यह समझना चाहिए कि हमेशा लौह दण्ड ताने रहना, बात-बात में युक्तिहीनता-

पूर्वक एवं अदूरदर्शिता के साथ अनुशासन का ही प्रश्न उठाते रहना, कठोर वचन बोलना, अपनी ही कहना-समझना, दूसरों की कुछ न सुनना-समझना ही प्रशासन-क्षमता, व्यवस्थापन-कुशलता और संचालन-पटुता नहीं है, कदापि नहीं है। बिना समझे-बूझे सबको एक ही डंडे से हाँकना बहुत बड़ी प्रशासन-अयोग्यता है। इससे संस्था, जिसके संचालन का दायित्व उस पर होता है, योग्य व्यक्तियों से वंचित हो जाती है और इस प्रकार उसका बहुत बड़ा अहित होता है। ऐसे तथाकथित बुद्धिवादी व्यक्ति को यह जानना चाहिए कि संसार के सभी कुशल व्यवस्थापक और संचालक इस तरह के व्यावसायिक मनोविज्ञान से अच्छी तरह परिचित होते हैं। और, जहाँ केवल बौद्धिक कार्य ही होता हो वहाँ का अधिकारी बन बैठा व्यक्ति यदि अपने को 'परम बुद्धिवादी' समझते हुए भी उपर्युक्त तथ्य को न समझ सका हो तो उसे अयोग्य और संस्था का शत्रु घोषित करना होगा।

व्यावसायिक मनोविज्ञान ने 'गुड़ न दे तो गुड़ की-सी बात तो करे' के सिद्धान्त को जो प्रमुखता दी है और प्रोत्साहन के अनेक तरीकों से अधिक काम लेने की जो नीति बतायी है उस पर यदि उसने कुछ अध्ययन न किया हो तो उसे व्यवस्थापक—और सो भी बुद्धिवादी व्यवस्थापक—बनने का कोई अधिकार नहीं है।

जिसे बुद्धि का ही व्यवसाय कहा जाता है, उसमें यदि विचार-विमर्श या बहस, तर्क और स्वस्थ आलोचना नहीं होगी तो कहाँ होगी ? किन्तु यदि यहाँ भी—व्यक्तिगत मामलों में हो या सम्पादन के मामले में—'बहस करना', 'मुँह लगना' समझा जाय तो काम नहीं चलेगा। इतना ही नहीं, इससे एक अहितकर विद्रोहात्मक या विस्फोटक स्थिति पैदा हो जायगी, क्योंकि बुद्धिवादी कुछ तर्क करना ही चाहेगा और केवल आदेशों या अनुशासन के नाम पर प्रत्येक बात को यों ही नहीं मान लेगा। अनेक संकीर्ण 'नौकरशाह-सम्पादकों' की दृष्टि में सह-सम्पादक केवल इसलिए अनुशासनहीन मान लिये जाते है कि वे अक्सर बहस कर बैठते हैं। यदि संस्था के हितार्थ बहस में तत्व हो तब भी 'अधिकारी और अधीनस्थ' की, 'छोटे-बड़े' की भावना से अपने ही विचारों को मानने के लिए बाध्य करना अनुशासन की किसी एक परिभाषा से भले ही उचित मान लिया जाय, किन्तु बुद्धि-जगत् की बुद्धिसंगत परिभाषा के अन्तर्गत उसे हर परिस्थिति में उचित नहीं माना जा सकता। 'कुछ भी हो प्रधान की बात माननी ही चाहिए' 'कुछ भी हो प्रधान की बात रह जाय'—इस तरह के

उपदेशों या विचारों से बौद्धिकता की गाड़ी नहीं चल सकती। यदि कोई अधिकारी अनुशासन के प्रश्न को व्यक्तिगत मानापमान की दृष्टि से पहले, और संस्था के हित की दृष्टि से बाद में, देखता है तो वह अनुशासन का अर्थ नहीं समझता, उसका दुरुपयोग करता है और अन्त में देखा जाय तो संस्था के प्रति स्वयं अकर्त्तव्य का और अनुशासनहीनता का परिचय देता है। वह यह नहीं समझता कि वस्तुतः अनुशासन व्यक्ति के लिए नहीं, बल्कि संस्था के लिए, संस्था के सुसंचालन के लिए होता है। बात-बात में अनुशासन का प्रश्न उठाने वाला सम्पादक, प्रधान सम्पादक या प्रबन्ध-सम्पादक तो एक योग्य कार्यपालनाधिकारी (एग्जिक्यूटिव आफ़िसर) या नौकरशाह भी नहीं माना जा सकता।

जब कोई प्रधान सम्पादक या सम्पादक मात्र 'कार्यपालनाधिकारी' रह जाता है तब उसकी बुद्धि भी कार्यपालनाधिकारी की हो जाती है, यानी वह बुद्धिजीवी नहीं रह जाता। वह अनुशासन, कड़ाई और प्रबन्ध-मण्डल की आज्ञाकारिता का प्रतीक बन जाता है। प्रबन्ध-मण्डल के सामने सम्पादक-मण्डल की वकालत करने की बजाय वह सम्पादक-मण्डल के सामने प्रबन्ध-मण्डल की ही वकालत करता दिखलाई देता है। वह सम्पादक-मण्डल का अभिभावकत्व खो बैठता है, सम्पादक-मण्डल के आदर तथा प्रेम से वंचित हो जाता है, उसकी प्रेरक शक्ति नहीं रह जाती और बेचारा अपनी कोई बीच की स्थिति भी नहीं बना पाता या बनाने की सोचता ही नहीं। ऐसा सम्पादक अक्सर यह कहते हुए सुना जाता है—व्यवस्थापकजी ऐसा चाहते हैं, 'उनका ऐसा आदेश' है। ये शब्द सुन कर किसी के भी मन में ये प्रश्न उठ सकते हैं—"आखिर सम्पादक क्या चाहता है ? उसका अपना भी कोई स्वतन्त्र आदेश है या नहीं ? क्या वह कभी जोर देकर व्यवस्थापकजी या संचालकजी से यह कहता होगा कि मैं ऐसा चाहता हूँ ? व्यवस्थापकजी या संचालकजी को आदेश देते देर नहीं कि आँख मूँद कर उसका पालन होने लगता है।

यदि किसी सम्पादक ने अपने को विशुद्ध 'कार्यपालनाधिकारी' बना लेने के साथ ही 'अपना गुट और अपने आदमी' का भी विचार अपना लिया हो और वह 'अपने गुट और अपने आदमियों' के साथ पक्षपात करने लगा हो तो एक दिन अपने-आप ऐसा आ जायगा कि पत्र की कुरूपता ही उसे बदनाम कर देगी और पत्र कों को यह सोचने के लिए बाध्य होना पड़ेगा कि काय

पालनाधिकारी,' या 'नीतिपालक' के रूप में उससे काम लेते रहना कहाँ तक ठीक होगा। चूँकि 'अपना आदमी' और 'अपना गुट' की भावना में योग्यता को प्रश्रय नहीं मिलता, और योग्य लोग भी डरे-डरे रहने लगते हैं (गुटबाज सम्पादक या कार्यपालनाधिकारी से ही नहीं, उसके गुट के हर अयोग्य सदस्य से भी) अतः अयोग्यता की स्पष्ट छाप पत्र पर पड़ते देख कर ऐसे सम्पादक या प्रबन्ध-सम्पादक को कैसे बर्दाश्त किया जा सकता है? उस सम्पादक को एक 'छोटा आदमी' मानना पड़ेगा जो 'अपना गुट और अपने आदमी' की भावना से, या अपेक्षित समझदारी और सूझ-बूझ के अभाव में, सम्पादक-मण्डल के कुछ लोगों की चाटुकारिता, चुगलखोरी और कानाफूसी की आदतों को निरुत्साहित करने के बजाय बढ़ावा देता है या उनमें रस लेता है। ऐसे 'छोटे आदमी' से पत्र बड़ा नहीं हो सकता, क्योंकि उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह योग्य का यथोचित सम्मान करके उसे और अधिक योग्यता अर्जित करने के लिए प्रेरित करेगा, अयोग्य को भी योग्य बनाने की परिस्थितियाँ पैदा करने का प्रयास करेगा और वातावरण को दूषित होने से बचा सकेगा। जो सम्पादक, प्रधान सम्पादक या प्रबन्ध-सम्पादक 'जानबूझ कर' या 'समझदारी के साथ' चाटुकारिता, चुगलखोरी और कानाफूसी को बढ़ावा देते हैं उनकी निन्दा कड़े-से-कड़े शब्दों में करनी होगी और जो चाटुकारों को पत्र के लिए अभिशाप न समझ कर और उनकी मीठी-मीठी बातों में पड़ कर, अपने बुद्धि-दौर्बल्य के कारण उनकी (चुगलखोरों या दरबारियों की) बातों में रस लेने लगते हैं उनकी निन्दा मूर्ख या 'भोले' कह कर करनी होगी।

आज ऐसे प्रधान सम्पादक, सम्पादक या प्रबन्ध-सम्पादक बहुत कम दिखलायी देंगे जिन्हें अपनी योग्यता, कार्य-सम्पादन-विधि और व्यावहारिकता पर ऐसा विश्वास हो कि उन्हें अपनी स्थिति बनाये रखने के लिए 'अपने गुट और अपने आदमियों' की कोई जरूरत ही न पड़े और जो चाटुकारों, चुगलखोरों तथा कानाफूसी करने वालों को समझा-बुझा कर या फटकार कर निरुत्साहित कर सकें। आज ऐसे सम्पादक नहीं रहे, जो सम्पादक-मण्डल के एक सदस्य द्वारा दूसरे सदस्य के छिद्रान्वेषण, निन्दा और आलोचना को बर्दाश्त न करें और एक ऐसा वातावरण बनाने की कोशिश करें जिसमें किसी अनुपस्थित सहयोगी की आलोचना-निन्दा शुरू होने पर अन्य उपस्थित लोग रस न लें और निन्दा शुरू करने वाले से साहस के साथ कह सकें कि 'इसी प्रकार उसकी दृष्टि में हम सब

भी तो कुछ-न-कुछ निन्द्य या आलोच्य हो सकते हैं, किसी-न-किसी गलती या भूल को लेकर हमारा भी तो मजाक उड़ाया जा सकता है'। वस्तुतः सम्पादक-प्रेरित ऐसा वातावरण अब एक कल्पना मात्र है।

सम्पादक हो या उसके नीचे के एकाधिक अन्य 'कार्यपालनाधिकारी' (संयुक्त सम्पादक, सहायक सम्पादक और समाचार-सम्पादक), आज उस गुरुता और गम्भीरता का परिचय देने में सर्वथा विफल हैं जिनके बिना अच्छा वातावरण नहीं बना रह सकता। वस्तुतः अच्छा वातावरण बनाने के दायित्व का कोई बोध ही नहीं हो पाता। बोध हो भी कैसे—जब ये सारे कार्यपालनाधिकारी 'छोटे' होते आये हैं। हर सहयोगी के साथ अपेक्षित व्यवहार करने और उससे निटपने में गम्भीरता का परिचय देने को कौन कहे, उलटे निन्दा-स्तुति में शामिल होने की आदत इन अधिकारियों की भी हो जाती है। यह आदत उनकी प्रशासनिक योग्यता को भी दुर्बल सिद्ध करती है।

इन 'कार्यपालनाधिकारियों' को सम्पादक-मण्डल का प्रशासन चलाने वाला भी मान लिया गया है न! प्रशासनाधिकारी समझे गये ये लोग जब निन्दा-स्तुति में सब के बीच रस लेते हों, स्वयं पीठ-पीछे दूसरे की निन्दा करते हों और 'अति वाचाल' हो गये हों, तो उन्हें अच्छा प्रशासक भी नहीं माना जा सकता।

'दूसरे' या 'तीसरे' नम्बर पर रहने वाले कार्यपालनाधिकारी-सम्पादकों की स्थिति अपने स्वभाव के कारण ही नहीं, उच्चतर अधिकारियों से लगाव और साथ ही नीचे के सहकर्मियों से सीधे सम्पर्क के कारण भी बड़ी जटिल और साथ ही विचित्र हो जाती है। यदि उन्होंने यह निश्चय कर लिया है कि उच्चतर अधिकारियों के ही साथ आँख मूँद कर रहेंगे, तब तो नीचे के सहयोगियों का कोपभाजन बन जाने की परवाह शायद उतनी न हो; किन्तु यदि नीचे के साथियों के साथ भी कुछ अच्छा सम्बन्ध रखना चाहते हैं और उनका कोपभाजन बन कर रहने में किसी तरह की उद्विग्नता या भावात्मकता का अनुभव करते हैं, तो उन्हें पक्के प्रशासक-सम्पादक (कार्यपालनाधिकारी) के साथ सामंजस्य रखने में कुछ या बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। लेकिन सामंजस्य रखने में अपनी योग्यता के बावजूद कभी-कभी एक ऐसी स्थिति भी उनके सामने आती है जिसमें अपने प्रधान की दृष्टि में शंका के पात्र केवल

इसलिए बने रहते हैं कि कुछ अधिक सूझबूझ वाले होते हैं। ऐसे द्वितीय या तृतीय व्यक्तियों से प्रथम या द्वितीय व्यक्ति को—अयोग्यताजन्य आत्मलाघव के कारण—यह भय लगा रहता है कि कहीं वे कुर्सी न छीन लें। अतः इस भय के कारण कोशिश यह होती है कि किसी अन्य व्यक्ति को, जिसमें बौद्धिक योग्यता के स्थान पर अधिकारी को खुश करने की योग्यता और साथ ही 'फौजी अनुशासन' की या एक 'लठैत' की योग्यता अधिक हो, द्वितीय या तृतीय पुरुष बनाया जाय।

वातावरण को बनाने या बिगाड़ने में अधिकारियों या अधिकारी-वर्ग मे आ गये सम्पादकों का कितना हाथ है और अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य पर वे क्या सोचते-समझते हैं—इसका संक्षिप्त परिचय ऊपर मिल जाने के बाद अब सम्पादक-मण्डल के शेष सामान्य सदस्यों के बीच जिस तरह की तुच्छ बातें चलती रहती हैं, उनका भी कुछ अप्रिय वर्णन आवश्यक मालूम पड़ता है। एक तुच्छ बात जो अक्सर देखी गयी है, और देखी जाती है, वह यह है कि एक पाली के लोगों के दरवाजे से बाहर कदम रखते ही दूसरी पाली के लोगों की शिकायतें शुरू हो जाती हैं :—यह करके नहीं गये, वह करके नहीं गये, तार ऐसे दबा रखा था, ऐसे बिखरा रखा था। कुछ देर बाद जब पिछले संस्करण का अखबार छप कर आता है तब पिछली शिफ्ट के शिफ्ट-इंचार्ज के 'समाचार-मूल्यांकन-ज्ञान' पर मुँह बिचकाया जाता है और उच्चतर अधिकारियों का ध्यान आकृष्ट करने की कोशिश की जाती है।

इस प्रकार जहाँ प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को अपने से कम योग्य और कम सावधान मानता हो, छिद्रान्वेषण ही करता हो वहाँ वह स्वयं अपनी खामियों को देख कर उनमें सुधार के लिए इच्छुक नहीं हो सकता और अन्ततः अपने बौद्धिक विकास को अवरुद्ध करने का ही मार्ग प्रशस्त करता है। अखबार में, जहाँ एक-एक शब्द पर, पूर्ण विराम और अर्धविराम के यथोचित प्रयोग तक पर ध्यान देने की आवश्यकता होती हो, जहाँ योग्य से योग्य व्यक्ति से भी जरा-सी असावधानी होने पर भारी भूल होने का भय बराबर बना रहता हो और अक्सर भूल हो भी जाती हो वहाँ हर व्यक्ति का दूसरे व्यक्तियों के दोष ही दिखलाने के लिए तैयार बैठे रहना अच्छी बात नहीं कही जा सकती। किसी अखबार में शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति हुआ हो जिससे कभी कोई भयंकर भूल न हुई हो। साधारण भूल के लिए भी जवाब-तलब करने वाले अधिकारी

सम्पादकों की अनेक छोटी-बड़ी भूलों का रेकार्ड किसी के भी पास मिल सकता है। एक प्रधान महोदय ने अपने सहयोगी द्वारा भूल से एक शीर्षक मे 'फीरोजाबाद' की जगह 'फीरोजपुर' लिख जाने पर कस कर जवाब-तलब किया था; किन्तु उसी दिन जब उसने उसी शीर्षक के समाचार पर अग्रलेख लिखा तो स्वयं 'फर्रुखाबाद' लिख दिया (यह तो संयोग ही था, जो वह गलती समय पर पकड़ ली गयी, अन्यथा एक और भद्दी भूल पाठकों के सामने आ जाती) अतः, कुल मिला कर, ऐसी स्थिति में उदारता और सहानुभूति का ही आचरण होना चाहिए, ताकि वातावरण सुधार के लिए प्रेरित करने वाला बनने के बजाय कटुता या हीनता का न बने।

यदि मालिक, व्यवस्थापक या प्रबन्ध-सम्पादक न देख सकता हो तो कोई उदार, संवेदनशील, सहृदय, प्रेरक तथा प्रोत्साहक और अनुभवी सम्पादक तो यह देखता ही है, (और जानबूझ कर आंख नहीं मूंद लेता) कि समाचार-पत्र का सम्पादन एक जटिलतम कार्य है—उसमें अर्धविराम और पूर्णविराम तक के महत्व पर ध्यान रखना पड़ता है, उनके इधर-उधर हो जाने पर अर्थ समझने में कठिनाई हो जाती है अर्थ का अनर्थ हो जा सकता है; उसमें 'आँखो की कठिन साधना' में डेढ़-दो घंटे के अन्दर सैकड़ों समाचारों में से मथ कर बीस-पचीस निकालने पड़ते हैं, समाचारों का महत्वक्रम निश्चित करने की समस्या को अत्यल्प समय में हल करना पड़ता है, 'समाचार के पीछे समाचार' देखना पड़ता है, 'पंक्तियाँ नहीं, पंक्तियों के बीच पढ़ना पड़ता है', अनुवाद करना पड़ता है, लम्बे समाचारों को संक्षिप्त करने में 'गागर में सागर भरने की कला' का परिचय देना पड़ता है; मेक-अप अच्छा बनाने की चिन्ता रहती है, मेक-अप के समय या मेक-अप के बाद फोलियो से लेकर प्रिन्टलाइन तक कुछ ही मिनटों मे देख लेनी पड़ती है, सम्पादकों की संख्या आधी हो जाने और टेलिप्रिन्टर एक की जगह दो-दो या और अधिक लग जाने के कारण चौगुना काम निपटाना पड़ता है, नवनियुक्त लोगों का भी काम देखना-जांचना पड़ता है, हर दूसरे सप्ताह रात की ड्यूटी करनी पड़ती है और अक्सर ही दिन में सो न सकने के कारण शिथिल रहने के बावजूद रात की सर्वाधिक महत्वपूर्ण और कष्टसाध्य ड्यूटी सभालनी पड़ती है.......................................।

पारस्परिक आलोचना-निन्दा की स्थिति के सम्बन्ध में यह कहना मुश्किल है कि अपने को योग्य समझ कर आलोचना या निन्दा की जाती है या अपनी

अयोग्यताओं को छिपाने के लिए या उन पर किसी को उँगली न उठाने देने के खयाल से ही की जाती है। जो कुछ भी हो, सामान्य जनों के बारे में यह कहा जा सकता है कि वस्तुत: वे मन-ही-मन अपनी अयोग्यता तो महसूस करते है, किन्तु उसको छिपाने के लिए योग्य, या कम-से-कम अपने से कुछ अधिक योग्य, व्यक्तियों से हो गयी किसी गलती को (जो इतने सारे महत्वपूर्ण दिमागी कामो में हो ही जाती है) तावीज की तरह धारण कर लेते हैं और उसका जितना ढिंढोरा पीट सकते हैं, पीटते रहते हैं और उस बेचारे को भी, लोगों की नजरो में, अपनी ही तरह साधारण 'सिद्ध' कर देने में एक तरह से सफल हो जाते हैं। ऐसे 'प्रचारकों' से योग्यता का दूर भागना स्वाभाविक है। इनके बीच रह कर ही यह देखा जा सकता है कि इनकी आदतें कैसी हो गयी रहती हैं और अपनी आदतों से ये अपना और अपने पत्र का सुधार क्या कर सकते हैं।

ऐसे लोगों के बीच वास्तविक रूप में योग्य या योग्यता बढ़ाने में सचेष्ट रहने वाले एकाधिक व्यक्तियों की बड़ी दुर्गति होती है। सारे अयोग्य या 'अर्धयोग्य' व्यक्ति मिल कर उन्हें भी जब अयोग्य सिद्ध करने में लग जाते हैं, तो वे पीड़ित हो उठते हैं। उन्हें कोई पारखी व्यक्ति भले ही योग्य मानता हो, पर 'घर में' कोई उनकी विशेषता स्वीकार करता दिखलायी नहीं देता। यदि सारे कुप्रचारों के बावजूद, कोई व्यक्ति उन एकाधिक व्यक्तियों की योग्यता का मन-ही-मन कायल होता है तो वह भी अन्तत: कुप्रचारों का शिकार हो जाता है। यह स्थिति किसी को कुछ सीखने या प्रेरणा लेने नहीं देती।

वस्तुत: आज ऐसा वातावरण बनाने या बनाये रखने वाली कोई शक्ति नहीं दिखायी देती जिसमें अपने से अधिक योग्य व्यक्तियों से ईर्ष्या करने, उनकी किसी भूल-चूक से अपनी तमाम भूल-चूकों पर परदा डालने की कोशिश करने और तिल का ताड़ बनाने के बजाय कोई यह समझने की कोशिश करे कि 'गलतियाँ किससे नहीं होतीं और अपने से अधिक योग्य की गलतियों पर ध्यान देने के बजाय उसकी विशेषताओं पर ध्यान देने की आवश्यकता है'। ऐसा वातावरण बन जाने पर यह समझना और समझाना बिलकुल आसान होता है कि बुद्धिमान-से-बुद्धिमान व्यक्ति भी हिमालयीय गलती कर बैठता है, किन्तु उसकी वजह से उसे हमेशा के लिए मूर्ख या अयोग्य नहीं मान लिया जाता। जो व्यक्ति वस्तुत: योग्य होते हैं, जिन्हें अपनी और दूसरों की योग्यता प्रिय होती है और उसे बढ़ाने की चिन्ता रहती है, वे जब गलतियाँ करते हैं तो उन्हें सहर्ष स्वीकार

करने में संकोच नहीं करते और उसे सुधार लेते हैं। ऐसे ही लोगों के बारे में किसी महान् विचारक ने कहा है कि "बुद्धिमान् वह नहीं है जो गलतियाँ करे ही नहीं, बल्कि वह है जो गलतियाँ सुधार ले और उनसे सबक ले।" ऐसे लोग दूसरों की गलतियों के प्रति भी महानता व उदारता का परिचय देते हैं और वातावरण को उत्साहवर्धक बना देते हैं।

वातावरण को उत्साहवर्धक एवं प्रेरक बनाये रखने की आवश्यकता के प्रसंग में, एक उदाहरण स्वर्गीय श्री देवव्रत शास्त्री का है। शास्त्रीजी स्वातंत्र्य-संघर्ष काल के सुप्रसिद्ध पत्र 'प्रताप' में स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी के एक सहयोगी थे। उन्होंने बाद में पटने से 'नवराष्ट्र' नामक अपना एक दैनिक समाचारपत्र निकाला था। उसके प्रधान सम्पादक भी वही थे। मालिक के रूप में उनकी नीति चाहे जो रही हो, वह अखबार के काम की तमाम कठिनाइयों और जटिलताओं को अच्छी-तरह समझते थे और इसलिए यह भी जानते थे कि इस कार्य में लगे लोगों के प्रति कम-से-कम व्यवहार में, बात-चीत में, कितनी सहानुभूति और प्रोत्साहन की आवश्यकता होती है और होनी चाहिए। बड़ी-से-बड़ी गलतियाँ हो जाने पर भी वे बड़ी उदारता और मृदुता से पेश आते थे, उनके लिए किसी को अपमानित या लज्जित नहीं करते थे और न व्यंग्य ही करते थे। बुद्धि के व्यवसाय में लगे लोगों के प्रति व्यवहार का तरीका कुछ भिन्न होना चाहिए, इससे वह अभिज्ञ थे।

एक बार देवव्रतजी के सम्पादक-मण्डल के एक सुयोग्य और अनुभवी सदस्य से सर्वप्रमुख समाचार में ही एक भारी भूल हो गयी; किन्तु शास्त्रीजी ने तीसरे दिन तक उनसे किसी भी रूप में कोई पूछताछ नहीं की और पाठकों से क्षमा-याचना करते हुए, बड़े प्रभावात्मक ढंग से भूल-सुधार निकाल दिया। चौथे दिन वह अपने उस सहयोगी की बगल में आ कर खड़े हो गये और एक नवयुवक दोस्त की तरह सहयोगी के कंधे पर हाथ टेक कर बोले :—"कहिए, सब कुछ ठीक है न। आपका स्वास्थ्य अब कैसा है। आज आप दो ही आदमी कैसे हैं। लाइए कुछ काम मैं निपटा दूँ (शास्त्रीजी अक्सर अपने अधीनस्थ सम्पादकों के साथ बैठ कर कुछ काम करने लगते थे)......................................." इतना कहने के बाद कुछ रुक कर बोले "उस दिन के बैनर की ओर तो आप का ध्यान गया ही होगा" उनके इतना कहते ही उक्त सह-सम्पादक कुछ ग्लानि के स्वर में अपने-आप बोल उठे" शास्त्रीजी, मैं बहुत

दुःखी और लज्जित हूँ।" इतना कहना था कि शास्त्रीजी मानो उन्हें आगे और पश्चाताप करने से रोकने के लिए सांत्वना के स्वर में बोले:— "कोई बात नहीं, गलतियाँ आदमी से ही होती हैं। बड़े-बड़े विद्वानों ने बड़ी-बड़ी गलतियाँ की हैं। और कई बार मुझसे भी ऐसी गलतियाँ हो गयी हैं। वैसे ही आप से भी हो गयी। खैर, आगे से आप स्वयं ही और सावधान रहेंगे।"

चूंकि इतना सभी सुने रहते हैं कि 'पत्रकार को एक बौद्धिक प्राणी होना चाहिए, उसे कुछ बौद्धिकता का परिचय देते रहना चाहिए' अतः साधना से भागने वाले अयोग्य व्यक्ति कुछ इधर-उधर से सुनी बातों को ही अपनी पूंजी बना कर अपने को बुद्धिजीवी बताते हुए अपनी 'योग्यता' का तो प्रदर्शन करते रहते हैं, गाल बजाते रहते हैं, किन्तु वस्तुतः योग्य व्यक्ति से डरते रहने के कारण उसकी मामूली-से-मामूली गलती को मानो सैकड़ों नेत्रों से देखना चाहते हैं और अक्सर आपस में एक गुट-सा बना कर उसके विरुद्ध एक अभियान छेड़ देते हैं। इस अभियान में उसकी किसी गलती की बार-बार चर्चा की जाती है, ताकि उसका मनोबल कुछ क्षीण हो और अपनी बन आये, अपनी कलई न खुले। उसकी गलती को बढ़ा-चढ़ा कर, नमक-मिर्च लगा कर, प्रस्तुत करने में वे अयोग्य लोग बड़े योग्य हो जाते हैं। यद्यपि हर व्यक्ति के कानों में यह निन्दा कई बार पड़ चुकी होती है तथापि वह हर बार रस लेते हुए इस प्रकार सुनता-सुनाता है कि मानो पहली बार सुन-सुना रहा हो। इससे वह अपनी अयोग्यता को तुष्ट करता और अयोग्यताजन्य टीस दूर करता दिखलायी देता है।

ऐसे लोगों के बीच रह कर कोई योग्य, योग्यता-विकल या जिज्ञासु व्यक्ति घुटन का अनुभव किये बिना, धीरज खोये बिना या फिर सबके सामने अपना व्यक्तित्व समर्पित किये बिना कैसे रह सकता है? जहाँ, योग्यता की ऐसी दुर्दशा हो वहाँ यह आशा करना व्यर्थ है कि पत्रकारों का कोई ऐसा वातावरण बन सकेगा जिसमें सम्पादित होने वाले पत्र से पाठकों को अपेक्षित सन्तोष हो। यदि प्रत्येक व्यक्ति की आध्यात्मिक, नैतिक और बौद्धिक उन्नति के बहुत ऊँचे आदर्श की दृष्टि से नहीं तो, कम-से-कम पाठकों को अपेक्षित सन्तोष देने की दृष्टि से तो योग्यता की ऐसी दुर्दशा न की जाय और वातावरण कटु न बनाया जाय। जहाँ, यों ही योग्य लोगों की कमी हो, अधिक-से-अधिक योग्य लोग अभिमुख न हो रहे हों वहाँ योग्य लोगों से कुछ सीखने, 'सार-सार को गहि रहै थोथा

देय उड़ाय' का विचार विकसित करने और अपना व्यक्तित्व कुछ ऊँचा करने की आवश्यकता महसूस कराने के बजाय, यदि किसी अधिकारी ने यही निश्चय कर लिया हो कि ऐसे स्वस्थ वातावरण की रचना नहीं करनी है, योग्य लोगों पर अपने दो-तीन कृपापात्रों को किसी तरह हावी कर देना है और इस प्रकार उन्हें (योग्य लोगों को) 'कोनियाये' रखना है तो पाठकों के सन्तोष का सही विचार कैसे उदित हो सकता है ?

यही, कुछ खास इरादों और स्वार्थों से अनुशासन के नाम पर, जो कड़ाई की जाती है, जो तुच्छ बातें होती हैं और जिन क्षुद्रताओं का परिचय दिया जाता है उनकी एक और झाँकी ले ली जाय । यह कहना तो ठीक नहीं होगा कि सभी पत्रों के सम्बन्ध में यही झाँकी है, किन्तु कम-से-कम पचास प्रतिशत पत्रों (जिनमें कुछ बड़े माने जाने वाले पत्र भी होते हैं) के बारे में यह झाँकी सही है । जहाँ बौद्धिक कार्य सम्पादित किये जाने की बात हो वहाँ यह झाँकी किसी के लिए शोभनीय नहीं कही जा सकती । जिस डण्डे से औरों को हाँका जाता हो उसी से पत्रकारों को हाँकना बुद्धिवाद पर एक कलंक है । जिसे बुद्धि-जगत् कहा जाता है उसमें ऐसा कलंक सारे देश के लिए कलंक क्यों न माना जाय ? यदि कहीं घोर उत्तरदायित्वहीनता या अनुशासनहीनता न आ गयी हो तो भी किसी व्यक्ति के सिर्फ दस-पन्द्रह मिनट देर से आने पर आते ही उसे टोकना, बीच में लघुशंका या किसी से बातचीत के लिए एकाधिक बार बाहर निकलने पर आपत्ति करना, किसी के मिलने आने पर यह देखना कि वह कितनी देर तक बैठता है, सम्पादक-मण्डल के ही किसी सदस्य के ड्यूटी के बाद आने पर यह पूछना कि 'कैसे आये' आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो शोभा नहीं देतीं । किन्तु एक सम्पादकीय प्रशासनाधिकारी इनमें ही अपना बड़प्पन समझता रहा ।

जहाँ, काम पहले से दूना हो गया हो और काम करने वालों की संख्या आधी हो गयी हो, जहाँ एक शिफ्ट का काम दूसरी शिफ्ट पर टाला न जा सकता हो यानी जहाँ निर्धारित समय पर ही काम पूरा करना हो (अखबार जिस समय निकलता है उससे आधे घण्टे की भी देर होने से वह छप कर पड़ा रह जा सकता है) वहाँ हर व्यक्ति को स्वयं अपने दायित्व की चिन्ता रहती है, समय का ध्यान रहता है । अतः यदि यह चिन्ता और ध्यान लेकर बैठने के बावजूद वह बीच में कुछ समय किसी से बातचीत करने या मिलने या उठ कर इधर-उधर जाने में लगा ही देता है, तो उसे उसी तरह टोकना जिस तरह

विद्यार्थी को मास्टर टोकता है, शोना नहीं देता। किन्तु, सम्पादक-मण्डल से ही निकला व्यक्ति जब प्रशासनाधिकारी हो जाता है और उच्चतर अधिकारी का संकेत या वरदहस्त प्राप्त कर लेता है तब वह 'फौजी' बन जाने में ही अपनी शान समझने लगता है। समझे भी क्यों नहीं ! उस बेचारे का बौद्धिक संस्कार ही कुछ ऐसा रहता है।

एक बार एक छोटे 'प्रशासनाधिकारी' को व्यवस्थापक ने यह आदेश दिया कि प्रत्येक व्यक्ति के आने-जाने का, काम के परिमाण का तथा इसी प्रकार कुछ और दूसरी बातों का रेकार्ड रखा जाय। बस क्या था ! 'छोटे प्रशासनाधिकारी महोदय' ने (तथाकथित समाचार-सम्पादक ने) एक बड़ी-सी आलमारी ले ली और उसमें सम्पादक-मण्डल के हर सदस्य (अपने और अपने दो-एक साथियों को छोड़ कर) का एक खाना बन गया। इन खानों में आने-जाने, उठने-बैठने, बोलने-बतियाने तक का रेकार्ड रखा जाने लगा। जितना कुछ व्यवस्थापक चाहते थे उससे आगे ही 'बढ़ कर' सेवा की जाने लगी। कौन कितना लिखता है—इसका रेकार्ड एक अलग रजिस्टर पर विशेष रूप से रखा जाने लगा। किन्तु इसका परिणाम क्या हुआ :—चूँकि भाषणों के अनुवाद प्रायः जल्दी हो जाते हैं, अतः लोग लम्बे-लम्बे भाषणों पर ही पिल पड़े, दूसरे समाचार अति संक्षिप्त होने लगे और आर्थिक तथा दूसरे जटिल विषयों पर आये समाचारों की बिलकुल उपेक्षा होने लगी। चूँकि मैटर की नाप में हेडिंग भी 'कृपापूर्वक' नाप ली जाती थी, अतः लोगों ने ज्यादा समाचार मोटे शीर्षक से देना शुरू किया। जब छोटे-बड़े प्रशासनाधिकारियों का ध्यान इस पर गया तो भाषणों को कम स्थान देने और मोटे शीर्षक कम लगाने का आदेश मिला। मोटे शीर्षक के बारे में यह भी कहा गया कि इस बात की पूरी कोशिश की जाय कि किसी भी टाइप का कोई शीर्षक एक ही लाइन में हो। आतंकित हो गये बेचारे सह-सम्पादकगण, चूँ नहीं कर सकते थे। उन्होंने आँख मूँद कर काम करना शुरू कर दिया, रफ्तार तेज कर दी।

लेकिन इन सब आदेशों का परिणाम यही निकला कि 'परिमाण' के फेर में 'गुण' विलुप्त होने लगा। समाचारों के चयन या अनुवाद में जहाँ विचार-विमर्श की आवश्यकता होती थी वहाँ समय के ख्याल से इस आवश्यकता का परित्याग कर दिया गया। अनुवाद में जिन स्थलों पर कोश देखने या आपस में पूछने की आवश्यकता होती थी, उन्हें जल्दीबाजी में छोड़ दिया जाने लगा।

लेखन और अनुवाद जैसे कार्यों में भाषा, भाव, अर्थ की दृष्टि से जिस सावधानी की आवश्यकता होती है वह और कम हो गयी। भला इस प्रकार डण्डे तान कर सावधानी लायी जा सकती है! जब स्थिति इतनी बिगड़ने लगी कि पाठकों ने भी शिकायत शुरू कर दी तब जाकर एक सह-सम्पादक की बार-बार कही गयी इस बात पर गौर किया गया कि 'अखबार में परिमाण नहीं गुण' की आवश्यकता पहले होती है''। 'परिमाण और गुण'—जैसे जिस सर्वप्रमुख विषय की ओर ध्यान आकृष्ट करना सम्पादक, सहायक सम्पादक और समाचार-सम्पादक का काम होना चाहिए था उसकी ओर ध्यान आकृष्ट करने का साहस किया.एक 'सर्वाधीनस्थ' सह-सम्पादक ने। अन्त में इस 'सर्वाधीनस्थ' सह-सम्पादक ने एक दिन व्यवस्थापक के सामने यह घोषणा करने का भी साहस किया कि "अनुशासन के नाम पर या अधिक-से-अधिक काम लेने की व्यावसायिक प्रवृत्ति से कड़ाई और आतंक का जो वातावरण पैदा हो गया है उसमें किसी का भी स्वतःस्फूर्त उत्साह क्षीण हो जा सकता है"।

संघर्ष की स्थितियाँ

अखबारों का वातावरण स्वस्थ न रहने का एक प्रमुख कारण [illegible]र्थिक है। प्रथमतः या सामान्यतः वित्त पर ही ध्यान रखने वाले संचालकों को पत्रका[illegible] के लिए उपयुक्त आन्तरिक संतोष और शांति के वातावरण की चिन्ता नह[illegible] रहती। बृहत्तर व्यावसायिक हित में ही इस चिन्ता की आवश्यकता महसूस कराने वाली कोई शक्ति नहीं दिखलायी देती। आमदनी कम होने पर ही नहीं काफी अच्छी आमदनी होने पर भी पत्र की उन्नति पर कम खर्च करने और अपने लिए या अपने खास-खास लोगों के लिए ही अधिक-से-अधिक बचाने या खर्च करने की प्रवृत्ति का परिणाम यह होता है कि कम-से-कम वेतन पर पत्रकारों की नियुक्ति की जाती है और अन्त में वेतन की कमी के कारण पत्रकारों में असन्तोष फैलने लगता है। असन्तोष की यह स्थिति ट्रेडयूनियनवाद, आन्दोलन और संघर्ष को जन्म देती है, फिर दोनों ओर से दाँव-पेंच, जोड़-तोड़, आक्रमण, प्रत्याक्रमण शुरू हो जाते हैं और चलते रहते हैं।

इधर अधिक-से-अधिक लाभ अपने ही पास रखना संचालक अपना धर्म समझता है और उधर आर्थिक कष्ट सह कर भी पत्रकारिता की सेवा करना

पत्रकार के लिए असम्भव हो जाता है। संघर्षों की जो स्थिति बार-बार आती रहती है उसमें विजयी चाहे कोई पक्ष रहे, एक स्थायी कटुता तो आ ही जाती है। संघर्षों के दौरान मालिकों की ओर से पत्रकारों के बीच कुछ तटस्थ, कुछ उदासीन और कुछ विरोधी तत्वों की खोज होने लगती है। इस खोज में कम-से-कम दस-बीस प्रतिशत लोग पूरी तरह 'अपने' बना लिये जाते हैं। अनेक प्रयासों में कुछ को इतना उदासीन कर दिया जाता है कि वे पूर्णतः 'निष्पक्ष' या भीरु हो जाते हैं। इस स्थिति में जिन लोगों को 'अपना' बनाया जाता है उनमें योग्यता नहीं देखी जाती और किसी तरह उन्हें महत्वपूर्ण बना कर औरों पर लाद दिया जाता है। इस प्रकार अयोग्य लोगों की बन आती है। चूँकि ये लोग किसी समझदारी, न्याय-भावना या औचित्य के विचार से संचालक-मण्डल के अंग नहीं बने होते, बल्कि 'पटाये हुए' होते हैं, अतः ये अपने साथियों पर ही 'बासइज्म' करने लगते हैं और उन्हें अपना विरोधी बना लेते हैं या स्वयं उनके विरोधी बन जाते हैं। अन्त में उदासीन और तटस्थ लोगों को भी विरोधी बना दिया जाता है। जब स्थिति में फिर कुछ परिवर्तन आता है, उतार-चढ़ाव होता है, और व्यक्तिगत कारणों से पहले 'पटाया हुआ' व्यक्ति दायें-बायें होने लगता है तो फिर कुछ दूसरे लोगों को पटाना शुरू हो जाता है। ये दूसरे लोग अब 'अपदस्थ' लोगों पर रोब जमाते दिखलायी देते हैं और यदि बदला लेने के कुछ कारण रहे तो बदला लेने की कोशिश में लग जाते हैं। इस प्रकार पत्रकारोचित 'स्वस्थ बौद्धिक वातावरण' के स्थान पर कलह का —स्थायी कलह का—एक-दूसरे से आतंकित रहने का वातावरण तैयार हो जाता है।

उपर्युक्त कलहपूर्ण वातावरण के बावजूद, अधिकांश पत्रकारों के मन में, अपने आर्थिक कष्टों से कोई त्राण न दिखलायी देने के कारण एकता और सगठन की दब गयी भावना एक बार फिर जोर मारने लगती है और फिर एक दूसरा दौर—ट्रेड यूनियन आन्दोलन का—शुरू हो जाता है और संचालकों का कलह बनाये रखने का प्रयास विफल हो जाता है। ट्रेड यूनियन आन्दोलन शुरू होने पर आर्थिक दृष्टि से लाभालाभ चाहे जो हो, पत्रकार की पत्रकारोचित रचनात्मक शक्ति कम-से-कम उतने दिनों के लिए तो लुप्त हो जाती है जितने दिन आन्दोलन चलता रहता है। पत्रकारों में जो लोग लिखने-पढ़ने वाले होते हैं उनका भी लिखना-पढ़ना बन्द हो जाता है, क्योंकि वे भी संघर्ष में सक्रिय

हो जाने के लिए बाध्य हो जाते हैं। संघर्ष की तैयारी के सिलसिले में कुछ बड़े-बड़े लोगों से वक्तव्य प्राप्त करने, चन्दा इकट्ठा करने, मिलने-जुलने, श्रम-कार्यालय तक दौड़ने, आपस में एक दूसरे को समझाने-बुझाने, बैठकें तथा सभाएँ आयोजित करने, अवसर का लाभ उठा कर अपना-अपना प्रभाव जमाने के लिए उत्सुक विभिन्न ट्रेड यूनियनों का सहयोग प्राप्त करते हुए उनकी तिकड़मों से संघर्ष को बचाने, नेतागिरी के लिए लालायित हो उठने वाले कतिपय प्रतिष्ठित व्यक्तियों से निपटने, वकीलों के यहाँ दौड़ने............... आदि में ही महीनों का समय नष्ट हो जाता है। यह एक नया वातावरण होता है।

यदि संघर्ष में सफलता मिल गयी, तो उसमें विशेष सक्रियता से भाग लेने वालों को ट्रेड यूनियन का और नेतागिरी का ऐसा चसका लग जाता है कि वे यह भूल जाते हैं कि पत्रकार के रूप में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए, पढ़ने-लिखने के लिए, भी समय निकालना आवश्यक है। जिनकी पढ़ने-लिखने की कोई रुचि ही नहीं, उनकी तो कोई बात ही नहीं, दुःख तो उन लोगों के लिए होता है जिनमें पढ़ने-लिखने की रुचि होती तो है, किन्तु इस नये चसके के कारण नष्ट या नष्टप्राय हो जाती है। चूँकि संघर्ष के समय ये लोग प्रकाश मे आ जाते हैं, उनकी एक 'इमेज' बन जाती है और बाहरी अन्य लोगों के बीच कुछ प्रतिष्ठा हो जाती है, अतः एक लोभ उन्हें हो जाता है। अपनी 'लोकप्रियता' से उत्साहित होकर वे अपना कार्यक्षेत्र बढ़ाने में—दूसरे यूनियनों के नेता बनने और कुछ नये यूनियन बनाने में—लग जाते हैं। ये लोग सोचने लगते हैं कि वर्तमान लोकतंत्र में जब बहुत से 'अँगूठा-छाप' लोग सभासद, एम० एल० ए० और एम० पी० तक हो जाते हैं, तो अब ट्रेड-यूनियन की इसी सीढ़ी से हम भी ऊपर क्यों न पहुचें। अपनी यह महत्त्वाकांक्षा पूरी करने में सभी लोग तो सफल नहीं हो पाते, किन्तु 'महत्त्वाकांक्षा के मैदान' में तो बने रहना चाहते ही हैं। यह एक ऐसी स्थिति होती है, जिसमें पढ़ने-लिखने की रुचि वाले को भी 'अपने लेखक' या 'अपने पत्रकार' से प्रेम नहीं रह जाता और वह अब 'अपने नेतृत्व' से ही प्रेम करने लगता है! हमें तो उन पर दया आती है, जो नेतागिरी की होड़ मे कुछ दूर तक चलने के बाद हार मान कर लौट आते हैं और उधर अपने पत्रकार-व्यक्तित्व या लेखक-व्यक्तित्व को पहले ही दफना चुके होते हैं। यदि वे अपने लेखक-व्यक्तित्व या पत्रकार-व्यक्तित्व को नेता-व्यक्तित्व से बड़ा मानते

आते तो उनकी शायद यह दयनीय स्थिति न होती। यह सब कुछ होता है नये वातावरण का परिणाम।

पत्रकारिता में 'एक वातावरण की आवश्यकता' के प्रसंग में यहाँ ट्रेड यूनियनवाद की यह चर्चा मुख्यतः पत्रकार के पत्रकार-व्यक्तित्व या लेखक-व्यक्तित्व को ही दृष्टि में रख कर की गयी है। हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि हम पत्रकारों के श्रम-संगठन पर प्रहार करें, उसके लोकतन्त्रात्मक औचित्य से इनकार करें और यह विचार प्रतिपादित करें कि कितना ही आर्थिक कष्ट क्यों न हो, उन्हें संघर्ष नहीं करना चाहिए। हमने तो पिछले कुछ वर्षों के अनुभव के आधार पर जो यह देखा है कि ट्रेडयूनियनवाद के कारण जो एक स्थिति पैदा हो जाती है उसमें पत्रकारिता में अधिकांश पत्रकारों की दिलचस्पी कम-से-कम कुछ दिनों के लिए कम हो जाती है और कुछ थोड़े से पढ़ने-लिखने वाले पत्रकार भी अपने लेखन-धर्म को तिलांजलि दे देते हैं। इन पंक्तियों के लेखक के दो प्रियजनों ने ऐसी ही स्थिति में अपने उस लेखक-व्यक्तित्व को खो दिया, जो उनके राजनीतिक व्यक्तित्व से कहीं ऊँचा होता। उन्होंने यह नहीं समझा कि उनका राजनीतिक व्यक्तित्व तो शायद उनके जीवन में ही विलुप्त हो जाय, किन्तु अपनी लेखक-प्रतिभा के आधारपर बना उनका लेखक-व्यक्तित्व उनके जीवन के बाद भी उनको चमत्कृत करने वाला हो सकता था! किन्तु सामने दिखलायी देने वाली उपलब्धि को छोड़ कर इतने दूर तक कौन देखता है! इन दो प्रियजनों में एक आज के तथाकथित विशिष्ट उपन्यासकारों से अधिक विशिष्ट हो सकते थे, दूसरे में हास्य और व्यंग्य की प्रतिभा का एक ऐसा अंकुर दिखलायी दिया था कि वह हिन्दी के हास्य-व्यंग्य पक्ष के अभाव की पूर्ति मे एक हद तक योगदान करने वाले सिद्ध हो सकते थे। किन्तु इस संघर्ष के वातावरण में उनके लेखक-व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सका और उनकी रही-सही लेखन-रुचि या इच्छा भी खत्म हो गयी। अस्तु लेखन-धर्म की दृष्टि से श्रम-आन्दोलनवाद और उससे उत्पन्न इस वातावरण की ओर भी किसी पत्रकार का ध्यान जाना ही चाहिए —यदि वह अपने लेखन-धर्म के प्रति भी कुछ सजग है तो।

इसी प्रसंग में पत्रकार-संगठनों के संचालकों से क्षमा माँगते हुए, पत्रकार-संगठनों के बारे में भी दो शब्द कह देना शायद पत्रकारों के लिए हितकर हो। हमने यह पाया है कि चूँकि पदलोलुपता, प्रचारप्रियता तथा अर्थलोलुपता का

सर्वत्र प्राधान्य हो गया है, अतः पत्रकार-संगठन भी इनसे मुक्त नहीं है। ये ऐसे रोग हैं, जो एकता के बजाय आपस में कटुतापूर्ण प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष और द्वेष को बढ़ावा देने लगते हैं। कुछ लोगों के लिए तो पत्रकार-संगठन अपना भविष्य सुधारने-सँवारने और उन्नत करने का एक मंच बन जाता है। ऐसे लोगों के लिए आम पत्रकारों की सफलता गौण हो जाती है और नेताओं से सम्पर्क स्थापित करके लाभ उठाने और आगे बढ़ने का विचार प्रधान हो जाता है। इन सब बातों के अलावा जो एक और प्रमुख व्याधि लग जाती है वह यह कि अन्य ट्रेड-यूनियन संगठनों की तरह पत्रकार-संगठन भी विभिन्न दलों के प्रभाव-प्रतिद्वन्द्विता के अखाड़े बन जाते हैं और विभिन्न दलों से सम्बद्ध पत्रकार प्रथमतः अपने को अपने दल के प्रतिनिधि मान कर, पत्रकार मान कर नहीं, काम करते हैं। चूँकि कुछ होशियार राजनीतिक दल अपनी 'प्रचार-दूरदर्शिता' और कुछ ऐसे दाँव-पेच में लगे रहते हैं कि प्रबन्ध-मण्डल उनसे नाराज न हो, अतः उनसे सम्बद्ध पत्रकार की भी यही नीति हो जाती है, जो अप्रकट रहती है। यह स्थिति जब छिपाये नहीं छिपती, तब सबके हितार्थ निष्पक्ष भाव से संघर्ष में खिंचे लोगों में भी निराशा और उदासीनता आने लगती है। इन सब का परिणाम अन्त में यही होता है कि पत्रकार घूम-फिर कर फिर कार्यालय के कलहपूर्ण वातावरण में आ जाते हैं।

विकृत वातावरण की चर्चा में, सम्पादकीय विभाग के उन कुछ खास स्थानों के बारे में भी एक उल्लेख आवश्यक है जिन्हें व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन का आधार-सा बना दिया गया है। वे खास स्थान ये हैं :—१. स्थानीय समाचारों के सम्पादन का, २. जिलों के समाचारों के सम्पादन का, ३. सप्ताहिक परिशिष्ट के सम्पादन का। भीतरी व्यक्तियों के कारण ही नहीं, बाहरी व्यक्तियों के कारण भी ये तीनों स्थान कलह के जनक बन जाते हैं। चूँकि ये तीनों स्थान सम्पर्क बनाने और बढ़ाने के अच्छे साधन-से दिखलायी देते हैं, अतः बहुतों की लोलुप दृष्टि इन पर लगी रहती है। जिस तरह सत्ता का दुरुपयोग करके शासक-मण्डल के जाने कितने लोग अपनी सामाजिक और आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने में लग जाते हैं उसी तरह सम्पादक-मण्डल के कुछ 'होशियार' लोग सम्पादकीय विभाग के इन तीनों स्थानों का दुरुपयोग करके अपनी स्थिति बनाने में लग जाते हैं। इन तीनों स्थानों पर आसीन होने के लिए व्यवस्थापक, प्रबन्ध-सम्पादक और सम्पादक में से तीनों का या किसी का

कृपा-पात्र बनना आवश्यक हो जाता है। कृपापात्र बन कर ही कोई इन स्थानों का लाभ उठा सकता है। चूँकि इन तीनों स्थानों में उच्चतर अधिकारियों (खास करके व्यवस्थापक, प्रबन्ध-सम्पादक और सम्पादक) की दिलचस्पी पहले से ही रहती है, अतः वे इन पर अपने मनोनुकूल, दाब के, व्यक्तियों को ही रखना चाहते हैं। इस प्रकार अपने मनोनुकूल व्यक्तियों को रखने में योग्यता-अयोग्यता का विचार गौण हो जाता है और योग्य-अयोग्य का परोक्ष द्वंद्व कायम हो जाता है।

जब किसी व्यवस्थापक, प्रबन्ध-सम्पादक या सम्पादक जैसे उच्चाधिकारियों में से प्रत्येक या किसी को अपने ऊँचे पद के उपभोग की सहज-प्राप्त स्थिति से ही सन्तोष न हो और इसलिए वह इन अन्य तीन स्थानों का भी व्यक्तिगत उपयोग करने में विशेष 'रुचि' हो तो यह आशा कैसे की जा सकती है कि वह और उनके कृपापात्र मिल कर पत्र को कुरूप नहीं बनायेंगे और सम्पूर्ण पत्र के हित में, समाचारों और रचनाओं के मामले में, उत्तमता, अपेक्षित सन्तुलन और निष्पक्षता पर ध्यान दे सकेंगे। ऐसे लोग अन्ततः बाहर भी बहुतों को असन्तुष्ट बना देते हैं और उन्हें तरह-तरह से पत्र पर उँगली उठाने और मजाक उड़ाने का अवसर देते हैं। अनेक कार्यपालनाधिकारी, ऐसे ही लोगों का गुट बना कर और मालिकमण्डल तक को 'पटा लेने में' अपनी कुशलता का परिचय दे कर, पत्र को अपने प्रचार और दूसरे स्वार्थों का ऐसा साधन बना लेते हैं कि आम पाठकों तक को यह बात कुछ अजीब, कुछ अनुचित और कुछ कष्टाने वाली जरूर लगती है।

यहाँ जिन तीन स्थानों का उल्लेख किया गया है उन पर एक बार बैठ जाने वाले भी चाहते हैं कि बराबर इन पर बने रहें और यदि बराबर बने रहना सम्भव न हो तो कम-से-कम अपेक्षाकृत कुछ लम्बी अवधि तक तो इन पर डटे ही रहें। यदि नये व्यवस्थापक या सम्पादक भी इन्हें अपने अनुकूल बना सकें और इन्होंने भी अपनी 'व्यावहारिक बुद्धि' का परिचय देते हुए नये 'बास' को मोह लिया तो उनकी स्थिति निरापद बनी रहेगी। किन्तु, जैसाकि प्रायः होता है, यदि मौके की ताक में बैठे प्रतिद्वन्द्वियों ने नये 'बास' को पटाने में अपनी कोई और अधिक कुशलता दिखला कर सफलता प्राप्त कर ली और 'बास' ने भी इन तीनों स्थानों में से दो-एक पर दूसरों को रखना ही ठीक समझा तो पुरानों को खिसकना ही पड़ता है। मौके की ताक में बैठे ये

प्रतिद्वन्द्वी अपने प्रयासों में पहले से ही लगे रहते हैं। स्थिति जैसी होती आयी है, उसमें यह स्वाभाविक ही है कि यदि कोई नया 'उच्चाधिकारी' आयेगा तो वह कम-से-कम कोशिश तो करेगा ही कि इन तीन स्थानों पर अपने अनुकूल हो सकने वाले किन्हीं दूसरे लोगों को रखे या पहले से ही आसीन लोगों को अपना विश्वासपात्र बना ले।

इस प्रकार एक के बाद दूसरे चक्र या कुचक्र के परिणामस्वरूप एक समाचारपत्र में आठ वर्ष की अवधि में स्थानीय समाचारों के सम्पादन-कार्य पर पाँच, जिलों के समाचारों के कार्य पर चार व्यक्ति आये और गये। यदि किसी पत्र में कई व्यवस्थापकों या प्रधान-सम्पादकों के बदले जाने पर भी तीनों स्थानों या एक-दो स्थानों के सह-सम्पादक नहीं बदले गये तो इसे या तो संयोग माना जायगा अथवा यह कहा जायगा कि वे अपनी योग्यता या हर नये व्यवस्थापक और सम्पादक में गुणग्राहिता होने के कारण बने रहे या यह माना जायगा कि इन सबने अपनी विशेष 'व्यवहारकुशलता' (चाटुकारिता आदि) से नये 'बास' को पटा लिया या फिर नये बासने से उन्हें अपने अनुकूल बना लिया। व्यवस्थापक और सम्पादक के बदले जाने पर उपर्युक्त तीन स्थानों के सह-सम्पादकों के भी बदले जाने के क्रम या चक्र के परिणामस्वरूप कम-से-कम ५-६ व्यक्तियों के दिलों में तो एक गाँठ पैदा हो ही जाती है। इन ५-६ व्यक्तियों के अपने-अपने दो-एक हमदर्दों को भी ले लिया जाय तो एक तरह से सम्पूर्ण वातावरण ही कटुतापूर्ण हो जाता है।

इतना ही नहीं, कुछ लोगों को अपने अनुकूल या अपना विश्वासपात्र बनाने और कुछ लोगों को स्थानच्युत करने के इस क्रम अथवा चक्र में स्थानच्युत लोग संघर्षवादी और श्रम-आन्दोलनवादी हो जाते हैं—भले ही पहले संघर्ष-विरोधी, श्रम-आन्दोलन-विमुख और मालिकपरस्त रहे हों। इस प्रकार असन्तुष्ट हुए लोग, सम्पूर्ण कर्मचारियों में कोई विशेष असन्तोष को और तज्जन्य न्यायोचित संघर्ष की स्थिति न होते हुए भी, बात-बात में लोगों को भड़काने की कोशिश करने लगते है, जिससे सम्पूर्ण वातावरण विषाक्त हो ही जाता है। इस विषाक्त वातावरण में, व्यवस्थापक-मण्डल को सामूहिक संघर्ष का भय हो जाने पर, असंगठन की स्थिति में अनेक कर्मचारी व्यवस्थापक-मण्डल के कोपभाजन बन जाते हैं। किन्तु अन्त में स्थानच्युत सह-सम्पादकों की दिलचस्पी, सक्रियता तथा जोड़-तोड़ के कारण संघर्ष की वास्तविक स्थिति

को और बल मिल गया तो संघर्ष छिड़ ही जाता है। वास्तविक असंतोष के कारण संघर्ष की वास्तविक स्थिति होना तथा उस संघर्ष का निष्पक्ष एवं निःस्वार्थ भाव से समर्थन करना एक बात है, और हृदय से न्यायप्रिय न होते हुए भी सिर्फ व्यक्तिगत द्वेष या प्रतिशोध की भावना से संघर्ष को भड़काना दूसरी बात है। यहाँ स्वस्थ वातावरण के प्रसंग में, सामूहिक संघर्ष छिड़ जाने का प्रश्न उठाने का अभिप्राय यह नहीं है कि हम न्यायोचित मांगों को लेकर छिड़े संघर्ष को भी बुरा समझते है। हमारा अभिप्राय केवल इतना है कि वह वातावरण ग़लत है जिसमें केवल व्यक्तिगत कारणों से कुछ लोग सामूहिक संघर्ष का लाभ उठाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं और सम्पूर्ण स्थिति पर विचार किये बिना एक दिन सभी को संघर्ष में झोंक देते हैं और अन्त में यदि संघर्ष विफल हो जाने के कारण एक नया आतंकपूर्ण वातावरण बन गया तो 'आग लगा कर दूर खड़े होने वाले' सिद्ध हो जाते हैं। जो कुछ भी हो, स्थिति के यहाँ तक पहुंचने के लिए ये कुछ लोग ही नहीं, सम्पूर्ण 'व्यवस्था-दोष' जिम्मेदार है।

अन्य कर्मचारी

अखबार में अपेक्षित वातावरण में प्रसंग में गैर-पत्रकार कर्मचारियों और पत्रकार कर्मचारियों के सम्बन्ध का उल्लेख करना भी आवश्यक है। आदर्शवादी ढंग से, या विशुद्ध ट्रेड-यूनियनवाद की दृष्टि से, प्रायः यह कहा जाता है कि पत्रकार-कर्मचारियों तथा गैर-पत्रकार कर्मचारियों का सम्बन्ध मधुर होना चाहिए। हम यहाँ विशुद्ध व्यवहारवादी तथ्य को सामने रख कर विचार करेंगे। कुछ इने-गिने समाचारपत्र ही ऐसे होंगे जिनमें गैर-पत्रकार कर्मचारियों से पत्रकारों का सीधा सम्पर्क न होता हो। ठीक समय पर सारे महत्वपूर्ण समाचारों को प्रकाशित कर देने की जिम्मेदारी प्रथमतः पत्रकारो पर ही होती है। किन्तु यदि कम्पोजीटर, मोनो-आपरेटर या लाइनो-आपरेटर, कास्टिंग करने वाला कर्मचारी जरा भी ढिलाई कर दे या सम्पादकों की किसी भूल का फायदा उठाकर लापरवाही अथवा असहयोग कर दे तो अखबार बिगड़ जायगा। यदि कोई इनकी ऐसी ढिलाई को पकड़ना ही चाहे और पकड़ कर जवाब-तलब करना या कराना ही चाहे तो उसे बहुत कठिनाई होगी। इसी प्रकार मेकअपमैन की ढिलाई, अन्य-मनस्कता या असहयोग के कारण पृष्ठ तैयार करने में देर हो जा सकती है और

किसी जवाबतलबी से काम नही चल सकता। इसी प्रकार सम्पादकीय विभाग से सम्बद्ध चपरासी भी एक महत्वपूर्ण कर्मचारी होता है, क्योंकि उसे हर पांच-दस मिनट पर कम्पोजिग में मैटर पहुँचाना रहता है, उसे मैटर पहुँचाने मे उतना ही तत्पर रहना पड़ता है, उतनी ही शीघ्रता दिखलानी पड़ती है जितना सम्पादकमण्डल के सदस्यों को तत्पर रहना पड़ता है या शीघ्रता दिखलानी पड़ती है। ऐसे कर्मचारियों के प्रति हमेशा कड़ाई का नहीं, मृदुता का व्यवहार ही लाभप्रद होता है।

यहाँ, गैर-पत्रकार कर्मचारियों के असहयोग के परिणाम के एकाधिक उदाहरण दे देना काफी होगा। पृष्ठ तैयार करने के लिए आया सम्पादक चाहता है कि पृष्ठ जल्दी तैयार हो जाय। किन्तु, ऐसा कुशल मेकअपमैन भी, जो एक साथ करीब चार-पाच इच मैटर गैली से उठा कर पृष्ठवाली गैली में रख सकता हो, जिसका हाथ इतना सधा हो कि इतना अधिक मैटर उसके हाथ से कभी टूट कर छितराता न हो और इस प्रकार जो अधिक-से-अधिक पैतालिस मिनट में पूरा एक पृष्ठ तैयार कर देता हो, वह भी यदि किन्ही कारणों से सम्पादक के साथ सहयोग न करना चाहे उसमें झुंझलाहट आ जाय तो वह एक पृष्ठ तैयार करने में डेढ़ घण्टे लगा दे सकता है। वह एक साथ चार-पाच इच मैटर न उठाकर सिर्फ दो-दो इच मैटर उठायेगा और इस तरह उठायेगा जैसे बहुत सम्भाल-सम्भाल कर उठा रहा हो, मानो मैटर टूट जाने का उसे भय हो। यदि सम्पादक ने टोका कि 'इतना कम मैटर क्यों उठा रहे हो तो वह जवाब यही देगा कि 'मैटर ठीक से सेट नहीं है, इसलिए एक साथ ज्यादा उठाने से उसके टूट कर गिर जाने का डर है'। अब तत्काल यह पता लगाने का समय कहाँ कि मैटर ठीक से सेट क्यों नहीं हुआ। और फिर, यदि मेक-अपमैन से हुज्जत की जाय तो पृष्ठ तैयार करने में कुछ और देर हो जायगी। ज्यादा मैटर उठाने के लिए बाध्य किये जाने पर हो सकता है कि वह अपनी उंगली जरा ढीली कर दे और मैटर टूट जाय! मैटर टूट जाने के बाद झख मार कर और रुकना पड़ेगा। इस प्रकार देर में देर हो जायगी! जवाब-तलब जब होगा तब होगा, उस समय तो अखबार की एक प्रमुख आवश्यकता (समय पर पृष्ठ तैयार हो जाने की आवश्यकता) पर प्रहार हो ही जाता है और एक ऐसी क्षति हो जाती है जिसकी पूर्ति जवाबतलब करके, उक्त मेक-अपमैन के विरुद्ध कोई कार्रवाई कर देने से नहीं होगी। अतः मेक-अप के समय सम्पादक और मेक-

अपमैन का सम्बन्ध बहुत सौहार्दपूर्ण, मित्र का-सा होना चाहिए; तभी सम्पादक को अपेक्षित सहयोग मिल सकेगा। मेकअप-मैन के साथ कड़ाई के साथ पेश आने वाला सम्पादक पत्रकारिता में एक अयोग्यता का ही परिचय देने वाला सिद्ध होगा। यदि कोई पत्रकार, अपने अलग अनुभव के आधार पर, ऐसे सहयोग के विचार से असहमत हो तो वह भी, जरा गहराई से विचार करने पर, इसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए बाध्य होगा कि किसी स्थल पर कड़ाई अयोग्यता होती है।

यदि मेकअपमैन सम्पादक के साथ असहयोग करना चाहे तो और भी कई तरीकों से कर सकता है, सम्पादक की जरा-सी चूक या असावधानी का लाभ उठा सकता है। जैसे—प्रूफ देख-देख कर गैलियों को क्रम से निकाल कर उसके मैटर को पृष्ठ में रखने में सावधान रहने की जितनी जिम्मेदारी उसकी होती है उतनी ही सम्पादक की भी। सम्पादक को भी यह देखते रहना पड़ता है कि गैलियाँ क्रम से आ रही हैं कि नहीं। यदि सम्पादक ने किसी पूरे लेख का प्रूफ मेकअपमैन के सामने रख कर अकेले उसी के ऊपर क्रम मिलाने का काम सौंप दिया तो वह सम्पादक से असन्तुष्ट होने या चिढ़ा हुआ होने पर शरारत कर सकता है या 'दूसरे का अपशकुन मनाने के लिए अपनी नाक कटा सकता है। वह पहली गैली का मैटर रखने के बाद दूसरे गैली का मैटर न रख कर तीसरी और फिर दूसरी का रख देगा। इस प्रकार मैटर आगे-पीछे रख जाने से सारी रचना भ्रष्ट हो जायगी। जब मामला आगे बढ़ेगा तो सम्पादक अपने को निर्दोष सिद्ध नहीं कर सकेगा। अस्तु, इस दूसरे उदाहरण से भी यही सबक मिलता है कि सम्पादकों और गैर-सम्पादक कर्मचारियों का मित्रतापूर्ण सहयोग अखबार के लिए नितान्त आवश्यक है।

जिस तरह सम्पादकों के मामले में हमेशा 'कड़ाई' या 'अनुशासन की कार्रवाई' का परिणाम अच्छा नहीं निकलता उसी प्रकार अन्य कर्मचारियों के मामले में भी हमेशा कड़ाई या अनुशासन की ही बात सोचते रहने से परिणाम अच्छा नहीं निकलता। हम मेकअपमैन को ही लेते हैं। जिस मेकअपमैन का हाथ इतना सधा हो कि वह एक साथ चार-चार इंच मैटर उठा कर पेज में बड़ी शीघ्रता से रखता हो, उसके विरुद्ध कड़ाई का रुख अपनाने से तो क्षति ही होगी, क्योंकि उसमें दो मेकअपमैनों की क्षमता होती है। उसके प्रति तो मृदु व्यवहार ही लाभकर होगा (यदि व्यावसायिक दृष्टि से ही देखा जाय)। जैसा

के ऊपर भी कहा गया है, उसे कम-कम मैटर के स्थान पर अधिक मैटर उठा कर रखने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। यदि क्रुद्ध हो कर अन्त में उसे निकाल ही दिया गया तो तुरन्त ही वैसे सधे हाथ वाला मेकअपमैन कहाँ से मिल जायगा और यदि मिल भी गया तो उतने ही वेतन पर नहीं मिलेगा। इसी तरह और भी अनेक दृष्टियों से विचार करने पर चपरासी से ले कर सम्पादक तक सहयोग, सौहार्द, प्रेम और सहानुभूति की आवश्यकता महसूस होगी। अन्य कार्यालयों में सहयोग का वातावरण न होने पर भी काम चलता रहता है, चलता रह सकता है या आज का काम कल पर टाला जा सकता है, किन्तु अखबार में तो प्रत्येक क्षण सहयोग का होना जरूरी है, क्योंकि वहाँ तो सुबह का काम दोपहर और दोपहर का काम शाम तक नहीं टाला जा सकता। १२ बज कर ५ मिनट पर आया अत्यन्त महत्वपूर्ण समाचार १२ बज कर २० मिनट तक तैयार हो जाना चाहिए। सचमुच अखबार का प्रत्येक क्षण सहयोग का होता है, होना चाहिए।

सुसहयोग के लिए और सुसहयोग से अच्छा अखबार निकालते रहने के लिए इन गैर-पत्रकार कर्मचारियों को आर्थिक दृष्टि से भी संतुष्ट रखना परमावश्यक होता है। उनकी न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति के लिए जितना वेतन मिलना चाहिए उतना भी यदि नहीं मिलता तो उनका असन्तोष एक खुले संघर्ष के रूप में भड़क उठना अनिवार्य है। उनके इस संघर्ष के भड़क उठने की सम्भावनाएँ देख कर या संघर्ष छिड़ गया देख कर जितनी शक्ति और धन उसे (संघर्ष को) व्यर्थ करने पर लगता है उतनी ही शक्ति और धन यदि उनका असन्तोष दूर करने में लगा दिया जाय तो अखबार अच्छा निकलता रह सकता है। जो धन संघर्षों का सामना करने के लिए नियुक्त कई 'विशेष व्यक्तियों' पर खर्च किया जाता है, मुकदमा लड़ने के लिए वकीलों पर लगाया जाता है वह यदि बुरी तरह असन्तुष्ट रखे गये कर्मचारियों पर खर्च किया जाय तो बहुत हद तक असन्तोष दूर हो जा सकता है। इसी प्रकार जो समय प्रतिदिन इसी विचार में लगता है कि "किसे तोड़ें, किसे फोड़ें, किसे दबायें, किसे उठायें, किसे पटायें, कैसे गुप्तचरी करायें, कैसे काम अधिक लादें, और जो कुछ लाभ और सुविधा मिलती आ रही है उसमें कमी कैसे करें......" उसका आधा भी यदि यह विचार करने में लगाया जाय कि 'जो कुछ साधन प्राप्त हैं उससे तथा ए

औसत अच्छे व्यवहार से इन कर्मचारियों को सन्तुष्ट कैसे रखा जाय' तो पत्र का कितना सुधार हो।

असन्तुष्ट गैर-पत्रकार कर्मचारियों के संघर्ष को टालना या रोकना उतना आसान नहीं होता जितना पत्रकारों के संघर्ष को टालना या रोकना, क्योंकि पत्रकार संख्या में गैर-पत्रकारों से बहुत कम होते हैं। उनके संगठन और उनकी एकता को उतनी आसानी से छिन्न-भिन्न नहीं किया जा सकता जितनी आसानी से पत्रकारों के संगठन और एकता को। अनेक पत्रों का यह हाल हो गया है कि उनमें साल में एक बार संघर्ष जरूर छिड़ जाता है या संघर्ष की नौबत आ जाती है। सारा आतंक, सारा जोड़-तोड़ और तंग या परेशान करने की सारी नीति विफल हो जाती है। ऐसी हालत होने पर व्यवस्थापक-मण्डल यह प्रचारित करने की कोशिश करता है कि इन श्रमिकों की तो यों ही संघर्ष करने की एक आदत पड़ गयी है; किन्तु वास्तविकता कुछ और ही होती है। वस्तुत. यदि आदत की कोई बात होती है तो प्रबन्धमण्डल की ओर से ही होती है। वह बात-बात पर 'ताकत की आजमाइश' करता है, बात-बात पर जवाब-तलब करने को तैयार रहता है और बीच-बीच में किसी-न-किसी को मुअत्तल करता रहता है, किसी भूल के लिए (खास करके विज्ञापन में) पैसे काट लेता है, समय पर ओवरटाइम दे सकने की स्थिति में होते हुए भी केवल शरारतन ('देखें क्या कर लेते हैं' के विचार से) दो-चार दिन बाद देता है, यदि बोनस देने की अन्तिम तारीख नवम्बर के अन्त में पड़ती है तो वह इतनी उदारता नहीं दिखलाता कि एक महीना पहले ही दे दे ताकि कर्मचारी जाड़ा आने के पहले जाड़े के कुछ कपड़े बनवा लें...। यदि संस्था सचमुच आर्थिक संकट में हो और इस आर्थिक संकट के कारण अधिकारीगण भी अपने ऊपर खर्च कम कर रहे हों और कहीं कोई अपव्यय न हो रहा हो तो कर्मचारियों से एक हद तक तो सन्तोष की आशा की जा सकती है। किन्तु, जब कोई अधिकारी अपने प्रचार के लिए हफ्ते में तीन-तीन, चार-चार दिन चित्र छपवाता हो और इस कार्य (फोटो खिंचवाने तथा ब्लाक बनवाने) में महीने में पाँच-पाँच सौ रुपये संस्था के खर्च करवाता हो और जब सिर्फ सौ-सवा सौ कर्मचारियों की ऐसी संस्था में चार-चार पाँच-पाँच बड़े अधिकारियों को नियुक्त रखा गया हो और उन पर चार-पाँच हजार रुपये महीने वेतन के रूप में खर्च किये जाते हों, तब सिर्फ ७० ८० रुपये माह पाने वाले कर्मचारियों को उनके थोड़े से देय के सम्बन्ध में

हर बार अड़ंगा लगाने, टालमटोल करने या इनकार करने से असन्तोष और अशान्ति की स्थिति क्यों नहीं बनी रहेगी !

अस्तु, एक अच्छा अखबार निकालने के लिए हर हालत में, हर पहलू से, वातावरण की स्वस्थता के प्रश्न पर विचार करना होगा। अस्वस्थ वातावरण से साधन-सम्पन्न बड़े-बड़े अखबार भी अन्ततः कुरूप हो जाते हैं, यश खो देते हैं और स्वयं अभिशप्त-से होकर पत्रकारिता के लिए भी अभिशापस्वरूप हो जाते हैं। लोभ में, स्वार्थ में, थोड़ी कमी करके तथा एक हद तक स्वयं अभिभावकत्व दिखला कर प्रबन्धमण्डल संघर्ष बचा सकता है, बाहरी नेतृत्व के स्थान पर स्वयं नेतृत्व कर सकता है और अखबार का व्यक्तित्व ऊँचा उठाने के लिए वातावरण को बराबर स्वस्थ बनाये रख सकता है।

● ●

अपमान की स्थिति

पत्रकारिता के संकट और संत्रास के प्रसंग में ही आन्तरिक अपमान की स्थिति पर भी, जो देखते-देखते बद से बदतर हो गयी है, कुछ प्रकाश डाल देना आवश्यक होगा। सामान्यतः सर्वत्र पत्रकारों के आन्तरिक अपमान की स्थिति क्या है, इस पर एक निश्चित मत व्यक्त करने का दावा तो इन पंक्तियों का लेखक नहीं कर सकता, किन्तु जहाँ तक उसने देखा-सुना है और अनुभव किया है, वह कह सकता है कि अब पत्रकार के साथ भी करीब-करीब वैसा ही व्यवहार होने लगा है जैसा अन्य कर्मचारियों के साथ होता आया है। यों तो पहले भी किसी पत्र में काम करने वाला पत्रकार पत्र-स्वामी का एक कर्मचारी (नौकर) ही था; किन्तु मालिक का व्यवहार उसके प्रति आदर का होता था और वह उसे को एक विशिष्ट कर्मचारी तो मानता ही था। पत्रकारिता को एक विशिष्ट पेशा समझने वाले, उसे 'चतुर्थ सत्ता' मानने वाले पत्रकार ने शायद कभी यह सोचा भी नहीं था कि अगले कुछ ही दशकों में पत्रकार भी धीरे-धीरे एक दास हो जायगा। आज वह स्थिति आ गयी है, जब दो-चार प्रतिशत पत्रों तथा दस-बीस प्रतिशत पत्रकारों को छोड़ कर सभी पत्रों तथा पत्रकारों को दासता ने जकड़ लिया है। ऐसा तब हुआ है जब लोकतन्त्र विकासोन्मुख बताया जा रहा है।

यह अपमान की ही स्थिति तो है कि जिसका पेशा ही बहस का, विचार-विमर्श का, तर्क और विवेचन का हो वह जब अपनी बात कुछ विस्तार से अपने व्यवस्थापक या संचालक को समझाना चाहे तो उसका ऐसा चाहना 'मुँह लगना' कहा जाय और अनुशासनहीनता का प्रश्न बन जाय। जबकि आज भी अधिकांश बाहरी लोगों के मन में पत्रों,, पत्रकारों तथा पत्रकारिता के प्रति कुछ आदर का भाव शेष रह गया है- स्थिति यहाँ तक पहुँचती दिखायी

दे रही है कि आन्तरिक अपमान की बात बाहर वाले भी कुछ-कुछ जानने लगे है। व्यवस्थापकों या संचालकों के लिए मानो यह कोई चिन्ता का विषय नहीं रहा कि पत्र की प्रतिष्ठा की ही दृष्टि से उसके सम्पादकों के अपमान की चर्चा बाहर नहीं होनी चाहिए। वस्तुतः आन्तरिक अपमान इतना बढ़ता जा रहा है कि उसकी जानकारी बाहर वालों को न होना असम्भव है। ऐसा लगता है कि अब ऐसे पत्र-संचालक और पत्र-व्यवस्थापक रहे ही नहीं, जो कम-से-कम इतना तो अनुभव करे कि पत्रकार से यदि कुछ पूछताछ करनी ही हो या जवाब-तलब करना ही हो तो उसका तरीका कुछ भिन्न होना चाहिए, उसे उसी डण्डे से नही हाँकना चाहिए जिससे अन्य कर्मचारी हाँके जाते हैं और स्थिति यहाँ तक तो नहीं हो पहुँचा देनी चाहिए कि बाहर वाले अन्तिम रूप मे मान लें कि पत्रकार एक बहुत अपमानित प्राणी हो गया है।

भगवान ही जाने, अब फिर कभी ऐसी स्थिति आयेगी या नहीं कि कोई व्यवस्थापक या संचालक अपने कक्ष में किसी सम्पादक को बार-बार न बुलाये और बुला कर उसे डाँटने-फटकारने तक की हिम्मत न करे। कुछ ऐसे सम्पादक भी हैं, जिन पर अपने सहकर्मियो के ही बीच नहीं बाहरी लोगो के बीच भी डाँट पड़ते देखा गया है। स्वयं सम्पादक के लिए ही नही, सम्पूर्ण पत्रकारिता के लिए और पत्र के लिए कैसी घोर अपमान की स्थिति है यह ! पत्रकार और पत्रकारिता का ख्याल करके न सही, पत्र का ख्याल करके तो व्यवस्थापक को इस स्थिति को टालने की कोशिश करनी ही चाहिए ! किन्तु बेचारा कैसे करे ! उसका दृष्टिकोण तो पूर्णतः प्रशासक का हो गया है न। काश, एक बार भी उसकी समझ में यह बात आ जाती कि समाचारपत्र के प्रशासक को कहीं-न-कहीं पत्रकारिता का भी दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता होती है। बाहरी आदमी के सामने अपने सम्पादक को अपमानित करने का मतलब होता है 'अपने पत्र को अपमानित करना, उसे लोगो की नजरों में गिराना'। किसी बाहरी व्यक्ति के सामने सम्पादक के इस प्रकार अपमानित होने की बात कानो-कान 'किसी एक क्षेत्र' में फैल जाती है और फिर उससे आगे भी लोगों को मालूम हो जाती है। जिन लोगों को यह बात मालूम हो जाती है वे यही सोचते हैं कि जिस पत्र के सम्पादक की ऐसी दुर्दशा हो उसका स्तर ऊँचा होने की आशा भला क्या की जा सकती है ! इस प्रकार पत्र के बारे म लोगों का ऐसा सोचना पत्र पर एक व्यावसायिक आघात

भी मानना होगा। अतः संचालक और व्यवस्थापक को इस बात की कोशिश बराबर करते रहना चाहिए कि लोगों की दृष्टि में उसका सम्पादक एक सम्मानित व्यक्ति बना रहे। यदि किसी सम्पादक की अयोग्यता का स्पष्ट प्रदर्शन हो रहा हो और उससे वह अपने को स्वयं अपमानित कर रहा हो या वह घूम-घूम कर अपने को सस्ता बना रहा हो, तो संचालक और व्यवस्थापक को जरूर चाहिए कि उसे रोकें या उससे पिण्ड छुड़ा लें। किन्तु जब तक उसे सम्पादक की कुर्सी पर रखा जाय तब तक यथासम्भव उसे बाहरी लोगों के सामने या उसके सहकर्मियों के सामने अपमानित न किया जाय।

लगातार अपमान की स्थिति में भी अपने पद पर बने रहने की अनेक सम्पादकों की इच्छा का एकमात्र कारण यह है कि अन्दर चाहे जितना अपमान हो, बाहर तो कुछ लोग अपने प्रचार की इच्छा से उनका स्वागत-सत्कार करते रहते हैं। घर में अपमानित होने पर भी बाहर यदि 'कुछ पूछ' होती रहे, तो इसी लोभ में अपमान सहते रहना ऐसे सम्पादकों के लिए कोई बुरी बात नहीं रह गयी है। जिस सम्पादक को अपने ही मानापमान की चिन्ता न हो उससे अपने अन्य सहयोगियों के मानापमान के लिए चिन्तित रहने की आशा भला क्या की जा सकती है ! चूँकि उसका मन और उसकी बुद्धि एक खास साँचे में—नौकरशाही साँचे में—ढल गये होते हैं, अतः वह उसके बाहर सोच ही नहीं सकता। जिस तरह एक पुलिस-अधिकारी अपने उच्च पुलिस-अधिकारी की डाँट-फटकार सिर झुका कर सुन लेता है और फिर अपने से नीचे के अधिकारियों को उसी तरह डाँट-फटकार सुनाते रह कर अपने को सन्तुष्ट करता रहता है उसी तरह सम्पादक (कार्यपालनाधिकारी) भी अपने अपमानित जीवन का अभ्यस्त हो जाता है। ऐसे नौकरशाह-सम्पादकों की आत्मा चूँकि मृतप्राय रहती है अतः अपनी बुद्धि और अपने विवेक से काम ले कर पत्रकारिता के सामान्य आदर्श और मर्यादा का पालन करना भी वे भूल जाते हैं। बाहरी लोगों के सामने अपना 'अफसरी रोब' दिखलाने की संकुचित और पत्रकारिता-विरोधी प्रवृत्ति के कारण वे भी अपने सहकर्मियों को बाहरी लोगों के सामने ही अपमानित करने लगते हैं।

समाचार या रचना के प्रकाशन के सम्बन्ध में कोई शिकायत लेकर आये किसी संवाददाता या अन्य व्यक्ति के सामने ही सम्बन्धित सह-सम्पादक को बुला कर पूछ-ताछ करने में ऐसे सम्पादकों को -मर्यादा का कोई

उल्लंघन नहीं दिखलायी देता। वह बाहरी व्यक्ति या संवाददाता को स्वयं कुछ समझा-बुझा कर लौटा देने के बजाय, स्थिति समझाने के बजाय, सम्बन्धित सह-सम्पादक को बुला कर उसी के सामने इस तरह पूछ-ताछ करने लगता है मानो वह संवाददाता या उस बाहरी आदमी की ही ओर से जवाब-तलब कर रहा है। सम्पादक के इस आचरण का, उसकी इस मर्यादा-हीनता का, परिणाम यह होता है कि बाहरी व्यक्तियों का हौसला अनुचित रूप में बढ़ जाता है। ऐसे बाहरी व्यक्तियों को इस प्रकार खुश करके वह स्वयं तो, उनका 'सम्मान-पात्र' या 'कृपापात्र' बन जाता है, किन्तु अपने सहयोगियों को उनकी दृष्टि में गिरा देता है। इतना ही नहीं, धीरे-धीरे जब इन कुछ 'विशिष्ट' व्यक्तियों को यह मालूम हो जाता है कि सीधे सम्पादक के पास पहुँचने से, उससे शिकायत करने से, काम बन जायगा, तो यह एक परम्परा-सी बन जाती है और सह-सम्पादकगण महत्वहीन बना दिये जाते हैं। जबकि पत्रकारिता के अबतक के मान्य सिद्धान्तों और मर्यादाओं के अनुसार, सम्पादक को अपने पूरे सम्पादक-मण्डल के सम्मान और व्यक्तित्व का रक्षक कहा जाता रहा है, अब ऐसा सम्पादक सम्मान और व्यक्तित्व का भक्षक हो गया है।

एक बार नगर के एक प्रमुख आत्मप्रचारक महोदय अपने समाचार के प्रकाशन में कुछ कमी हो जाने पर सम्पादक के पास आये। अपने समाचार प्रकाशन के पक्ष में सम्पादक को 'समझा-बुझा' कर जब वह सम्पादक के कक्ष से निकल कर सह-सम्पादकों के कक्ष में आये तो स्थानीय समाचारों के सम्पादक की ओर कुछ इस तरह घूरते हुए बाहर निकल गये मानो संकेत ही संकेत में यह बता गये कि "मैं सम्पादक से मिल कर आ रहा हूँ, बच्चू, तुम्हें मेरा समाचार प्रकाशित करना होगा"।

बात यह थी कि पाँच-छः दिनों पहले जिस एक मसले पर उनका वक्तव्य प्रकाशित हो चुका था उसी पर वह दुबारा प्रकाशित कराना चाहते थे—कुछ और विस्तार के साथ। सम्बन्धित सह-सम्पादक ने जब दुबारा वक्तव्य प्रकाशित करने से इनकार कर दिया, तो उन्हें सीधे सम्पादक के पास आना पड़ा। सम्पादक ने उनके ही सामने स्थानीय समाचारों के सम्पादक को बुलवाया और उनके वक्तव्य को प्रकाशित कर देने का आदेश दे दिया—बिना कुछ पूछताछ किये इस पर स्थानीय समाचारों के सम्पादक को बुरा लगा

और बुरा लगना भी चाहिए था। उसने सम्पादक से बहस शुरू कर दी और सम्पादक को बताया कि इनका इसी विषय पर वक्तव्य अभी ५-६ दिनों पहले प्रकाशित हो चुका है और इसे दुबारा प्रकाशित करने में कोई तुक नहीं है। किन्तु, 'महान' सम्पादक महोदय ने अपनी 'सहज बुद्धि' और प्रकृति के अनुसार, आगन्तुक व्यक्ति की उपस्थिति का ध्यान रखने की आवश्यकता महसूस किये बिना कह दिया, "आप तो हर बात पर बहस करने लगते हैं"। उनका इतना कहना था कि आगन्तुक महोदय भी उत्साहित हो कर बीच में बोल उठे, "हाँ, आपको अपने अधिकारी की बात माननी चाहिए, बहस नहीं करनी चाहिए"। इस पर स्थानीय समाचारों के सम्पादक ने कहा, "आप यदि मौन ही रहते तो अच्छा था। आप तो मेरे अधिकारी नहीं ही हैं"।

. बात यहीं समाप्त नहीं हो गयी। जबकि आगन्तुक महोदय को इस प्रकार जवाब देना सर्वथा उचित था, सम्पादक महोदय ने उलटे स्थानीय समाचारों के सम्पादक को सीख दी कि आपको अपने यहाँ आये एक बाहरी व्यक्ति को इस प्रकार उत्तर नहीं देना चाहिए। "ठीक है, किन्तु बाहरी व्यक्ति को भी यह समझना चाहिए कि सम्पादक-मण्डल के सदस्यों और नौकरशाही ढर्रे में पले अन्य कर्मचारियों में अन्तर होता है। काश ! बाहरी व्यक्ति के सामने अपने सहयोगियों के सम्मान और मर्यादा का कुछ ख्याल आप भी कर लेते"। इतना कह कर सह-सम्पादक बाहर निकल आया— रोष और क्षोभ से भरा दिल और दिमाग़ लेकर। अब एक अमर्यादित एवं पत्रकारिता-मानभंजक सम्पादक तथा अपने स्वाभिमान और पत्रकार-व्यक्तित्व की रक्षा का प्रयत्न करने वाले सह-सम्पादक के बीच संघर्ष की एक शुरुआत हो गयी।

मामला जवाब-तलब तक पहुँचा। अपने जवाब में सह-सम्पादक ने पहले तो स्वयं सम्पादक पर मर्यादा भंग करने का आरोप लगाया, क्योंकि उन्होंने एक बाहरी व्यक्ति के सामने अपने सहयोगी की तर्कसंगत बात रखने के बजाय उसके (बाहरी व्यक्ति के) पक्ष की ही अनुचित वकालत की थी और उसके सामने अपने सहकर्मी का अपमान करके पत्र के सम्मान पर प्रहार किया था। सह-सम्पादक ने लिखा कि सम्पादक-मण्डल के सदस्य एक बुद्धिजीवी-जगत के सदस्य होते हैं, अतः उनके साथ 'शासक और शासित' का वह सम्बन्ध तो अवांछनीय है ही जो अन्य कार्यालयों में अधिकारी और अधीनस्थ के बीच होता है; साथ ही पत्र के व्यक्तित्व को लोगों के सामने ऊँचा रखने के लिए

भी यह आवश्यक है कि बाहर के लोग समझें कि इस पत्र के सभी सम्पादक सम्मानित और बौद्धिक प्राणी हैं,• लतखोर नहीं। अन्त में सह-सम्पादक ने जोरदार ढंग से यह सिद्ध किया कि एक बाहरी व्यक्ति के सामने मर्यादित ढंग से व्यवहार न करके सम्पादक ने पूर्व-परम्पराओं का, अपने पद का और साथ ही पत्र का अपमान किया है। चूँकि बातें जोरदार ढंग से रखी गयी थीं और एक वास्तविक बुद्धिवादी होने का परिचय देते हुए लिखी गयी थीं, अतः उच्चतर अधिकारियों को भी यह मानना पड़ा कि अनुशासन का कोई भयंकर प्रश्न नहीं है, बल्कि स्वयं सम्पादक ने पत्र की मर्यादा पर प्रहार किया है।

जो कुछ भी हो, उपर्युक्त घटना से सम्पादकों की एक अपमानजनक स्थिति का पता तो लग ही जाता है। आश्चर्यजनक और दुःखद रूप में यह बात सामने आती है कि जिस सम्पादक या प्रधान सम्पादक या प्रबन्ध-सम्पादक को अपने साथियों का सम्मान-रक्षक होना चाहिए वही अपमान की स्थिति पैदा करने में योगदान करता है। यदि अपने संकीर्ण (व्यावसायिक दृष्टि से भी संकीर्ण) दृष्टिकोण से पत्र-संचालक ऐसे सम्पादकों या प्रबन्ध-सम्पादकों को ही आश्रय देना उचित समझते हैं, तो वे अपने पत्र को सम्मानित नहीं बना सकते, उसका व्यक्तित्व ऊँचा नहीं कर सकते। ऐसे सम्पादकों या प्रबन्ध-सम्पादकों के कारण उत्पन्न हुई अपमान की स्थिति सम्पादक-मण्डल के उस बौद्धिक विकास के लिए घातक सिद्ध होती है जिसकी पत्र को अपेक्षा होती है। इस स्थिति में योग्य-से-योग्य व्यक्ति भी आत्मलाघव से पीड़ित होने लगते हैं।

अपने सहयोगी का और परोक्ष रूप में स्वयं अपना अपमान करने की एक और महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। नगर के एक नेता का समाचार प्रायः हफ्ते में एक बार (कभी-कभी दो बार) प्रकाशित हो जाता था। जब वह शहर-स्तर या जिला-स्तर के नेता से प्रान्तीय स्तर के नेता हो गये, यानी विधान-सभा-सदस्य बन गये, तब उन्होंने अपना महत्व और बढ़ा समझ कर अपने प्रचार में कुछ और तेजी चाही; किन्तु स्थानीय समाचार-सम्पादक के लिए यह किसी भी तरह सम्भव नहीं था कि वह एक ही व्यक्ति को प्रचार का उतना स्थान दे जितना वह व्यक्ति चाहे। अस्तु, इस नव-निर्वाचित विधान-सभा-सदस्य के कुछ समाचार प्रकाशित नहीं किये जा सके इस पर उन जन प्रतिनिधि महोदय ने साथ सम्पादक के पास

एक शिकायती पत्र भेजा, जिसमें स्थानीय समाचारों के सम्पादक के विरुद्ध कुछ अधिक अनर्गल बातें लिखी हुई थीं और नाराजगी प्रकट की गयी थी—कुछ उस तरह मानो स्थानीय समाचार-सम्पादक उनका निजी कर्मचारी हो।

कोई बाहरी व्यक्ति कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो, उसके ऐसा पत्र लिखने पर किसी सम्पादक को—अपने पत्र तथा अपने सहकर्मियों के सम्मान की चिन्ता रखने वाले सम्पादक को—प्रथमतः चाहिए तो यह कि धृष्टतापूर्ण पत्र का उत्तर ही न दे और यदि दे तो अपने सम्पादक-मण्डल की प्रतिष्ठा का ख्याल करके, पूरी स्थिति का पता लगा कर दे। किन्तु सम्पादक महोदय ने पत्र पाते ही क्षमायाचना करते हुए एक उत्तर भेज दिया। पत्र में उन्होंने यह भी लिखा था कि 'मैं स्थिति की जाँच करके उचित कार्रवाई करूंगा'। सम्पादक के उत्तर से कुछ ऐसा लग रहा था कि मानो विधान-सभा-सदस्य महोदय पत्र के मालिक हों और उसी हैसियत से उन्होंने उनसे हाँ जवाब-तलब किया हो और वह उनके एक विनम्र निजी कर्मचारी की तरह उत्तर दे रहे हों। कैसी अपमान-जनक स्थिति है यह। एक सम्पादक के कारण सारा सम्पादक-मण्डल अन्दर से अपमानित, बाहर से अपमानित !

यदि सम्पादक ने उत्तर देना आवश्यक समझा ही तो उसे चाहिए यह था कि वह प्रचारप्रिय नव-निर्वाचित विधान-सभा-सदस्य को ही आड़े हाथों लेता। किन्तु ऐसी अक्ल कहाँ ? दासता ने सारी अकल कुचल जो दी थी। अपने सह-सम्पादक से सारी स्थिति समझ कर सम्पादक अपने पत्र में यह लिख सकता था "आपकी शिकायत यदि अनुचित नहीं तो जरूरत से कुछ ज्यादा है, क्योंकि नगर के किसी और नेता के समाचारों की अपेक्षा आपके समाचार कहीं अधिक छपे हैं, छपते हैं—आपके समाचारों में और किसी अन्य व्यक्ति के समाचारों मे चार और एक का अनुपात है। और फिर आपको इस स्थिति का भी तो ख्याल रखना चाहिए कि इसी नगर में पाँच और विधान-सभा-सदस्य हैं, अतः यदि उनकी भी इसी तरह शिकायत होने लगे तो सब की शिकायतें दूर करने के लिए हम अपने पत्र में अधिक स्थान कैसे निकाल सकते हैं ? अन्य विधान-सभा-सदस्यों को यह शिकायत भी हो सकती है कि एक का तो इतना अधिक विज्ञापन किया जाता है और हमारा ख्याल बिलकुल नहीं रखा जाता।……"
अपने सहकर्मी के सम्मान का, उसकी सम्पादन-समस्या का, ख्याल करते हुए सम्पादक का कर्त्तव्य यह भी होना चाहिए था कि वह प्रकारान्तर से

विधान-सभा-सदस्य महोदय को यह चेतावनी भी दे देता कि भविष्य में वह सम्पादक-मण्डल के किसी सदस्य के विरुद्ध अनर्गल बातें न लिखें।

अपमान की स्थिति के ही सन्दर्भ में, अनावश्यक हस्तक्षेप का भी एक परिचय यहाँ दिया जा रहा है। यह अनावश्यक हस्तक्षेप जहाँ एक ओर सम्बन्धित सम्पादकों का अपमान था, वहीं पत्र को चौपट करने का कारण भी। यहाँ हमने 'हस्तक्षेप' शब्द के साथ 'अनावश्यक' रखा है। इसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि हस्तक्षेप आवश्यक भी हो सकता है। हाँ, व्यावहारिकता की दृष्टि से सम्पूर्ण परिस्थिति पर विचार करने के बाद यह मान लेना पड़ेगा कि व्यक्तिगत स्वामित्व और 'सेवकाई' का, जो सम्बन्ध है उसमें सम्पादक-मण्डल भी हस्तक्षेप से सर्वथा बच नहीं सकता। साधारणत: जिस बौद्धिक स्तर पर काम होता है या काम चलाया जाता है वह ऐसा नहीं है कि हस्तक्षेप को सर्वथा अनुचित घोषित कर दिया जाय। यदि सचमुच किसी या किन्हीं व्यक्तियों के कामों से स्थिति बहुत बिगड़ रही हो तो एक योग्य अधिकारी—जो केवल अपने अधिकार का रोब दिखाने के लिए नहीं, बल्कि संस्था के वास्तविक हित में हस्तक्षेप करना जरूरी समझता है—हस्तक्षेप कर सकता है और उसे करना भी चाहिए।

एक समाचार-प्रतिष्ठान में एक सज्जन, जो साहित्यकारों की द्वितीय श्रेणी में तो नहीं तृतीय श्रेणी में आ गये थे, प्रधान व्यवस्थापक के पद पर आ कर बैठ गये। किसी दैनिक पत्र के संचालन का कोई पूर्व-अनुभव तो उन्हें नहीं था, हाँ जाब-प्रेस की थोड़ी बहुत जानकारी अवश्य थी। पत्र-प्रबन्ध में अपनी अनभिज्ञता छिपाने के लिए उनको साहित्यकार का ऐसा आवरण मिल गया था जिसका उपयोग करके उन्होंने शुरू में कुछ रंग जमा लिया। चूँकि सम्पाक-मण्डल में कोई ऐसा सदस्य नहीं था, जिसने पत्रकार या साहित्यकार के रूप में किसी श्रेणी की ख्याति प्राप्त की हो, अत: उन्होंने सम्पादक-मण्डल पर छा जाने की कोशिश की। बावजूद इसके कि दैनिक पत्रकारिता के अनुभव कुछ मानों में बिलकुल भिन्न होते हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिए कुछ महीनों ही नहीं कुछ वर्षों तक समाचारपत्र में सह-सम्पादक के पद पर भी रहना जरूरी होता है, इन प्रधान व्यवस्थापक ने अपने को पत्रकार भी मान लिया। चूँकि समाचारपत्र का मुख्य कार्य सम्पादकीय विभाग से होता है, अत: सम्पादकीय विभाग पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखना उन्होंने प्रबन्ध की पहली आवश्यकता माना। एक व्यवस्थापक की हैसियत से सम्पादकीय विभाग के

कार्यों में हस्तक्षेप करना शायद अनुचित मानते भी रहे हों, किन्तु साहित्य-कार और पत्रकार होने के अपने दावे के बल पर सम्पादन-कार्य में दखल देना मानो उनका परमाधिकार हो गया। आम तौर पर व्यवस्थापक का प्रभुत्व अखबारों पर जैसा हो गया है वह तो था ही।

यों तो पूरे सम्पादक-मण्डल के कार्यों में उनका हस्तक्षेप हो गया था; किन्तु यहां पत्र के साहित्य-सम्पादक के ही कुछ अनुभव दिये जा रहे है। साहित्य-सम्पादक से पहला सम्पर्क होते ही प्रधान व्यवस्थापक ने यह आदेश दिया कि "जो-जो प्रकाशन-सामग्री आप दें उसे मुझे भी दिखा लिया करें।" इस पर साहित्य-सम्पादक का पहला विनम्र प्रश्न यह हुआ कि "क्या यह मेरे और साथ ही आपके लिए व्यावहारिक होगा?"। "हाँ, होगा" एक छोटा-सा उत्तर देकर वह चुप हो गये। फिर साहित्य सम्पादक के मुँह से सिर्फ एक शब्द 'किन्तु' निकलते ही प्रधान व्यवस्थापक महोदय उखड़ गये 'किन्तु-विन्तु कुछ नहीं। आदेश, आदेश है। मेरे पास ज्यादा बातें करने के लिए समय नहीं है।" चूंकि उस समय तक इन प्रधान व्यवस्थापक ने अपना रोब और आतंक जमाने में काफी सफलता प्राप्त कर ली थी और संचालकों की दृष्टि में अपनी 'कड़ाई की योग्यता' स्थापित कर ली थी, अतः बेचारा साहित्य-सम्पादक, चाहते हुए भी, उनसे और अधिक बहस करने की हिम्मत कैसे कर सकता था; अतः वह "अच्छी बात है' कह कर चला आया। उसका मन विद्रोह से भर गया था।

उस दिन से वह बराबर अपने को अपमानित अनुभव करने लगा। उसके मन में रह-रह कर एक साथ ये प्रश्न उठते रहे:—"क्या प्रकाशन-सामग्री के चयन की क्षमता मुझमें नहीं है? क्या प्रधान व्यवस्थापक को मेरी चयन-बुद्धि या चयन-कुशलता का विश्वास नहीं है? यदि मैं इतना योग्य भी नहीं था कि प्रकाशन-सामग्री का चयन कर सकूं, तो उसने साहित्य-विभाग मेरे हाथों में क्यों सौंपा? पत्रकारिता के बाईस-तेईस वर्षों के अनुभव के बाद क्या मुझे अब इस व्यक्ति से चयन-बुद्धि उधार लेनी होगी? क्या उधार ली हुई बुद्धि से ही सम्पादन-कार्य करना पड़ेगा और क्या मैं इसी तरह साहित्य-सम्पादक कहलाऊँगा? रचनाओं के चयन में क्या मुझसे नीति-विषयक कोई गलती होने का भय इस नये नीति-पालक को है? क्या दस वर्षों से इस पत्र में काम करते आने पर भी मुझे पत्र की नीति का ज्ञान नहीं हुआ है और क्या उसके पालन में कभी कोई गल्ती मुझसे हुई है? कहीं सम्पादक ने तो कान नहीं भरा है उलटी सीधी बता कर क्या

इस तरह का हस्तक्षेप मेरा अपमान नहीं है ? क्या इस अपमानजनक स्थिति में मेरा अधिक दिनों तक काम करना सम्भव होगा ? अपने बाल-बच्चों के भरण-पोषण की चिन्ता छोड़ कर, नौकरी जाने का खतरा मोल लेकर, क्या मुझे इस व्यक्ति से एक दिन झगड़ना ही होगा ?"

अपमान की कड़वी घूँट पीकर जब दूसरे दिन साहित्य-सम्पादक अपनी फाइल लेकर पहुँचे तो प्रधान व्यवस्थापक महोदय मानो किसी चपरासी से फरमाते है—"मैंने रोज-रोज फाइल लेकर आने को थोड़े ही कहा है। और फिर, जब मन आया आप आ गये, कोई समय होना चाहिए। मेरे पास और भी काम हैं। आपको यहाँ आने के पहले पुछवा लेना चाहिए था।" यह एक दूसरा अनुभव था—कटुतर। लेकिन अपनी उत्तेजना और क्रोध को दबाना ही था, क्योंकि आक्रमणात्मक रुख अपनाने के लिए साथ में कोई शक्ति नहीं थी। कुछ कहना और बताना आवश्यक समझते हुए भी साहित्य-सम्पादक एक शब्द कहे बिना वापस आ गये और फिर उन्होंने प्रधान व्यवस्थापक से लिख कर ही कुछ कहना ठीक समझा। उन्होंने लिखा, 'तो क्या मैं हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रहूँ ? प्रेस में कुछ मैटर आज देना ही है, क्योंकि फोरमैन ने माँग की है। मोनो आपरेटर इस समय खाली हैं, अतः वे कुछ मैटर तैयार कर लेंगे। एक साथ अधिक मैटर देने से पूरा तैयार होकर एक साथ समय पर नहीं निकलेगा। नीचे मशीनों की जो स्थिति है और जो व्यवस्था है उसमें साप्ताहिक का मैटर एक साथ नहीं दिया जाता, बल्कि थोड़ा-थोड़ा रोज देना पड़ता है। आशा है, आपको इस स्थिति की जानकारी होगी ही।" सब कुछ जानने का दावा करने वाले प्रधान व्यवस्थापक महोदय को इन शब्दों से शायद कुछ धक्का लगा, कुछ अनुभवहीनता का बोध हुआ और साथ ही कुछ होश आया। अब उन्होंने हुक्म दिया—"अच्छा, प्रेस में कुछ मैटर भेज दीजिए। कल प्रातःकाल ८ बजे फाइल लेकर आ जाइएगा।"

साहित्य-सम्पादक ने चाहा कि इस मामले को सम्पादक के सामने रखें। लेकिन सम्पादक महोदय तो पहले से ही प्रधान व्यवस्थापक के सामने आत्म-समर्पण किये बैठे थे और फिर साहित्य-सम्पादक से उनकी खटपट भी थी, अतः यों भी वह उनके रक्षक नहीं हो सकते थे। इस स्थिति में साहित्य-सम्पादक को अपने ही बल पर मोर्चा लेना था। किन्तु इस पुराने साहसी को परिस्थितियों और साथियों की कुत्सित मनोवृत्तियों ने तोड़ दिया था। अतः

खुद उसे भी एक तरह से आत्मसमर्पण के भाव से ही प्रधान व्यवस्थापक के साथ पेश आते रहना पड़ा। आज्ञानुसार दूसरे दिन प्रातः ८ बजे वह फाइल लेकर प्रधान व्यवस्थापक के बँगले पर पहुँचा। वहाँ एक बाहरी सज्जन भी बैठे हुए थे, जिनके सामने ही उन्होंने साहित्य-सम्पादक पर अपना अफसरी रोब दिखलाना शुरू किया। साहित्य-सम्पादक का क्षोभ उभड़ने ही वाला था कि उसने उसे जबरदस्ती दबा लिया और कुछ इस ढंग से बात की और मुस्कराया कि आगन्तुक पर ऐसा कुछ असर न पड़े कि प्रधान व्यवस्थापक और उनके बीच 'स्वामी और सेवक' का-सा सम्बन्ध है। पता नहीं क्यों और कैसे, प्रधान व्यवस्थापक ने और अधिक रोब दिखलाने की कोई कोशिश फिर नहीं की। शायद, चेहरे पर कुछ आवेश की रेखाएँ लेकर साहित्य-सम्पादक के प्रवेश से कोई अप्रिय स्थिति पैदा होने की आशंका उन्हें हो गयी थी।

अन्त में, रोज-रोज मैटर दिखाने के अपने आदेश की अव्यावहारिकता प्रधान व्यवस्थापक की समझ में आ गयी—काम के करीब १०० घण्टे नष्ट करने के बाद। लेकिन इसमें कोई सबक लेकर कुछ सोचने और समझने का प्रयास उन्होंने नहीं किया और दूसरी अव्यावहारिकता का परिचय दिया। अब उसका अगला आदेश यह था कि सारी प्रकाशन-सामग्री एक साथ बुधवार को दिखलायी जाय। इस आदेश का मतलब यह हुआ कि एक बुधवार से दूसरे बुधवार के बीच जो प्रकाशन-सामग्री आये वह तीसरे बुधवार के बाद वाले रविवार के अंक में प्रकाशित हो। मान लीजिए एक बुधवार पहली तारीख को पड़ता है। अब दूसरी तारीख से आठ तारीख तक की सामग्री आठ की शाम को प्रधान व्यवस्थापक देखेंगे और उसे नौ तारीख गुरुवार से थोड़ा-थोड़ा करके प्रेस में दिया जायगा। नौ तारीख के बाद बारह तारीख को पड़ने वाले अंक में तो वह सामग्री जा ही नहीं सकती, क्योंकि बारह का अंक नौ और दस तारीख को (गुरुवार और शुक्रवार को) ही तैयार कर लेना पड़ेगा। सामान्यतः प्रेसों की जो स्थिति और व्यवस्था है उसमें ऐसा हो ही नहीं सकता कि पूरे अंक का मैटर एक साथ नौ तारीख को दिया जाय और वह दो ही दिनों में, सम्पादन, आपरेटिंग, कास्टिंग तथा प्रूफ-संशोधन के चार चरणों से गुजर कर तैयार हो जाय। इसका भयंकर परिणाम यह होगा कि प्रायः एक ही सूत्र से मिलने वाली सामग्रियाँ, जबकि अन्य पत्रों के बारह तारीख वाले रविवासरीय अंक में प्रकाशित हो चुकेंगी अपने यहाँ उन्नीस तारीख वाले अंक मे प्रकाशित

होंगी। क्या स्वस्थ अखबारी प्रतियोगिता, पाठकों के संतोष और व्यावसायिकता की दृष्टि से यह एक भयंकर बात नहीं होगी? हाँ, यदि किसी पत्र के अपने अलग लेखक हों, जो अन्य पत्रों में अपनी रचनाएँ न भेजते हों, तब तो एक तारीख को आयी सामग्री कितने ही दिनों बाद प्रकाशित हो, उससे कोई प्रतिकूल असर नहीं पड़ेगा।

इस प्रकार प्रधान व्यवस्थापक ने 'साप्ताहिक परिशिष्ट' को विकृत किया ही और पूरे पत्र को क्षति पहुँचायी ही, साथ ही साहित्य-सम्पादक को कठपुतली बना कर उसकी पेशकदमी का भी अन्त किया, उसकी स्वतन्त्रता छीन ली, उसकी मौलिकता और विशिष्टता से पत्र को लाभान्वित नहीं होने दिया और उसका अपमान किया। अपने को साहित्यकार और पत्रकार के रूप में एक बुद्धिजीवी मानने वाले इस बुद्धिहीन ने बुद्धिवाद का कैसा अपमान किया? एक 'बुद्धि-जीवी' प्राणी की हैसियत से उसे सोचना चाहिए था कि जिस पत्र का वह व्यवस्थापक बन बैठा है उसके सम्पादकगण कितने ही अयोग्य क्यों न हों, पत्र के सम्मान की दृष्टि से तो यह ख्याल रखना ही चाहिए कि बाहरी लोगों के सामने उनके सम्पादकों का अपमान न हो, उसे यह भी सोचना चाहिए था अनावश्यक या आवश्यकता से ज्यादा हस्तक्षेप एक तरह का अपमान ही नहीं है, बल्कि उससे किसी व्यक्ति की रही-सही पेशकदमी और सहज योग्यता भी नष्ट हो जाती है। एक कथाकार की हैसियत से उसे मनोभावों को तथा मनो-वैज्ञानिक तथ्यों को भी समझने की आवश्यकता थी। वह यह भी समझ सकता था (यदि समझ थी तो) कि अपेक्षित सद्व्यवहार और प्रोत्साहन से अयोग्य व्यक्ति भी योग्य बन सकता है। कथाकार की हैसियत से व्यक्तियों को परखने की योग्यता यदि उसमें होती तो वह योग्य व्यक्ति का सम्मान करना जानता। स्वयं अपने सम्मान की दृष्टि से उसे दूसरों का सम्मान करना चाहिए था, उसे ये बातें जान लेनी चाहिए थी :—"जो दूसरों का सम्मान करना नहीं जानते वे दूसरों से सम्मान और प्रेम कभी नहीं प्राप्त कर सकते, वे घृणा के ही पात्र बन जाते हैं। अपने अधीनस्थ लोगों का घृणा-पात्र बन गया व्यक्ति किसी या किन्हीं स्थितियों का लाभ उठा कर बाहर भले ही सम्मान अर्जित करता फिरे, किसी दिन उसे अपने अधीनस्थों से ही अपमानित होना पड़ सकता है। पत्रकारिता-जैसे पेशे में अपने सम्मान के लिए अखबार का उपयोग करने वाला और अपने

सम्पादक-मण्डल का अपमान करने वाला किसी-न-किसी दिन अपमानित हो सकता है।"

यह 'बुद्धिवादी' प्रधान व्यवस्थापक मानो जानबूझ कर पत्र के सम्पादकों का अपमान करने पर तुला हुआ था। एक और उदाहरण देखिए। यह भी उपर्युक्त साहित्य-सम्पादक के ही सम्बन्ध में है। एक बार प्रधान व्यवस्थापक ने नगर के तीन-चार बैठकबाज, प्रचारप्रिय और लेखनधर्म के वास्तविक मर्म से सर्वथा अनभिज्ञ उन लेखकों (तथाकथित) की एक बैठक बुलायी, जो केवल अपनी बैठकबाजी के गुण से तथा 'अधिक पुरस्कार देने में पत्र की असमर्थता' का लाभ उठा कर, वास्तविक लेखकों के स्थान पर स्वयं ही पत्र पर छाये हुए थे। इस बैठक में साहित्य-सम्पादक को बुलाने की कोई आवश्यकता नहीं समझी गयी। समझी भी क्यों जाती ! प्रधानव्यवस्थापक तो स्वयं ही एक तरह से अपने को सम्पादक.........सब कुछ मान बैठा था और जो व्यक्ति साहित्य परिशिष्ट देख रहा था उसे अपना 'क्लर्क' समझ बैठा था। जो कुछ भी हो साहित्य-सम्पादक का इस बैठक में बुलाया न जाना उसका अपमान था, क्योंकि आमन्त्रित तथाकथित लेखकों ने यही समझा होगा कि प्रधान व्यवस्थापक ही वस्तुतः साहित्य-सम्पादक है और वह व्यक्ति तो इनका अधीनस्थ सहायक या क्लर्क मात्र है। खैर, इस पर भी साहित्य-सम्पादक कड़वी घूट पीकर रह गया। किन्तु, अब यह निश्चित हो गया कि आगे और कड़वी घूट पीना असम्भव है। स्थिति असह्य हो उठी।

इसके बाद प्रधान व्यवस्थापक और साहित्य-सम्पादक की जब मुलाकात हुई, तो वह मुलाकात मुठभेड़ ही सिद्ध हुई। साहित्य-सम्पादक कुछ निश्चय करके वहाँ पहुँचे थे—इस्तीफा दे देने तक का। उन्होंने जब अपनी बात कुछ जोरदार ढंग से रखनी शुरू की, तो पहले तो प्रधान व्यवस्थापक को कुछ आश्चर्य-सा हुआ; फिर अपनी आदत के मुताबिक और प्रधान होने के गरूर में वह बोले—

"मैं बहस नहीं करना चाहता।"

"मैं भी बहस नहीं करना चाहता। मैं जानता हूँ कि बहस में आपका कीमती समय नष्ट करना ठीक नहीं है। किन्तु इधर के कुछ अनुभवों के आधार पर यह जरूरी हो गया है कि तथा अ पर कुछ

बातें की जायँ, क्योंकि पत्र के हित का सवाल आ गया है।" साहित्य-सम्पादक ने उत्तर दिया।

"पत्र के हित की चिन्ता मुझे आपसे ज्यादा है, और पत्र के लिए क्या हितकर है और क्या अहितकर—यह भी मैं आपसे ज्यादा जानता हूँ।"

"आप जानते होंगे, किन्तु मैं इस संस्था का एक पुराना सेवक और हितैषी हूँ, आज मेरी भी कुछ बातें आपको सुननी होंगी।"

"'आप जानते होंगे' का क्या मतलब? आप किससे बातें कर रहे हैं, कुछ समझते हैं।"

"हाँ, मैं संस्था के प्रधान व्यवस्थापक से बातें कर रहा हूँ, जिसका यह कर्त्तव्य होता है कि पत्र के हित में वह किसी भी कर्मचारी की बात सुने उसे समझने की कोशिश करे, मैं तो फिर भी सम्पादक-मण्डल का सदस्य हूँ।"

"आप बहुत बढ़े जा रहे हैं, मालूम होता है कि आपको यहाँ काम नहीं करना है।"

"आप यह धमकी किसे दे रहे हैं। मैं भी कुछ निश्चय करके ही आया हूँ। आपको यह बताने आया हूँ कि यदि आपका कोई स्थान और मान है तो मेरा भी कोई स्थान और मान है, मेरा भी कोई व्यक्तित्व है। विनम्रता और सहिष्णुता की पराकाष्ठा हो चुकी है। आपका अनुचित और सर्वथा अनावश्यक हस्तक्षेप अब मुझे बर्दाश्त नहीं है।"

पता नहीं क्यों, हजरत ठण्डे पड़ गये और अपने प्रभुत्व के अहं का कोई प्रदर्शन नहीं कर सके। शायद पहली बार उसे यह महसूस हुआ कि जो व्यक्ति उससे बातें कर रहा है उसका विज्ञापन भले ही न हुआ हो, वह पत्रकारिता की कुछ साधना करके बैठा है और उसने पत्रकारिता पर कुछ लिखा-पढ़ा भी है। जो भी हो, प्रधान के मन में प्रतिशोध की एक भावना तो आ ही गयी, क्योंकि दूसरों को अपमानित करते आने वाले इस व्यक्ति को स्वयं अपमानित होना पड़ा। पहले उसने साहित्य-सम्पादक को साहित्य विभाग से हटाना और फिर अखबार से ही हटा देना चाहा, किन्तु वह ऐसा नहीं कर सका, क्योंकि एक दूसरे अधिकारी, जो यों व्यवस्थापक के रूप में उससे नीचे थे, किन्तु सचिव के रूप में उससे ऊपर थे, किसी कार्रवाई के लिए सहमत नहीं किये जा सके। बेचारे प्रधान व्यवस्थापक की एक मुसीबत यह थी कि नाममात्र

के लिए ही 'प्रधान व्यवस्थापक' था, उसकी नौकरी पक्की नहीं हो पायी थी और न अखबार पर उसका नाम ही छपता था, और फिर व्यवस्थापक को सचिव का जो पद मिला था उससे तो उसका यह 'प्रधान-पद' नीचा ही रहा। कोई भी नियुक्ति या बर्खास्तगी सचिव के हस्ताक्षर के बिना नहीं हो सकती थी। जहाँ तक मुअत्तली या बर्खास्तगी का सवाल था, कुछ मुअत्तल लोगों को फिर से काम पर लेने के लिए बाध्य होना पड़ा था और कुछ से मुकदमेबाजी चल रही थी। अतः एक और व्यक्ति को बर्खास्त या मुअत्तल करके और मुकदमा मोल लेने के लिए सचिव तैयार नहीं हो सकते थे और न उसकी सेवाओं की उपेक्षा कर सकते थे। इस तरह 'प्रधानजी' को मुँहकी खानी पड़ी और फिर इनका सारा हस्तक्षेप बन्द हो गया। प्रहार की स्थिति अनुकूल देखकर साहित्य-सम्पादक ने संस्था के डायरेक्टर-इंचार्ज को एक पत्र लिखा, जिसमें प्रधान को संस्था-का शत्रु सिद्ध करके दिखला दिया गया।

अपनी मूर्खता और उन्माद से इस व्यक्ति ने नीचे के कर्मचारियों को ही नहीं, ऊपर के तीन-चार प्रमुख अधिकारी व्यक्तियों को भी नाखुश कर दिया था। इसने प्रायः सभी के लिए और परिणामतः पूरी संस्था के लिए एक ऐसी अपमानजनक स्थिति बना दी थी, जिसमें काम का आगे बढ़ना अन्ततः असम्भव-सा होता दिखलायी दिया। इस स्थिति में कोई भी मालिक या संचालक, जिसे संस्था को ढंग से चलाते रहने की चिन्ता हो, ऐसे व्यक्ति को रखना कब तक पसन्द करता। हुआ भी ऐसा ही। डायरेक्टर-इन्चार्ज की समझ में यह बात आ गयी कि यह व्यक्ति न तो प्रशासन की योग्यता रखता है और न पत्रकारिता की दृष्टि से पत्र को सुधारने की कोई सूझ-बूझ उसमें है। अतः साहित्य-सम्पादक से संघर्ष के पाँच-छः महीने बाद ही प्रधान व्यवस्थापक को अपना मुँह काला करके चला जाना पड़ा।

किन्तु, जब प्रबन्ध-सम्पादक के रूप में दूसरे 'प्रधान व्यवस्थापक' महोदय का आगमन हुआ तब भी इस अभिशप्त समाचारपत्र की पूर्वोक्त अपमान-स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, बल्कि कुछ ही महीनों में वह और बुरी हो गयी। इसका एक सामान्य कारण यह तो था ही कि अन्य क्षेत्रों की तरह पत्रकारिता के क्षेत्र में भी नौकरशाही, प्रशासकीय एवं सामन्ती दृष्टिकोण आ गया है। अब कुछ नये कारण भी जुड़ गये थे। यद्यपि डायरेक्टर-इंचार्ज को भूतपूर्व प्रधान व्यवस्थापक के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय करते समय यह बात

समझ में आ गयी थी कि किसी समाचारपत्र के संचालक और व्यवस्थापक में न केवल प्रशासन की बल्कि पत्रकारिता की भी दृष्टि होनी चाहिए, तथापि अनेक नये कारणों से नये प्रधान व्यवस्थापक को अपनी ही प्रवृत्तियों और विचारों के अनुसार चलने की छूट मिल गयी। और फिर कुछ ऐसा होता गया कि मात्र क्लर्क-बुद्धि से सोचने-समझने तथा अपना स्वार्थ साधते आने में विशेष योग्यता प्राप्त कर लेने वाले दो-तीन व्यक्तियों को इसने अपना सलाहकार और बुद्धि-प्रेरक बना लिया और दूरगामी स्वार्थों का विचार करके इन बुद्धि-प्रेरक सलाहकारों ने भी नवागन्तुक की प्रवृत्तियों और विचारों के अनुकूल अपने को बना कर या उनका (प्रवृत्तियों और विचारों का) लाभ उठा कर उनके कानों में 'प्रशासन में कड़ाई और दाब की आवश्यकता' का मन्त्र ऐसा फूंका कि उनका रहा-सहा बौद्धिकतावादी (पत्रकारितानुकूल) दृष्टिकोण देखते-देखते गायब हो गया।

अपने दो-तीन बुद्धि-प्रेरकों से 'उधार ली हुई' तथाकथित प्रशासकीय दृष्टि से ही नहीं, उन्हीं के द्वारा उत्पन्न 'स्वार्थ-दृष्टि' से भी कड़ाई और दाब को अपना दर्शन बना कर नये प्रधान व्यवस्थापक ने सम्पादकीय विभाग के खास-खास स्थानों (नाकों) पर जी-हुजूरों को ऐसा बैठा दिया कि एकाधिक व्यक्तियों में स्वाभिमान और आत्मसम्मान का जो भाव था वह भी कुछ-कुछ दबने लगा और पूरा सम्पादक-मण्डल 'अनुशासित एवं परम आज्ञाकारी' सेवकों या शिष्यों का समूह बन गया। दो-एक तथाकथित उपसम्पादक तो इस नये प्रधान के व्यक्तिगत सेवक-से बन गये और उसके पुत्रों के भी पीछे-पीछे दौड़ने वाले हो गये। इस स्थिति को संस्था के दरवान और चपरासी तक बड़े आश्चर्य के साथ देखने लगे। बाहर पत्रकारिता का रोब दिखलाने वाले, अपने को बुद्धिजीवी मान लेने वाले, इन महानुभावों के मन में पत्रकारोचित मान, सम्मान और स्वाभिमान का भान कभी हुआ ही नहीं। अपनी इस दासता पर उन्होंने भूले से भी विचार नहीं किया होगा। लगता है उनकी 'आत्मा' पहले ही मर चुकी थी। और मान, सम्मान के लिए आतुर, तथा इन पर भाषण देने और लिखने वाले प्रधान ने भी अपने द्वारा उत्पन्न इस दासता पर कभी विचार नहीं किया होगा। वय, अनुभव या ज्ञान अथवा तीनों का ख्याल करके जिन दो-एक व्यक्तियों को उपदेश देना उचित नहीं प्रतीत हुआ उन्हें बड़े ढंग से गौण बना दिया गया ताकि उनसे किसी विवाद या संघर्ष की नौबत ही न आये। बाद में वे भी अपमानों से नहीं बच सके।

नये प्रधान व्यवस्थापक ने कड़ाई को अपना मूलमंत्र इस तरह बना लिया कि 'प्रे . से भी काम लेने', 'प्रोत्साहन से काम अच्छा होने', 'सबको एक ही डण्डे से न हाँकने', 'आतंक से काम बिगड़ने' 'दमन से अन्तत: एक विस्फोटक स्थिति पैदा होने', 'अनुशासन के नाम पर हमेशा जवाबतलब करते रहने के परिणाम-स्वरूप आत्मानुशासित व्यक्तियों तक के मन में विद्रोह पैदा होने', 'अशिष्ट व्यवहारों से योग्य व्यक्तियों में भी आत्मग्लानि पैदा होने',..... आदि की मनोवैज्ञानिक बातें—जो आधुनिक प्रबन्ध-शास्त्र में भी विचारणीय विषय के रूप में आयी हैं—उसकी समझ में नहीं आ सकीं। कड़ाई के इस मन्त्र के साथ उसको एक और मंत्र सिद्ध हो गया था :—'सबको ठीक कर दूंगा'। 'सबको ठीक कर दूंगा' मंत्र ने उसे इतना अशिष्ट और कटुभाषी बना दिया कि बात-बात में वह 'बूढ़ों का बुढ़ापा' और 'जवानों की जवानी' बिगाड़ने की डींगें हाँकने लगा। प्रबन्ध-सम्पादक बन बैठा यह प्रधान व्यवस्थापक जब अपने को बुद्धि-वादी और 'पत्रकारिता-मर्मज्ञ' समझने लगा तब भी 'पत्रकारोचित व्यवहार, अपने पत्रकार सहयोगियों के प्रति अभिभावक-धर्म के पालन' और 'एक प्रेरक शक्ति बनने के सम्पादक-कर्त्तव्य' का कुछ ज्ञान उसे नहीं हुआ। होता भी कैसे ? जुम्मा-जुम्मा आठ रोज पत्रकार रहने के बाद पूरे पचीस वर्ष इधर-उधर नौकरी करके पत्रकार बन बैठा था। भगवान जाने पत्रकारिता के कुछ आधार-भूत सिद्धान्त जानने के लिए उसने पत्रकारिता पर दो-चार पुस्तकें भी पढ़ी था या नहीं, या कम-से-कम दो-चार महान् सम्पादकों के सम्पर्क से ही कुछ सीखा था या नहीं।

इस मानमर्दनप्रेमी प्रशासनाधिकारी-सम्पादक ने सम्पादक-मण्डल के अधिकांश सदस्यों को परम भीरु बना कर छोड़ दिया और कुछ को परम चाटुकार बना लिया। अपने इस कार्य को उसने अपने स्वामियों या संचालकों के सामने इस कुशलता के साथ पेश किया कि वे (शायद पत्रकारिता में सम्मान का ठीक से बोध न होने के कारण) उसे अपना योग्य सेवक मान बैठे और उनका वरदहस्त उस पर हो गया। इस स्थिति में मान और स्वाभिमान से पत्रकारिता को किसी हद तक संयुक्त रखने की आवश्यकता समझने वाला कोई पत्रकार घुटन का अनुभव किये बिना कैसे रह सकता है। एक ऐसा ही पत्रकार अपनी पत्रकारिता के पचीस वर्ष मान और स्वाभिमान से बिताने के बाद छब्बीसवें वर्ष में प्रवेश करने पर जब उपर्युक्त मानमर्दनप्रेमी प्रशासनाधिकारी

से पीड़ित हो उठा तो उसे अन्तिम रूप में यह निश्चित हो गया कि पत्रकारिता मे सम्मान नाम की चीज शायद अब कहीं नहीं मिलेगी और इसलिए गुलामी को ही यथार्थ मान कर उसके सामने सिर झुका दिया जाय या राम की गुलामी के सम्बन्ध में तुलसी के निम्नलिखित शब्दों का स्मरण कर उनकी ही तरह राम का गुलाम बनने का प्रयास किया जाय—"तुलसिहिं बहुत भलो लागत जगजीवन राम गुलाम को", "तुलसिदास सब आस छांड़ि करि होहु राम को चेरो" "हौं सब विधि राम, रावरो चाहत भयो चेरो", "जो पैं चेराई राम की करतो न लजातो। तौ तू दाम कुदाम ज्यों कर-कर न बिकातो।"

सामान्यत: अपमान की यह जो स्थिति सर्वत्र चलती रहती है उसको दूर करने का प्रश्न जटिल है। देखना तो यह है कि इस तरह अपमान को पराकाष्ठा तक ले जाने वाले किसी व्यक्ति की मूर्खता सिद्ध हो जाने के बाद उसे हटा भले ही दिया जाय, किन्तु क्या इससे पत्र-संचालकों में ऐसा ज्ञानोदय हो सकता है कि वे कम-से-कम व्यावसायिक हित में ही यह मान लें कि चूँकि समाचारपत्र का क्षेत्र एक बौद्धिक क्षेत्र है, अत: सम्पादकों के लिए एक सम्मान-प्रद स्थिति आवश्यक है। काश, पत्र-संचालक इस तथ्य को समझ लेते कि योग्य व्यक्तियों तक को अपमानजनक स्थिति स्वीकार करने के लिए बाध्य किय जाने से, और अपना प्रभुत्व जमाये रखने तथा इसीलिए सम्पादकों को अ[illegible] हथियार बनाये रखने के एकमात्र उद्देश्य को दृष्टि में रख कर आत्मलाघव से ग्रस्त अयोग्य अथवा कम योग्य व्यक्तियों को ही भरते जाने से, पत्र का व्यक्तित्व और उसकी प्रतिष्ठा ऊँची कभी नहीं हो सकती। यदि योग्य व्यक्ति घुट-घुट कर रहते हों और इसीलिए उदासीन और उत्साहीन हो जाते हो या अन्त में चले जाने के लिए बाध्य होते हों तब तो अयोग्य व्यक्तियों का ही प्राधान्य हो जायगा और फिर पत्र का व्यक्तित्व चौपट हुए बिना नहीं रह सकता।

इस प्रकार ऊपर के ही कुछ व्यक्तियों द्वारा पत्रकार अपमानित होते हो या अपमानित अनुभव करते हों—ऐसी ही बात नहीं है। और भी कुछ खास कर्मचारियों—जैसे अन्यान्य विभागों के व्यवस्थापकों, एकाउन्टेन्ट, निजी सचिव सा काम करने वाले कुछ क्लर्क—के मन में भी पत्रकारों के प्रति कोई विशे सम्मान का भाव नहीं रह गया है। वेतन से अग्रिम रकम लेनी हो, अतिरि पारिश्रमिक लेना हो या रचना का पुरस्कार प्राप्त करना हो—हर हाल

पत्रकारों को एकाउन्टेन्ट और 'निजी-सचिव'-से बन गये क्लर्कों के यहाँ हाज़िरी देनी पड़ती है, कुछ ठकुरसुहाती करनी पड़ती है, कुछ गिड़गिड़ाना पड़ता है, उनके नखरे सहने पड़ते हैं। चूँकि हिसाब-किताब की गोपनीयता के मामले में एकाउन्ट विभाग के कुछ लोग संचालकों और व्यवस्थापकों की दृष्टि में महत्वपूर्ण समझे जाते हैं, अतः वे सम्पादकों के सामने भी अपने को महत्वपूर्ण क्यों न समझें! इतना ही नहीं सम्पादक-मण्डल के सदस्यों की भूल-चूक की ओर ध्यान आकृष्ट करने या जवाब-तलब करने का जो काम सम्पादक, प्रधान सम्पादक, प्रबन्ध-सम्पादक या व्यवस्थापक का है वह मानो अब अन्य 'अधिकारियों' का भी हो गया है। ये अन्य अधिकारी सीधे-सीधे न सही, परोक्ष रूप में तो जवाब-तलब कर ही बैठते हैं और बेचारा उप-सम्पादक यह कहने की भी हिम्मत नहीं कर सकता कि "आप पूछने वाले कौन होते हैं?" अपमान की कैसी दर्दनाक स्थिति है यह!

अब कुछ पत्रों में 'निरीक्षक' या 'पर्यवेक्षक' नाम का भी एक प्राणी सम्पादकों को अपमानित और आतंकित करने के लिए आ गया है। आमतौर पर यह प्राणी कोई अवकाश-प्राप्त ऐसा 'पुराना पत्रकार' (तथाकथित) होता है जिसने अपने सम्पूर्ण पत्रकार-जीवन में पत्रकारिता का (पत्र के सुसम्पादन की आवश्यकता का) दृष्टिकोण तो कम, किन्तु प्रबन्ध-मण्डल की ओर से कार्य-पालनाधिकारी का दृष्टिकोण अधिक अपना लिया होता है। इतना ही नहीं, चूंकि उसकी बुद्धि ऊर्ध्वचेता की-सी हो ही नहीं पाती, अतः वह प्रायः गलत रिपोर्ट देने और कान भरने वाला ही बन जाता है। उसकी इस स्थिति को देख कर कुछ सम्पादक उसे खुश रखने की ही कोशिश में लग जाते हैं और कुछ उसके माध्यम से अपनी स्थिति बनाने की सोचने लगते हैं। यह व्यक्ति व्यवस्थापकों की दृष्टि में अयोग्य को योग्य तथा योग्य को अयोग्य सिद्ध करने में भी सफल हो जाता है। जो लोग चाटुकारिताप्रिय नहीं होते वे भी—इस प्राणी से अपमान और अहित की आशंका से—उसको 'बड़ा' मान ही लेते हैं। यह प्राणी पत्रकारिता (पत्रकारों के कार्य की उपयुक्त स्थिति) में सहायक होने के बजाय सम्पादकों का 'बास' हो जाता है! ऐसी स्थिति में ऐसे 'बास' से किसी योग्य-से-योग्य व्यक्ति के भी अपमानित होने की आशंका बराबर बनी रहती है।

आन्तरिक अपमान में वेतन का भी बड़ा 'योगदान' है। जो विचारशील नहीं हैं जिन्हें सामाजिक स्थिति के अध्ययन का कोई अवसर नहीं मिला है

और जिन्होंने अर्थ से ही व्यक्ति को नापने-जोखने की दृष्टि पायी है वे अपने वेतन से कम वेतन या अपनी आय से कम आय वाले हर व्यक्ति को अपने से कम योग्य या कम महत्त्व का समझते हैं। जब पन्द्रह सौ रुपये पाने वाले व्यवस्थापक, एक हजार रुपये पाने वाले विज्ञापन-व्यवस्थापक और सात-आठ सौ रुपये पाने वाले एकाउन्टेन्ट अपने को ५-६ सौ रुपये पाने वाले सम्पादक से भी श्रेष्ठ ही समझते हों तब भला सौ-डेढ़ सौ रुपये पाने वाले सह-सम्पादक को वे सम्मान की दृष्टि से केवल इसलिए क्यों देखेंगे कि वह 'पत्रकार नाम का प्राणी' बन गया है ? वे लोग यह भी तो देखते आते हैं कि कैसे-कैसे लोग पत्रकार बन रहे हैं और बनाये जा रहे हैं। चूँकि इन सब के दिमाग में अब यह बात नहीं रह गयी है कि सचमुच पत्रकारिता का पेशा बहुत ऊँचा है और इसमें आने वाला ऊँचा ही होना चाहिए, चूँकि पत्रकारों के सम्बन्ध में 'मार-मार कर हकीम बनाये जाने' या 'थोड़ा-बहुत प्रशिक्षण दे-दिला कर कामचलाऊ बना लिये जाने' की बात वे जानते हैं, चूँकि प्रथम श्रेणी में परीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियों के इस ओर आकृष्ट न हो सकने की स्थिति में 'कहीं कोई काम न मिले तो पत्रकार बन जाओ' का विचार ले कर ही आने वाले साधारण 'कामचलाऊ' योग्यतावालों की ही भरमार होती जा रही है, चूँकि साधारणतः 'अपने ही दाव का आदमी' नियुक्त करने की प्रवृत्ति भी बढ़ गयी है, अतः कुल मिलाकर पत्रकार के लिए यह आशा करना व्यर्थ है कि वह अपने कार्यालय के उच्चवेतनभोगियों की दृष्टि में कुछ सम्मानित माना जायगा।

शेष अन्य कर्मचारियों के बीच भी पत्रकार के अपमानित होने की एक स्थिति देखी गयी है। आर्थिक कारणों से अनेक पत्रों में श्रमिक-अशान्ति प्रायः बनी रहती है। इस अशान्ति से निपटने के लिए व्यवस्थापक-मण्डल की ओर से जब पत्रकारों का भी उपयोग किया जाने लगता है तब यह 'उपयोगी' पत्रकार अपने उन्हीं श्रमिक सहयोगियों की दृष्टि में गिरने लगता है, जिनके सहयोग के बिना अच्छा अखबार निकालने की आशा नहीं की जा सकती। संघर्ष की स्थिति में व्यवस्थापक प्रायः यही चाहता है कि नीचे के कर्मचारियों की गलतियाँ पकड़ कर सम्पादकगण ही रिपोर्ट करते रहें। अखबार में शीर्षक लगाने, एक-एक अक्षर का ध्यान रखने, गैलियों को यथास्थान क्रम से रखने और निकालने तथा पेज में मैटर बिठाने आदि के काम ऐसे हैं, जिनमें कुछ-न कुछ गलती रह जाने की सम्भावना बराबर बनी रहती है। ऐसी स्थिति में

उदारता और सहानुभूति न दिखला कर प्रबन्धमण्डल के इच्छानुसार शिकायत या छिद्रान्वेषण में ही कोई लग जाय तब नीचे के कर्मचारी भी ऐसी स्थिति पैदा कर सकते हैं जिनमें स्वयं उस पत्रकार की शिकायतें बढ़ती जायें। नीचे के कर्मचारियों के सहयोग के अभाव में उसका कठिनाइयों और जहमतों में पड़ जाना बहुत सम्भव हो जाता है और वह घृणा का पात्र बन कर नीचे के कर्मचारियों की दृष्टि में गिर जाता है।

आन्तरिक अपमान की यह स्थिति अखबार को एक वास्तविक बुद्धि-क्षेत्र कदापि बनने नहीं देती और उसमें काम करने वाले सम्पादकगण आत्मसन्तोषार्थ भले ही अपने को बुद्धिवादी मान लें, किन्तु वस्तुतः बुद्धिवादी के रूप में उनके व्यक्तित्व का विकास बिलकुल नहीं हो पाता और परिणामस्वरूप पाठकों के समक्ष उनके द्वारा सम्पादित पत्र का भी कोई आकर्षक व्यक्तित्व नहीं उभरता। इस अपमानजनक स्थिति में योग्य व्यक्ति ठहर नहीं पाते और यदि विवश होकर ठहरे रह जाते हैं तो उनकी योग्यता का कोई उपयोग नहीं होता और अन्ततः अपमानजन्य निराशा के परिणामस्वरूप योग्यता लगभग अयोग्यता हो जाती है। किन्तु, अफसोस कि पत्र, पत्रकारिता और पाठक के हित में आज तक आन्तरिक अपमान की इस स्थिति पर किसी का ध्यान नहीं गया।

● ●

पत्रकार की रात

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी
यस्यां जाग्रति भूतानि या निशा पश्यतो मुनेः

श्रीमद्भगवद् गीता के अध्याय-२ का यह ६९ वां श्लोक श्रीकृष्णवचन में चाहे जो अगम अर्थ रखता हो, 'ज्ञान', 'भक्ति', 'दर्शन' और 'धर्म' शीर्षकों के अन्तर्गत इसके चाहे जो-जो अर्थ लगाये गये हों, पत्रकार पर—दैनिक समाचार-पत्र में रात में काम करने वाले पत्रकार पर—तो इस श्लोक के 'निशा' और 'संयमी' शब्द सामान्य अर्थों में सटीक घटते हैं। रात में चारों ओर से ध्यान हटा कर, अपने घर में मरीज़ के रूप में पड़े स्वजनों की ओर से भी ध्यान हटा कर, टेलिप्रिन्टर-रूपी शैतान (या शैतानों) की आंतों की तरह निकलने वाले कागज़ पर दनादन उतर रहे समाचारों को 'नियन्त्रित' करने में वह इस तरह लग जाता है कि बस उसे योगी ही कहना ठीक होगा। उसे अपनी भी सुधबुध नहीं रह जाती।

सामान्यतः रात की ड्यूटी वाले सम्पादकों की तपस्या का अनुमान इससे भी लगता है कि वह ३-४ बजे जब काम से छुट्टी पाता है तो दूरस्थ घर न जाकर, अखबार के बण्डल का तकिया लगा कर उसी मेज पर पड़ रहता है जिस पर काम करता है। पूरे सप्ताह उसकी यह 'तृतीय श्रेणी की मुसाफिरी निद्रा' रहती है। जाड़े के दिनों में भी अखबार बिछा कर एक हलका-सा कम्बल ओढ़ कर वह किसी तरह शेष रात काट लेता है। यदि संचालक अथवा व्यवस्थापक उदार हुए या कोरी व्यावसायिक दृष्टि से सम्पादक को अगली ड्यूटी के लिए 'फिट' रखना उन्होंने आवश्यक महसूस किया या पत्रकारों ने कुछ जोरदार आवाज उठायी तो सोने की कुछ अच्छी व्यवस्था हो भी जाती है, अन्यथा यही मुसाफिरी निद्रा उसे किसी तरह 'फिट' रखती है रात की ड्यूटी के बाद

दूसरे सप्ताह के समाप्त होते-होते कुछ स्फूर्ति आते ही कहीं-कहीं (जहाँ एक ही सप्ताह बाद रात की ड्यूटी आती है) वह फिर शिथिलता में बदल जाती है। इस प्रकार जबकि ड्यूटी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा दायित्वपूर्ण होती है शरीर शिथिल रहते हुए भी पत्रकार संयमी की तरह काम में लग जाता है।

सचमुच पत्रकार जागता है, और एक संयमी की तरह जागता है। उसका जागरण ट्रेन, हवाई जहाज और जहाज के चालकों के, रेलवे, डाक-तार तथा रात में कार्यरत अन्यान्य विभागों तथा संस्थाओं में काम करने वालों के, जागरण से भिन्न होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ट्रेन, हवाई जहाज और जहाज के चालकों के कर्त्तव्य और दायित्व बहुत कठिन तथा खतरे से भरे होते हैं और एक मिनट के लिए भी उनका ऊँघना या आँखें झपना भयकर दुर्घटना का कारण हो सकता है और वे अपराधी घोषित किये जा सकते हैं। जो कुछ भी हो, इनके दायित्वों तथा कर्त्तव्यों के मुकाबले रात में काम करने वाले पत्रकार के दायित्वों तथा कर्तव्यों को यदि अधिक नहीं तो कम भी नहीं माना जा सकता। यदि किसी ट्रेन का ड्राइवर ऊँघने या आँखें झपने के कारण ऐसी किसी ट्रेन-दुर्घटना का अपराधी होता है जिसमें दर्जनों व्यक्ति हताहत हुए होंगे तो वह पत्रकार भी एक अपराधी कहा जाएगा जो अपने ही क्षेत्र में घटी इस दुर्घटना के समाचार से अपने पाठकों को इसलिए वंचित कर देता है कि मेज पर लदे तारों में ही उलझे रहने या अनुवाद करते रहने के कारण उसका ध्यान टेलिप्रिण्टर पर लगे समाचारों के बीच पड़े इस समाचार पर नहीं गया, या उसने इसलिए लिया ही नहीं कि उसकी ड्यूटी समाप्त होने के समय वह आया या नीचे के कर्मचारियों को सक्रिय करने में अपनी सचेष्टता नहीं दिखलायी या रात की ड्यूटी में शिथिल हो जाने के कारण ही वह उपेक्षा कर गया। पत्रकारिता के कर्त्तव्य की दृष्टि से उसे भी उसी तरह अपराधी माना जा सकता है, जिस तरह ट्रेनचालक को।

जरा सोचिये तो कि भारत के किसी नगर से निकलने वाले किसी समाचार-पत्र के प्रातः संस्करण में भूतपूर्व प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री की मृत्यु का समाचार नदारद होता तो उस पत्र की कितनी थू-थू होती और उस समाचार को छोड़ देने वाले सम्पादक को अपराधी या दोषी कैसे न माना जाता। लालबहादुरजी की मृत्यु का समाचार केवल इसलिए सर्वाधिक महत्त्व का नहीं था कि वह हमारे देश के प्रधानमन्त्री थे, बल्कि इसलिए भी था कि

उनका देहान्त विदेश में और अचानक हो गया—उस अवसर पर जब वह पाकिस्तान पर भारत की विजय के बाद एक बड़े राष्ट्र के फेर में पड़ कर पाकिस्तान के साथ शान्ति-पत्र पर हस्ताक्षर करने गये थे। उनकी अकस्मात मृत्यु का समाचार उस समय आया जब प्रायः सभी पत्रों के प्रातः संस्करण का सारा कार्य (करीब-करीब) समाप्त हो चुका था। अखबार का छपना रोक कर फिर से पहला पृष्ठ खुलवाने और उसमें अनूदित और सम्पादित करके इस समाचार को बैठाने तथा फिर से प्लांग बनवाने, ढलवाने और मशीन पर चढ़ाने का मतलब था कम-से-कम पौन घण्टे की देर। लेकिन, सभी पत्रों के प्रातः संस्करण में यह समाचार आया। आखिर किसकी महान् कर्त्तव्यपरायणता और दायित्वसक्रियता के परिणामस्वरूप? पत्रकार की कर्त्तव्यपरायणता और दायित्वसक्रियता, तत्परता और शीघ्रता के ही परिणामस्वरूप तो।

यद्यपि अखबार छूटने के निर्धारित समय के बाद भी प्रायः आधे घंटे या पैंतालिस मिनट की छूट रहती है और इस छूट का तत्परता तथा अतिशीघ्रता से उपयोग करने पर डाक फेल नहीं कही जा सकती। फिर भी, इस छूट के समय भारी रद्दोबदल करके अपने देश की ऐसी भयंकर, दुःखद तथा विस्मयकारी असाधारण' घटना के समाचार को पाठकों के पास पहुंचाना और इस प्रकार अपने पत्र को 'कलंक' से बचाना कितना कठिन काम है, इसे रात की शिफ्ट में सिर्फ एक साथी के सहयोग से या अकेले ही काम करने वाले शिफ्ट-इंचार्ज का ही दिल जानता है (अनेक पत्रों की जो दुःखद और साथ ही दयनीय स्थिति हो या बना दी गयी है उसमें अक्सर ऐसा होता है कि रात की इतनी महत्त्व-पूर्ण शिफ्ट में भी एक ही व्यक्ति सहयोग के लिये रहता है)।

किन्तु, पत्रकार की कर्त्तव्यपरायणता, दायित्वसक्रियता, तत्परता और शीघ्रता के लिए उसकी प्रशंसा का प्रश्न हो या विशेष अवसरों पर उसके चूकने पर उसे अपराधी मानने का प्रश्न हो, क्या, साथ ही यह भी एक विचारणीय प्रश्न नहीं है कि रात की ड्यूटी वाले अन्य पेशों में काम करने वालों को जितनी सुविधाएँ प्रस्तुत रहती हैं उतनी ही सभी अखबारों में भी रात की ड्यूटी वालों के लिए प्रस्तुत रहती हैं? यदि रात की भीषण ड्यूटी में किसी छोटी-बड़ी भूल-चूक के लिए कोई दोषी या अपराधी घोषित किया जा सकता है तो वह व्यवस्था क्यों नहीं दोषी या अपराधी घोषित की जा सकती जिसमें रात की ड्यूटी को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता और विशेष

महत्त्व के अनुसार, विशेष सुविधाएँ प्रस्तुत नहीं रहतीं। जो कुछ भी हो, रात की ड्यूटी वाले पत्रकार अपना कर्त्तव्य करते रहते हैं।

एक और उदाहरण देखिए—२८ सितम्बर १९७० की रात में करीब बारह बजे यह खबर आयी कि उत्तर प्रदेश में राज्यपाल के इच्छानुसार श्री चरण सिंह ने मुख्यमन्त्री-पद से इस्तीफा दे दिया। किन्तु करीब डेढ़ घण्टे बाद समाचार समिति ने इस समाचार को 'किल' कर देने के लिए कहा और यह खबर दी कि श्री चरण सिंह ने इस्तीफा नहीं दिया है, बल्कि इस्तीफा माँगने की राज्यपाल की कार्यवाही के औचित्य पर आपत्ति की है और उनसे समय माँगा है। पहला समाचार 'किल' करके यह दूसरा समाचार उस समय मिला जब सारे पृष्ठ बँध चुके थे और पन्द्रह मिनट के अन्दर अखबार छपना शुरू होने वाला था। और देखिए, फिर क्या हुआ—पन्द्रह मिनट बाद ही संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति नासिर की मृत्यु का समाचार आ धमका। भारत सरकार की तटस्थता-नीति की दृष्टि से, पश्चिमी एशिया की अशान्त स्थिति की एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया की दृष्टि से, रूस और अमेरिका की प्रतिद्वन्द्विता में नासिर का एक विशेष स्थान होने की दृष्टि से नासिर की मृत्यु का समाचार भारत के समाचारपत्रों के लिए अन्य किसी राष्ट्राध्यक्ष की मृत्यु के समाचार से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था। और एक बात यह भी विशेष ही थी कि एक दिन पहले तक नासिर की अस्वस्थता का कोई समाचार नहीं आया था। अतः इस समाचार को कोई साधारण महत्त्व का समाचार समझ कर छोड़ देना उचित नहीं था। इस स्थिति में जरा सोचिए कि किसी अखबार के जिस सह-सम्पादक ने अकेले रहते हुए चरण सिंहसम्बन्धी पहले समाचार को हटा कर चरण सिंहसम्बन्धी दूसरा समाचार सर्वप्रमुखता के साथ लिया और फिर नासिर की मृत्यु के समाचार को भी प्रमुख स्थान दिया उसने कितना बड़ा काम किया।

ऐसे अवसरों पर रात के शिफ्ट-इंचार्ज को सामान्यतः तब एक बड़े साहस का परिचय देना पड़ता है जब अखबार छप जाने पर एक ओर संचालक या व्यवस्थापक अपनी वणिक प्रवृत्ति के कारण यह सोचता है कि छपी हुई प्रतियों को बाजार में जाने से रोक कर वह भारी घाटा उठायेगा, दूसरी ओर पत्रकार का आग्रह यह होता है कि इतने महत्त्वपूर्ण समाचार के बिना अखबार बाजार में भेजने की अपेक्षा उसे यों ही रद्दी के लिये पड़े रहने देना

एक अखबारी अनिवार्यता है और एक दिन के इस घाटे से बस इतना ही होगा कि सम्पूर्ण लाभ में कुछ कमी हो जायगी। इस तरह के साहस-प्रदर्शन की आवश्यकता उसी घोर वणिक प्रवृत्ति वाले संचालक या व्यवस्थापक के सामने होती है जो अपनी बेवकूफी के कारण यह नहीं समझ पाता कि ऐसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समाचार के बिना उसकी प्रतियाँ बिकेंगी ही नहीं। वह दुराग्रहपूर्वक यही सोचता रहता है कि एजेन्टों या विक्रेताओं से उसके जो कुछ विशेष अनुबन्ध हैं उनकी वजह से कुछ-न-कुछ पैसा तो निकल ही आयेगा। वणिक-प्रवृत्तिजन्य मूर्खता के कारण वह अपने अखबार की बदनामी की भी बात नहीं सोच पाता। ऐसे कुछ संचालकों और व्यवस्थापकों से पाला पड़ने का अनुभव अनेक पत्रकारों को हुआ है।

रात का समय अनवरत समाचार आने का समय होता है। स्थानीय संवाददाताओं और बाहर के विशेष संवाददाताओं के समाचार भी शाम के बाद ही आते हैं। खेलकूद और वाणिज्य के समाचारों का समय भी यही होता है। यदि किसी अखबार में एक नहीं, दो-दो तीन-तीन टेलिप्रिन्टर लगे हों तब तो और भी मुसीबत रहती है। जरा उस पत्रकार की मुसीबत का अन्दाज लगाइये जो मालिक के 'खर्च घटाओ-सिद्धान्त' के अनुसार प्रायः अकेले या किसी नौसिखुए के साथ शिफ्ट संभालता है। 'खर्च घटाओ-सिद्धान्त' वाले कुछ संचालकों और व्यवस्थापकों के सम्बन्ध में मजा तो यह है कि कुछ खास-खास नगरों में अपने कार्यालय खोल कर विशेष संवाददाता नियुक्त कर देते हैं, एक टेलिप्रिन्टर की जगह दो-दो या और अधिक टेलिप्रिन्टर लगवा लेते हैं, एक स्थानीय संवाददाता की जगह 'प्रदर्शनार्थ' दो-दो स्थानीय संवाददाता नियुक्त कर लेते हैं, लेकिन रात की-सी महत्त्वपूर्ण शिफ्ट में सम्पादक एक या दो ही रहते हैं। यह कितनी ज्यादती है—रात के सम्पादकों के साथ ही नहीं, पूरे पत्र और प्रकारान्तर से पाठकों के साथ भी। इस ज्यादती के परिणामस्वरूप प्रतिकूल परिस्थिति में भी अधिक-से-अधिक काम कर लेने और सावधान रहने वाले सम्पादक से भी यदि अक्सर नहीं तो कभी-न-कभी भयंकर भूल हो जा सकती है और यही भूल पाठकों के साथ ज्यादती हो जाती है और वे क्षुब्ध हो उठते हैं (यदि वे प्रबुद्ध और सजग हुए तो)। ज्यादती की इस स्थिति में कोई चमत्कारी पुरुष ही यह दावा कर सकता है कि उससे कोई भयंकर भूल नहीं होगी।

रात की शिफ्ट के इंचार्ज का काम दुगुना, तिगुना नहीं, लगभग चौगुना, पचगुना होता है। जैसाकि प्रारम्भ में ही बताया गया है, टेलिप्रिन्टर-रूपी शैतान की आँतों की तरह निकलने वाले कागज पर दनादन उतर रहे समाचारों का 'नियंत्रण' करने की समस्या मुख्यरूप से इसी शिफ्ट में होती है। टेलिप्रिन्टर की रफ्तार प्रायः शाम से ही तेज होती है और बढ़ती ही जाती है। अकेले टेलिप्रिन्टर के ही समाचार इतने हो जाते हैं कि उनसे निपटना एक व्यक्ति के लिए कठिन होता है। शिफ्ट-इंचार्ज के आते ही पिछली दो या तीन शिफ्टों में किये गये तारों में से एक-एक को देखना पड़ता है और याद रखना पड़ता है, ताकि यदि टेलिप्रिन्टर पर इनकी आवृत्ति हो तो अखबार में भी आवृत्ति न हो जाय। पहला काम होता है मेज पर जुटे पिछली शिफ्टों के तारों के ढेर से उलझना और उनमें से कुछ खास-खास चुन लेना, इसके बाद टेलिप्रिन्टर पर निगाह गड़ाना और उसके द्वारा उगले गये तारों को काटना-छाँटना। इसी बीच पिछले संस्करण के अखबार को देख कर प्रथम पृष्ठ के कुछ समाचारों को दूसरे पृष्ठों पर ले जाने की, और यदि कोई त्रुटि रह गयी हो तो उसे ठीक करने की व्यवस्था देनी होती है और कुछ शीर्षक बदलने पड़ते हैं।

इस काम निपटा लेने पर एक नजर घड़ी पर डालते हुए सम्पादन या अनुवाद के लिए कलम उठती है। रात आगे बढ़ गयी होती है; सम्पादक दो-एक समाचार पूरा भी नहीं करता कि टेलिप्रिन्टर पर बीस-पचीस तार और आ धमकते हैं, यदि दो टेलिप्रिन्टर हुए तो करीब चालीस समझिए (रात में टेलिप्रिन्टर की रफ्तार बढ़ जाती है न!) हर दस मिनट पर एक बार टेलिप्रिन्टर देखना आवश्यक होता है और नये समाचारों को (जो लिखना शुरू करने के बाद आये होते हैं) काटना-छाँटना चलता रहता है। जितने समाचार पहले चुन कर रखे होते हैं उनकी दुबारा छँटाई होती है, क्योंकि नये तारों में कुछ और महत्त्वपूर्ण आ जाते हैं। ऐसा तो हो नहीं सकता कि पहले से जितने समाचार चुन कर रखे गये हैं वे सब और साथ ही नये चुने गये समाचार भी ले लिये जायँ, क्योंकि उन सबको देने के लिए अपनी शिफ्ट वाले संस्करण में जितनी जगह होती है उसमें सभी समाचार नहीं अट सकते—संक्षेप में दिये जाने पर भी। और, यदि स्थान हो भी और सब-के-सब समाचारों को देना सम्भव भी हो तब भी दो-एक व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि उन सबका सम्पादन और अनुवाद कर सकें। जहाँ अनुवाद नहीं करना होता वहाँ, स्थान होने पर, अधिक-से-अधिक समाचार दिये भी जा सकते हैं, किन्तु जहाँ अनुवाद करना

हो और काम करने वाले दो-एक ही हों वहाँ यह कैसे सम्भव है। पूरे समाचार को पढ़ कर संक्षेप करने में तो और अधिक समय लग सकता है; हाँ सामान्यतः जिस तरह संक्षिप्तीकरण होता है उसी तरह संक्षिप्तीकरण की बात दूसरी है। सम्पादकों के अभाव और समयाभाव के कारण या 'प्रबल' परिस्थिति में कुछ नियम-सा बन जाने या सम्पादक के ही परिस्थितिजन्य आलस्य के कारण प्रायः होता यह है कि समाचार समितियों द्वारा कई भागों में दिये गये समाचार के प्रथम एक-दो भाग करके छुट्टी पा ली जाती है और यही संक्षिप्तीकरण समझ लिया जाता है। कुछ समाचार ऐसे होते हैं, जिन्हें इस तरह संक्षिप्त करना वस्तुतः उनकी हत्या करना या उन्हें हीनांग बनाना होता है। ऐसे समाचारों को यदि योग्य सम्पादक द्वारा ढंग से (सारी बातों का तत्त्व लेते हुए) संक्षिप्त करना सम्भव भी हो तो भी वह कुछ बड़ा तो होगा ही। और फिर, समय वाली बात भी तो है। रात की ड्यूटी में इतना समय कहाँ मिल पाता है। कुल मिला कर रात के इन 'डेढ़'-दो सम्पादकों के सामने रात के कार्यों को लेकर जो मुसीबत रहती है उसमें पाठकों के लिए नवीनता भला कैसे प्रस्तुत की जा सकती है।

इधर रात की शिफ्ट के इंचार्ज के लिए एक नयी समस्या के रूप में जो चीज आयी है वह है 'मोटी' (यदि मोटी कही जा सके तो) तनख्वाह वालों को विदा करके उनके स्थान पर 'पत्रकार' कहलाने के लिए लालायित एवं पत्रकारिता से 'कुछ विशेष लाभ उठाने के इच्छुक' नौजवान नवस्नातकों की इच्छा का लाभ उठा कर अल्प वेतन पर उनकी नियुक्ति। यदि किसी शिफ्ट-इंचार्ज के साथ, खास करके रात की शिफ्ट के इंचार्ज के साथ, ये नये लोग या नौसिखुए लगा दिये जाते हैं तो एक और मुसीबत आ जाती है। इन नौसिखुओं से सहायता मिलने को कौन कहे उलटे परेशानी ही मिलती है। इनमें से कुछ कितने ही मेधावी क्यों न हों, अभ्यास और अनुभव की दृष्टि से वे भी कमजोर ही होते हैं। उनके अनुवाद देखने, उनमें संशोधन करने, बीच-बीच में शब्दों तथा वाक्यों के अर्थ बताने तथा अंग्रेजी का व्याकरण समझाने में कम-से-कम एक तिहाई समय तो गँवा ही देना पड़ता है। इस स्थिति में रात के सम्पादकों की संख्या 'डेढ़' से एक हो जाती है। शिफ्ट सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और काम करने वाला सिर्फ एक ! बोलिए यह ज्यादती नहीं तो और क्या है और इससे

काम कब तक बिना बिगड़े रह सकता है । इस स्थिति में भी सहानुभूति और उदारता के बजाय आतंक-प्रवृत्ति से पेश आने वालों को क्या कहा जाय !

रात वाली शिफ्ट के इंचार्ज से यह आशा की जाती है कि वह सभी अधिक महत्त्वपूर्ण समाचारों को प्रथम पृष्ठ पर स्थान दे । चूँकि प्रथम पृष्ठ जो बाद में छूटता है, अतः यदि कुछ समाचारों के 'शेष' किसी अन्य पृष्ठ पर देकर पहले पर अधिक-से-अधिक ऐसे महत्त्वपूर्ण समाचारों को लेने की कोशिश की जाय तो यह भी प्रायः सम्भव नहीं होता, क्योंकि सभी अन्य पृष्ठ प्रायः पहले छूट जाते हैं । यदि कोई पृष्ठ प्रथम पृष्ठ के साथ छूटता भी हो तो उसके लिए कुछ दूसरे समाचार 'बुक्ड' रहते हैं—खेलकूद के, वाणिज्य-व्यवसाय के या स्थानीय । खेलकूद के, वाणिज्य-व्यवसाय के और स्थानीय समाचारों के सम्पादकों को भी चूँकि अधिक-से-अधिक समाचार देने पड़ते हैं और वे अनेक कारणों से समाचार कुछ संक्षिप्त नहीं कर पाते, अत. इनके पृष्ठों पर तो पहले पृष्ठ के शेष देने की कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती । और दूसरी बात यह भी होती है कि यदि ये पृष्ठ अन्य संस्करणों वाली शिफ्टों में खुलते न हों (पूरे चौबीस घंटे पर ही खुलते हों) तो उन पर शेष नहीं दिये जा सकते, क्योंकि जिन समाचारों के ये शेष होंगे उन्हें यदि निकाल देने की ही आवश्यकता होगी तो इन पृष्ठों को भी खोलना और उनके पलाग फिर से बनवाने पड़ेंगे । किसी समाचार का प्रारम्भ का हिस्सा निकल जाय और बाद का पड़ा रहे यह एक भद्दा बात ही तो होगी । और यदि पहले पृष्ठ के ये समाचार बिलकुल निकाले जाने के बजाय ऐसे किसी पृष्ठ पर देने पड़ें जो शेष वाले पृष्ठ के बाद पड़ते हों तो यह भी कुछ अच्छा नहीं माना जाता; कुछ अनिवार्य परिस्थितियों की बात अलग रही । पहले पृष्ठ का शेष दूसरे-तीसरे या बाद के अन्य किसी पृष्ठ पर तो देना ठीक है, किन्तु पाँचवें, छठे, सातवें या आठवें पृष्ठ के समाचारों के शेष दूसरे, तीसरे या चौथे पर देना गलत समझा जायगा । प्रथम पृष्ठ पर तो किसी अन्य पृष्ठ का शेष दिया ही नहीं जा सकता । ऐसी स्थिति में पिछले संस्करण जिन क्षेत्रों में जाते हैं उनसे सम्बन्धित समाचारों वाले पृष्ठ खोल कर उनमें से उन समाचारों को जो केवल उन्हीं क्षेत्रों के लिए आवश्यक होते हैं, हटा कर समाचार-शेष के लिए स्थान निकालने की व्यवस्था की जा सकती है । किन्तु, इन पृष्ठों को भी खुलवाने, समाचार हटवाने, पलांग फिर से तैयार करवाने और ढलवाने आदि की झंझट व्यवस्थापकमण्डल मोल क्यों लेना चाहेगा और फिर, रात में इतना समय भी कहाँ रहता है ।

प्रथम पृष्ठ पर अधिक-से-अधिक ताजे समाचार लेने के लिए उनके शेष अन्य पृष्ठों पर डालने की शिफ्ट-इंचार्ज की इच्छा और प्रयास के बावजूद उनके न लिए जा सकने के जो कारण बताये गये हैं उनमें सम्पादकों का ऐसा अभाव यानी 'सिर्फ दो-एक पर ही इतने सारे कामों की लदान' सर्वप्रमुख है। रात की शिफ्ट में अधिक सम्पादकों के होने की आवश्यकता के साथ ही अन्य सम्बन्धित विभागों में भी अधिक व्यक्तियों को रात में लगाने की आवश्यकता जितनी अधिक महसूस की जानी चाहिए उतनी व्यवस्थापक-मण्डल महसूस नहीं करता। रात में भी कम-से-कम व्यक्तियों से अधिक-से-अधिक काम लेने की संचालकों की प्रवृत्ति उन अखबारों में भी कम नहीं है जो काफी अच्छी आमदनी कर लेते हैं।

सीमित साधनों और अव्यवस्थाओं के बावजूद यदि रात की महत्वपूर्ण शिफ्ट का इन्चार्ज कम-से-कम ५-६ सर्वाधिक महत्वपूर्ण समाचार ले लेता है और उनके शीर्षक और महत्व-क्रम ठीक रखता है, उनके मुख्यांश ऊपर निकाल कर रख देता है, उसे कम-से-कम व्यवहार से और बातों से तो प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए और उसकी जब-तब की अनिवार्य भूल-चूक पर सहानुभूति का ही रुख अपनाना चाहिए। किन्तु, कुछ अखबारों में सम्पूर्ण कार्य-स्थिति या व्यवस्था पर विचार न करके व्यवस्थापकमण्डल के बजाय सम्पादकों के ही दोष निकालने की एक 'अत्याचारी नौकरशाही प्रवृत्ति' इतनी बढ़ गयी है कि बात-बात में जवाब-तलब होने का भय लगा रहता है, खास करके रात की शिफ्ट वालों को यह भय ज्यादा लगा रहता है। आतंक और भय की स्थिति में काम बिगड़ता ही है, योग्य से योग्य कर्मचारी का उत्साह ठंडा पड़ जाता है। अनेक पत्रों में अनेक ऐसे सम्पादक मिलेंगे जो तमाम अव्यवस्थाओं, असुविधाओं तथा न्यून वेतन के बावजूद, पत्रकार-कर्त्तव्य की भावना से अच्छा अखबार निकाल लेते हैं। किन्तु, ऐसे पत्रकार भी यह गारण्टी तो नहीं दे सकते कि उनसे साल में दो-एक भी छोटी-बड़ी भूल नहीं होगी। जहाँ परिस्थिति प्रतिकूल ही हो वहाँ रात की जटिल शिफ्ट में तो ऐसी गारण्टी शायद ब्रह्मा भी नहीं दे सकता।

रात की शिफ्ट के कार्यों की, यानी प्रातःकाल निकलने वाले संस्करण की, छान-बीन सबसे ज्यादा होती है। इस छानबीन मे सबसे पहले यह देखा जाता है कि अन्य स्थानीय समाचारपत्रों में – खास करके अंग्रेजी समाचारपत्रों मे

प्रथम पृष्ठ पर जो समाचार गये हैं उनमें से कौन-कौन से अपने समाचारपत्र में नहीं गये हैं। यह देखने वाले सम्पादक, प्रबन्ध-सम्पादक या व्यवस्थापक कम होते हैं कि अपने पत्र में भी तो कुछ ऐसे अधिक महत्त्वपूर्ण समाचार गये हैं जो दूसरे पत्रों में नहीं हैं। दूसरे पत्रों से मिलान की युक्तिहीन प्रवृत्ति से योग्य-से-योग्य व्यक्ति आतंकित से रहते हैं। वे बेचारे यह पूछने का भी साहस नहीं कर पाते कि उन पत्रों में प्रथम पृष्ठ पर जितने समाचार दिये गये हैं वे सबके सब क्या महत्वपूर्ण ही हैं?

बिना सोचे-समझे दूसरे पत्रों से मिलान करके जवाब-तलब किये जाने का एक उदाहरण देखिए—दूसरे स्थानीय पत्र में चालीस हजार रुपये की डकैती का एक समाचार दो-कालमी शीर्षक से छपा था, जबकि अपने पत्र में यह समाचार पाँचवें पृष्ठ पर एक-कालमी शीर्षक से बैठा था। यह एक-कालमी शीर्षक मोटे टाइप में ही था। इस पर 'प्रधान' की 'प्रेरणा' से यह जवाब-तलब कर दिया गया कि यह समाचार अपने पत्र में प्रथम पृष्ठ पर क्यों नहीं दिया गया? जवाब-तलब करने और कराने वालों ने यह देखने का 'कष्ट' और 'श्रम' नहीं की कि जबकि अपने पत्र में एक बैंक के काउण्टर पर से एक लाख रुपये लेकर एक व्यक्ति के भागने का समाचार प्रथम पृष्ठ पर था उक्त दूसरे स्थानीय समाचारपत्र में यह समाचार भीतर डाल दिया गया था। अब बोलिये, बैंक के काउण्टर पर से एक लाख की सनसनीखेज डकैती का समाचार अधिक महत्त्वपूर्ण था या साधारणतः होने वाली डकैतियों की तरह ४० हजार की डैकती का समाचार अधिक महत्त्वपूर्ण था। जवाब-तलब उस समय और अत्याचारपूर्ण या मूर्खतापूर्ण होता है जबकि अपने पत्र का प्रात. संस्करण दूसरे पत्र से कुछ पहले ही छोड़ देने के आदेश के बावजूद किया जाता है। यदि अपना पत्र हिन्दी का हुआ और दूसरा पत्र, जिससे मिलान किया जाता है, अँग्रेजी का हुआ तो यह मिलान अत्याचारपूर्ण या मूर्खतापूर्ण क्यों नहीं कहा जायगा? जब अपना अखबार तीन बजे रात में छूटता हो और अँग्रेजी अखबार साढ़े चार बजे छूटता हो तो अपने अखबार में तीन बजे और साढ़े चार बजे के बीच के समाचार कैसे आ सकते हैं। इस असम्भव को सम्भव कौन कर सकता है। तीन बजे से साढ़े चार बजे के बीच आये जो समाचार दूसरे पत्र में प्रकाशित हो जाते हैं उनके सम्बन्ध में पहले उनके प्राप्त होने के समय का पता लगाये बिना ही जवाब-तलब कर दिया जाता

है। समय का पता लगाने के लिए तार में उल्लिखित समय देखने का, समाचार समिति से पूछने का, कष्ट करने के बजाय सीधे शिफ्ट इंचार्ज से ही पूछा जाता है। इस तरह के जवाब-तलब अपवाद नहीं होते, अक्सर ही किये जाते रहते हैं। यदि उन समाचारपत्रों के छूटने का समय, जिनमें अँग्रेजी से अनुवाद करके समाचार देने होते हैं, वही हो जो किसी स्थानीय अँग्रेजी समाचारपत्र का, तब भी यह ख्याल रखना चाहिए कि अँग्रेजी समाचारपत्र अपने छूटने के समय तक के समाचार जितनी आसानी से ले सकते हैं उतनी आसानी से वे समाचारपत्र नहीं ले सकते जिनमें अंग्रेजी से अनुवाद करके समाचार देना होता है। अनुवाद करने में समय लगता है न। अंग्रेजी समाचारपत्र के सम्पादक तो प्रायः जरा-सी नजर डालकर शीर्षक लगाकर प्रेस में भेज देते हैं।

रात में किसी खास समाचार के बारे में यदि कुछ ऊहापोह करने या परामर्श करने की आवश्यकता हुई तो इसके लिए न तो समय मिल पाता है और न 'अधिक जिम्मेदार माना गया' उच्चतर सम्पादकीय अधिकारी। सारी जिम्मेदारी रात के 'डेढ़' व्यक्तियों पर ही पड़ जाती है। ये 'डेढ़' व्यक्ति कहाँ तक यह सोचें कि जिन समाचारों के बारे में परामर्श की आवश्यकता होती है उनके सम्बन्ध में स्वयं लिया गया निर्णय, अधिकारियों की दृष्टि में, कब सही और कब गलत मान लिया जायगा। व्यक्तियों के नाम लेकर लगाये गये अभियोगों या आरोपों के समाचारों या ऐसे ही अन्य विवादग्रस्त समाचारों के सम्बन्ध में उस समय बड़ी मुसीबत होती है जब वे नाम-मात्र के पारिश्रमिक पर नियुक्त बिलकुल साधारण योग्यता वाले अपने संवाददाताओं द्वारा भेजे गये होते हैं। कभी-कभी अपने अधिक योग्य और जिम्मेदार बताये गये संवाददाताओं द्वारा भेजे गये ऐसे समाचारों के देने में उच्चतर सम्पादकीय अधिकारियों तक को हिचक होती है और वे 'ऐसा कर दीजिए, वैसा कर दीजिए' कह कर छुट्टी पा जाते हैं। किन्तु यदि रात में अकेले पड़े 'डेढ़' सम्पादक हिचक में पड़ जाते हैं और ऐसे समाचारों को रोक लेते हैं या 'ऐसा-वैसा करके' उसे प्रकाशित कर देते हैं तो उन बेचारों को जवाब-तलब या 'अप्रिय पूछ-ताछ' का भय लगा रहता है।

मजा यह है कि अपना वही संवाददाता कभी जिम्मेदार बता दिया जाता है और कभी उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसके सभी समाचार आँख मूंद कर न दिये जायँ। इस सम्बन्ध में एक मजेदार उदाहरण यह है कि एक बार अपने एक स   द्वारा भेजा गया एक ही कुछ

समाचार स्वयं 'अधिकारी' द्वारा रोक लिया गया। जबकि वही समाचार नगर के दूसरे पत्र में सुबह प्रकाशित हो गया तब अधिकारी महोदय शायद मन ही-मन झेंप कर रह गये। किन्तु, उसके कुछ ही दिनों बाद एक अन्य समाचार के सम्बन्ध में रात में परामर्श न कर सकने की स्थिति में फिर ऐसा ही हो जाने पर वही अधिकारी सम्बन्धित सम्पादक से जवाब-तलब कर बैठा— यद्यपि सम्बन्धित सम्पादक के सामने सामान्य कठिनाइयों के अलावा कुछ और बड़ी कठिनाइयाँ भी थीं। खट-खप कर रात में सम्पादन-कार्य करने वाले के प्रति सहानुभूति दिखलाने को कौन कहे उस पर 'पत्र की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचाने का आरोप' थोप दिया गया और अनुशासन का प्रश्न खड़ा कर दिया गया। अतीत में स्वयं अधिकारी द्वारा इसी प्रकार के समाचारों के रोके जाने के तथ्य की ओर प्रकारान्तर से संकेत करके रात के सम्पादक ने जब नीति की बात उठायी तो 'निर्लज्ज अधिकारी' तिलमिला उठा और दूसरे पत्र में उसके संवाद-दाता का समाचार अधिक विश्वसनीय 'घोषित' करते हुए कड़ी कार्रवाई की धमकी दे बैठा। रात में यों ही जिसका काम तिगुना-चौगुना हो जाता है, जिस पर जिम्मेदारी अधिक लद जाती है, उसे कड़ी कार्रवाई करने की धमकी देना एक बड़ी ही क्रूरता है।

कोई सहृदय व्यक्ति जरा उस शिफ्ट-इंचार्ज की परेशानी, तनाव, चिन्ता और दूसरी मुसीबतों का अनुभव करे, जो साढ़े नौ बजे ड्यूटी पर आने के बाद साढ़े ग्यारह बजे ही दो-तीन संस्करणों के पृष्ठ तैयार करने के लिए प्रेस में चला जाता है और जिसे इन्हीं दो घण्टों में पिछले किये हुए तारों को देखने-मिलाने तथा मेज पर सैकड़ों तारों पर निगाह डालने और दो-दो, तीन-तीन, टेलिप्रिन्टरों से दनादन निकल रहे तारों को भी सम्भालने तथा छाँटने के अलावा व्यवस्थापक, कार्यपालनाधिकारी-सम्पादक को नियमित रूप में कुछ सूचना देने, बगल में बैठे साथी से परामर्श करने या उसे परामर्श देने जैसे और कई काम (जिनमें स्वयं कुछ लिखना भी शामिल है) करने पड़ते हैं।

सम्पादक रात में एक ओर पृष्ठ बंधवाता होता है और उसे यह चिन्ता लगी होती है कि जो-जो आवश्यक समाचार दिये गये हैं वे तैयार निकल रहे हैं या नहीं, दूसरी ओर उसके सामने दूसरे पृष्ठ तैयार होकर जब आते हैं तो उसे ५ मिनट के ही अन्दर शीर्षक, चित्रों के परिचय, समाचारों के प्रारम्भिक अंश फोलियो में तारीख और सन्—सब कुछ देख कर दे देना पड़ता है

क्योंकि मशीनमैन सर पर सवार रहता है। अक्सर जल्दी में या असावधानी से मेकअपमैन ब्लाक उलटा बैठा देता है, अतः यह भी देख लेना पड़ता है कि कहीं ब्लाक उलटा तो नहीं बैठा है। जब एक ओर ध्यान पृष्ठ पर लगा हो तब दूसरी ओर ५ मिनट में ही इतने सारे दूसरे काम निपटाने में, कभी-कभी कुछ गलती रह जाना स्वाभाविक है। लेकिन आँख मूँद कर जवाब-तलब करने वाले ऐसा समझें तब तो, उनमें मानवीय नहीं तो कम-से-कम व्यावसायिक उदारता ही हो, तब तो।

रात की शिफ्ट में जब इतना अधिक कार्य हो और अत्यन्त शीघ्रता का परिचय देना पड़ता हो तब गलतियों के सम्बन्ध में उदारतापूर्ण और मनोवैज्ञानिक रुख से काम लेना चाहिए, यही मान कर नहीं चलना चाहिए कि सारी गलतियाँ अयोग्यता और असावधानी के कारण ही होती हैं। यदि किसी एक राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री के मर जाने या अवकाश ग्रहण कर लेने के बाद नये राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री के नाम के स्थान पर कहीं पहले के राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री का नाम लिख जाय तो इसे गलती तो माना ही जायगा, किन्तु साथ ही यह समझना होगा कि बहुत दिनों से किसी एक राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री का नाम लिखते आने की जो आदत पड़ी रहती है उसकी वजह से नये नाम की जगह पुराना नाम लिख जाता है। इसी प्रकार 'प्रसोपा' और 'संसोपा' दो नाम कुछ ऐसे मिलते हैं कि अक्सर 'संसोपा' की जगह 'प्रसोपा' और 'प्रसोपा' की जगह 'संसोपा' लिख जाने का भय लगा रहता है। मोटे शीर्षक में यदि राष्ट्रपति वी० वी० गिरि की जगह राष्ट्रपति जाकिर हुसेन लिख जाय और संसोपा की जगह प्रसोपा लिख जाय तो यह भद्दी गलती जरूर है और इस पर जवाब-तलब किये जाने पर आपत्ति करना उचित नहीं है, फिर भी, ऐसी गलती करने वाले के पिछले कीर्तिमानों को भुला कर मूर्ख, अज्ञान या लापरवाह ही मान लेना न्याय नहीं होगा—खास करके रात की कठिनतम ड्यूटी में।

वस्तुतः एक ईमानदार पत्रकार, जो अपनी पत्रकारिता तथा अपने कर्त्तव्य के प्रति स्वयं चिन्तित और सजग रहता है वह रात की कठिनतम ड्यूटी के बावजूद अपनी किसी गलती पर स्वयं पश्चाताप कर लेता है। वह गलती हो जाने पर इसलिए चिन्तित नहीं हो उठता कि अधिकारी पता नहीं क्या जवाब तलब कर बैठे बल्कि इसलिए चिन्तित हो उठता है कि उसे पत्र की

पत्र के पाठक का ख्याल हो आता है और वह गलती में व्यक्तिगत हानि-सी बात का अनुभव करता है।

यदि बड़े-से-बड़ा विद्वान्, राजनेता, राजपुरुष या राजनीतिज्ञ हिमालयीय गलतियाँ कर सकता हो जब 'गलती होना सहज है' वाली उक्ति बहुत पहले से चली आ रही हो तब रात को, सुविधाओं से सर्वथा वंचित, स्थिति में ऐसे किसी सम्पादक से जो सामान्यतः योग्यता और सावधानी का परिचय देता आया हो, बहुत ज्यादा जवाब-तलब करना या किसी बड़ी गलती पर बार-बार लज्जित करने की कोशिश करना पत्र के लिए हितकर नहीं होता। जहाँ कम-से-कम आदमियों से अधिक-से-अधिक काम लिया जाता हो वहाँ ऐसा कुछ नहीं होना चाहिए कि काम करने वाले को कुछ मौखिक प्रोत्साहन भी न मिले और उलटे बात-बात में जवाब-तलब करके उसके मन को खिन्न और क्षुब्ध कर दिया जाय। कुछ बहुत ही साधारण गलतियों, जैसे 'दारागंज' की जगह 'काराजंग', 'अधिकता' की जगह 'अधिकला' रह जाने पर मौखिक रूप में या लिखित रूप में केवल ध्यान आकृष्ट कर देना काफी होगा, लिखित जवाब माँगना उचित नहीं होगा। जैसाकि एक उदाहरण में दिखाया गया है, कुछ पुराने समझदार और उदार सम्पादक अपने किसी सहयोगी से ऐसी गलती या या इनसे कुछ बड़ी गलतियाँ भी हो जाने पर प्रिय ढंग से उसका ध्यान आकृष्ट करके रह जाते थे। यदि लिखित रूप में जवाब-तलब करने की आवश्यकता होती थी तो बड़े शिष्ट और प्रिय शब्दों में जवाब-तलब किया जाता था। 'पत्रकार की रात' के प्रसंग में इन बातों का उल्लेख अनावश्यक नहीं कहा जायगा।

रात की ड्यूटी वाले एक सह-सम्पादक से अप्रिय ढंग से किये गये जवाब-तलब का एक उदाहरण देखिए :—"गत १५ सितम्बर के प्रातः संस्करण में पृष्ठ पाँच पर तीन-कालम का जो चित्र बैठा है उसमें आपकी असावधानी के कारण गलत चित्र-परिचय चला गया। अगर आपने चित्र-परिचय पढ़ा होता तो यह भयंकर भूल आप से न होती। कृपया बतायें कि आपने गलत चित्र-परिचय के साथ पेज पास क्यों किया।" देखिए, इस जवाब-तलब में स्पष्टीकरण माँगने के बजाय पहले से ही दोषी सिद्ध करके फैसला दे दिया गया है। पहले ही यह मान लिया गया कि सम्बन्धित व्यक्ति सावधान नहीं रहा और उसने चित्र-परिचय देखा ही नहीं सम्पादकीय विभाग की मर्यादा की दृष्टि से परम्परानुसार इस

जवाव-तलव की शब्दावली (यदि लिखित रूप में जवाब-तलब करना जरूरी ही समझा गया तो) इस प्रकार होनी चाहिए थी :—"गत १५ सितम्बर के प्रात संस्करण में पृष्ठ पाँच पर तीन-कालम का जो चित्र बैठा है उसमें चित्र-परिचय गलत चला गया। कृपया सूचित करें कि किन परिस्थितियों में ऐसा हो गया।" जवाबतलब करने के पूर्व उदारता और ईमानदारी से यह देखना चाहिए था कि जिससे जवाबतलव किया गया है उसने रात में कितनी मेहनत से प्रातः संस्करण के लिए काम किया था, कितने महत्वपूर्ण समाचार ले लिए थे और प्रथम पृष्ठ को कितना आकर्षक वनाया था। इस सम्वन्ध में एक बात यह थी कि उस पत्र के कार्यपालनाधिकारी-सम्पादक ने नहीं, एक नाममात्र के समाचार-सम्पादक ने कार्यपालनाधिकारी की ओर से जवाब-किया था, और अपने एक वरिष्ठ साथी से किया था। यदि वह कल तक अपने इस वरिष्ठ साथी से बड़ा नहीं था और यदि वह नाममात्र का ही समाचार-सम्पादक था तव तो उसे वैसी शब्दावली का प्रयोग नहीं ही करना चाहिए था। हाँ, यदि कार्यपालनाधिकारी-सम्पादक की 'प्रेरणा' से ही उसने कड़ी शब्दावली का प्रयोग किया तो वात दूसरी थी। लेकिन क्या कार्यपालनाधिकारी-सम्पादक के लिए ही यह उचित था कि वह ऐसी शब्दावली का प्रयोग करवाता। कुल मिला कर प्रश्न को सम्पादकीय विभाग की विशेष मर्यादा के रूप में लेना चाहिए था।

और देखिए—इस शब्दावली से क्षुब्ध हो कर सम्बन्धित सह-सम्पादक ने जो जवाब दिया उस पर कार्यपालनाधिकारी सम्पादक महोदय ने क्या लिखा। सम्बन्धित सह-सम्पादक ने यह बताया कि 'पेज-प्रूफ में चित्र-परिचय साफ नहीं उठा था और उन्होंने फोरमैन को फिर से मिलान कर लेने को कह दिया था (यह जिम्मेदारी फोरमैन को दी जाती रही और दी जाती है)। आगे उन्होंने यह आपत्ति की कि 'पहले ही आरोप लगा कर फैसला भी दे दिया गया है'। जव यह जवाव कार्यपालनाधिकारी-सम्पादक महोदय के सामने पेश किया गया तो उन्होंने यह अनुभव करने के बजाय कि 'सम्पादकीय विभाग के किसी सदस्य से इस शब्दावली में जवाव-तलब करना सम्पादकमण्डल की परम्परा और मर्यादा में नहीं आता' अपने नौकरशाही ढंग से सम्बन्धित सम्पादक की उत्तरदायित्वहीनता की ओर जाने किन किन बातों की चर्चा करते हुए यहाँ तक कह डाला कि 'आप प्रमाद के शिकार हैं। गम्भीरता से कुछ अधिक सोचे-समझे बिना. नौकरशाही सिद्धान्त के आधार, अपने 'गण' का ही

पक्ष लेते हुए उन्हें ऐसा ही लिखना भाया। उन्होंने उदारता और ईमानदारी से यह देखने की आवश्यकता नहीं समझी कि जिसको ये शब्द लिखे जा रहे हैं उसने रात की कठिन परिस्थिति में भी कुल मिलाकर काफी अच्छा अखबार निकाला है और इसलिए उसे इस एक भूल पर मानसिक कष्ट नहीं देना चाहिए।

रात की शिफ्ट के 'डेढ़' सम्पादकों की मुसीबतों और पीड़ाओं की कहानी संक्षेप में यह है—काम अत्यधिक, सुविधाएँ बिलकुल नहीं या नाममात्र की और ऊपर से गरदन पर लटकती हुई शिकायतों की तलवारें। जो समाचार-सम्पादक (सम्पादकीय विभाग का इंस्पेक्टर) केवल छिद्रान्वेषण के लिए ही नियुक्त किया गया मालूम पड़ता है उससे इतना भी तो नहीं होता कि रात की शिफ्ट शुरू होने के पहले पिछली दो या तीन शिफ्टों में लगे तारों के ढेर कम कर दे—आवश्यक समाचार निकाल कर रख दे, अनावश्यक फेंक दे और कुछ कम आवश्यक समाचारों को अलग रख दे, किये हुए तारों को इस प्रकार व्यवस्थित कर दे कि रात की शिफ्ट का इंचार्ज सरसरी निगाह से इन सब किये हुए तारों को देख सके। बक्से में एक ही समाचार के जो कई अंश अलग-अलग ऊपर-नीचे पड़े होते हैं उन्हें पिन करके एक साथ रख देने, किये हुए या किये जाने वाले तारों को प्रान्तीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्रम से लगाने या इसी तरह के कुछ और काम करने या किसी अन्य से कराने की बात तो समाचार-सम्पादक (जो समाचार-सम्पादक के महत्त्वपूर्ण पद की परिभाषा के अनुसार नहीं, नाममात्र के लिए समाचार-सम्पादक होता है) सोच ही नहीं सकता 'मोहरों की लूट कोयलों पर छाप' की जहाँ बात होती है वहाँ रात की महत्त्वपूर्ण शिफ्ट के लिए कहीं-कहीं तो इतनी भी सुविधा नहीं रहती कि अलग-अलग मेजें लगी हों ताकि तार व्यवस्थित ढंग से रखे जा सकें और वे इधर-उधर न हों। एक साथ लगी दो-एक मेज पर ही स्थानीय समाचारों के, वाणिज्य-व्यवसाय के समाचारों के और रात की शिफ्ट के सम्पादक सटे-सटे बैठे रहते हैं—यह भेड़ियाधसान भी काम में बाधक होता है।

रात की शिफ्ट का महत्त्व सर्वाधिक होने के कारण यह आवश्यक है कि अन्त तक कम-से-कम ४ व्यक्ति ड्यूटी पर रहें और उन्हें यथासम्भव पूरी सुविधा दी जाय। अपने पत्र के ही हित में यदि संचालक स्वयं ऐसा न करें तो कानून द्वारा ऐसी व्यवस्था किये जाने की माँग की जानी चाहिए कि यदि रात में काम बढ़ता है तो उसी वृद्धि के अनुपात में आदमी भी बढ़ाये जायँ। ऐसा न होने से सम्पादकों पर अत्याचार की वृद्धि तो होती ही है, साथ ही पत्र भी

दुर्दशाग्रस्त हो जाता है। एक अखबार में पहले करीब २० सम्पादक थे और सिर्फ एक टेलिप्रिन्टर लगा था। किन्तु जब उसमें एक और टेलिप्रिन्टर लगा तब सम्पादकों की संख्या घट कर करीब १५ रह गयी जो अगले कुछ ही दिनों में १२ हो गयी। इस अन्तिम संख्या में २-३ प्रशिक्षणार्थी थे, जिन्हें सिखाने-बताने में ही कम-से-कम एक आदमी की शक्ति लगती रही। इस प्रकार १२ की संख्या को वस्तुतः ६ ही समझना चाहिए। दो टेलिप्रिन्टर लगने से काम दूना नहीं तो ड्योढ़ा तो जरूर हो गया। इस ड्योढ़े काम के लिए प्रारम्भ की संख्या के हिसाब से जहाँ ३० आदमी लगने चाहिए थें वहाँ ६ थे, यानी काम का बोझ लगभग चौगुना हो गया। रात में तो इस बोझ को कम-से-कम पचगुना समझना चाहिए था—प्रातः संस्करण के महत्व, टेलिप्रिण्टर की बढ़ी रफ्तार तथा रात की अन्य परिस्थितियों को देखते हुए।

लेकिन अपने को 'महाप्राण' समझ कर बैठा 'कार्यपालनाधिकारी सम्पादक' या सम्पादक अल्पप्राण सह-सम्पादकों से अपेक्षा करता है कि वे अपनी दो आँखों से चार-छः आँखों का और अपने दो हाथों से चार-छः हाथों का काम लें। 'अँगूर और अँगूरी' से जिनके चेहरे लाल हों वे उनसे अधिक-से-अधिक सतर्कता और श्रम चाहते हैं जिनके मस्तिष्क की शिराओं में रक्त का प्रवाह, (उसके जैसे लोगों के ही कारण) प्रायः रुक-सा गया है, जिनकी प्रफुल्लता और प्रेरणा छिन गयी है तथा जिनके प्रति कम-से-कम 'गुड़ न दे गुड़ की-सी बात तो करे' की मनोवैज्ञानिक उक्ति भी नहीं अपनायी गयी है। ऐसा चाहने वालों को यदि स्वयं रात की शिफ्ट संभालने को दे दी जाय तो वे अपनी वजनी खोपड़ी लेकर भी बैठे रह जायेंगे। ऐसी ही एक वजनी खोपड़ी वाले का हाल देख लीजिए :—उनका लिखा हुआ एक समाचार प्रकाशनार्थ सम्बन्धित शिफ्ट-इन्चार्ज के पास भेज दिया गया, किन्तु उस पर शीर्षक नहीं लगा था; अतः सम्बन्धित शिफ्ट-इंचार्ज ने उनसे ही परामर्श करके शीर्षक देना ठीक समझा। शीर्षक पर परामर्श देने में उन्होंने बीस मिनट लगा दिये और फिर भी उसमें ऐसी भयकर तथा आपत्तिजनक भूल रह गयी कि दूसरे दिन 'सखेद भूल-सुधार' करना पड़ा। जवाब-तलब में 'माहिर' इस कार्यपालनाधिकारी-सम्पादक की अनेक भयकर भूलों का एक उदाहरण यह है कि जबकि उसने अपने एक सहयोगी को बुरी तरह इसलिए फटकारा था कि वह रात के काम के दबाव में 'फीरोजाबाद से दंगा' की जगह 'फीरोजपुर में दंगा' लिख गया, स्वय उसने अपने तथाकथित अग्रलेख म एक तीसरा ही नाम लिख दिया इस भले आदमी को इससे समझना

लिए था कि जिसको एक सीमित समय में कम-से-कम पन्द्रह-बीस या दस-बारह समाचार करने पड़ते हैं वह कैसे कर ले जाता है। सबक लेना और व्यक्ति को समझना तो दूर रहा, प्रमाद और डींग बढ़ती ही गयी।

अन्त में रात की शिफ्ट वाले पूरे सप्ताह में कुछ लोगों के सचमुच जागते रहने की एक दुःखद कहानी सुन ली जाय। हर व्यक्ति को औसत पाँच घण्टे सोना ही चाहिए; लेकिन कुछ पत्रकारों का सारा पत्रकार-जीवन बीत गया, किन्तु रात की शिफ्ट वाले सप्ताह में लगातार ४ घण्टे भी गहरी नींद में नहीं सो सके। युवावस्था तथा सामान्य स्वस्थता की स्थिति में तो लगातार तीन घण्टे भी गहरी नींद में सो लेने पर स्फूर्ति कुछ बनी रहती है, किन्तु उम्र बढ़ते जाने और पत्रकारिता के कष्टों से स्वास्थ्य गिरते जाने के कारण बाद में सिर्फ तीन घण्टे सो लेने से स्फूर्ति नहीं बनी रहती। यदि अलग एकान्त में सोने के लिए कोई कमरा या स्थान नहीं हुआ तो दिन में सो सकने का प्रश्न ही नहीं उठता। रात की शिफ्ट में काम करके लौटा पत्रकार करीब ढाई-तीन या तीन-साढ़े-तीन बजे घर पहुंचता है और नींद आते-आते चार बज जाते हैं। उसे सोये मुश्किल से दो घण्टे होते है कि गृहिणी उठ कर गृहस्थी के काम में लग जाती है और कितनी ही शान्ति से काम करना चाहे शान्ति नहीं रह पाती —दरवाजे खोलने, झाड़ू लगाने, बरतनों के आपस में टकराने की आवाजें वह नहीं रोक पाती और पत्रकार-पति की नींद टूट ही जाती है। इसी बीच बच्चों का भी जगना-बोलना, रोना-गाना शुरू हो जाता है। चलिए, बेचारे अखबारनवीस को जितना सोना था सो लिया। हाँ, जाड़े की रात हुई तो सूर्योदय देर से होने के कारण, तीन-चार घन्टे वह सो लेगा। गर्मी के दिनों में तो यदि एकान्त स्थान न मिला, मच्छडों और मक्खियों से रक्षा न हुई और अपने पास एक पंखा न रहा तो स्वस्थ से स्वस्थ पत्रकार को भी नींद नहीं आती और वह लगभग पूरे सप्ताह जागता ही रह जाता है। कितने ही अभागे पत्रकार ऐसे हैं और रहे हैं जो दस-पन्द्रह या पन्द्रह-बीस वर्ष ही नहीं, तीस-पैंतीस वर्ष का पत्रकार-जीवन बीत जाने पर भी अपने सोने के लिए कोई एकान्त स्थान और पंखे की व्यवस्था नहीं कर सके। यदि दिन में सोने की समुचित व्यवस्था कुछ ने कर भी ली तो प्रायः इसलिए जगते रह जाना पड़ता है कि मिलने-जुलने वाले मित्र या मेहमान आते रहते हैं।

जरा सोचिए तो जिन लोगा को पढ़ने लिखने के लिए समय की नितान्त

आवश्यकता बतलायी गयी है, उनका हर तीसरा या चौथा सप्ताह, यानी वर्ष में कुल तीन-चार माह, यों ही चला जाता है। कहीं-कहीं तो सिर्फ एक सप्ताह के अन्तर पर रात की ड्यूटी आती है। अपने पेशे के प्रति वफादार तथा निरन्तर पढ़ने-लिखने की आवश्यकता महसूस करने वाला पत्रकार अपनी स्वस्थता के लिए उतना चिन्तित नहीं रहता, जितना समय पाने के लिए रहता है। ऐसा पत्रकार साल में चार-छः या तीन-चार महीने का समय हाथ से इस प्रकार निकल गया देख कर कितना दुखी होता होगा, इसे उसके सिवा दूसरा कौन जान सकता है। काश, इस प्रकार दुःखी पत्रकारों की उपयोगिता समझ कर और साथ ही काम के लिए अपेक्षित स्फूर्ति की आवश्यकता का अनुभव कर पत्र के संचालक और व्यवस्थापक ऐसा करते कि रात ड्यूटी सदा ही सप्ताह के अन्तर पर न आकर दो सप्ताह के अन्तर पर आये।

पढ़ने-लिखने की रुचि वाले पत्रकारों को सामान्यतः रात की ड्यूटी प्रिय होती है और इनमें से कुछ तो बराबर रात की ही ड्यूटी करना चाहते हैं। किन्तु उनकी यह प्रियता, असुविधा-ही-असुविधा के कारण समाप्त हो जाती है। जब तक युवावस्था रहती है या स्वास्थ्य अच्छा बना रहता है तब तक तो वह असुविधाओं के बावजूद रात की ही ड्यूटी पसन्द करता है। रात में नये-नये समाचारों के माध्यम से सारे विश्व में सम्पर्क का जो एक आनन्द उसे अनुभव होता है, वह भी उसे रात की ड्यूटी पसन्द करा देता है। किन्तु उसकी इस पसन्द के बावजूद जब व्यवस्थापक-मण्डल प्रोत्साहन देने के बजाय अनावश्यक या जरूरत से ज्यादा खुचुर करने लगता है, बोझ पर बोझ लादता चला जाता है और जब पत्रकार सामान्य स्वास्थ्य खोने लगता है और तीन घण्टे भी न सो सकने के कारण दिन भर शिथिल रहने लगता है तब उसकी यह 'पत्रकारिता की रात', जिसे यहाँ प्रारम्भ में संयमी की रात या मुनि की रात कहा गया है, पीड़ा की रात हो जाती है—अपने लिए ही नहीं, पत्र के और पत्र के सुसम्पादन के लिए भी।

समाचारपत्र और पाठक

'समाचारपत्र और पाठक' विषय पर सही-सही मूल्यांकन और तथ्य-निरूपण करके कुछ लिखना आसान काम नहीं है। अपने पाठकों से दूर रहने वाला पत्रकार पाठकों को ठीक-ठीक समझने में गलती किये बिना नहीं रह सकता। उसी प्रकार पाठकों के निकट होते हुए भी पाठकों को ठीक से न समझने वाले पत्रकारों की संख्या कम नहीं है। कार में बैठ कर कार्यालय आने और कार में बैठ कर कार्यालय से जाने वाले पत्रकारों में से शायद चार-पाँच या हद-से-हद दस-पन्द्रह प्रतिशत पत्रकार ऐसे मिलेंगे जिनके पाँव उस धरती पर जब तब पड़ते रहते हों, जिस पर विपुल जन-समुदाय रहता है—वह जन-समुदाय जिसके पास कार को कौन कहे, साइकिल भी नहीं है।

ये पत्रकार 'जनता' को किसी विश्लेषणजनित स्पष्ट परिभाषा के अनुसार नहीं देख पाते और इसीलिए अपने पत्र के पाठकों के विभिन्न वर्गों के अलग-अलग मनोभावों, आकांक्षाओं और रुचियों का तथा उनके सुख-दुख का कोई यथार्थ चित्र उनके दिमाग में नहीं होता। ये पत्रकार काफी पढ़े-लिखे होते हैं और आराम से बराबर कुछ पढ़ते-लिखते भी रहते हैं, किताबों या पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जनता का एक परिचय भी इन्हें मिला होता है; किन्तु प्रत्यक्ष परिचय के माध्यम से, यानी अनुभव-पुस्तक के माध्यम से, समाज में वास्तविक पैठ के माध्यम से, जो परिचय मिल सकता है उससे ये वंचित रह जाते हैं।

ऐसे पत्रकारों के जनता से अपरिचित होने की बात तो समझ में आती है; किन्तु जनता के निकट रहते हुए जनता को न समझने वाले पत्रकारों के सम्बन्ध में विचार करना कुछ कठिन हो जाता है। कठिनाई का पहला कारण यह होता है कि ये भी तो कुछ बाबू प्रवृत्ति के हो जाते हैं अत वे बाबुओं

के ही साथ रह कर शेष जनता को ऊपर से ही, कुछ-कुछ समझने की कोशिश करते है। उनके पाँव धरती पर पड़ते हैं, वे गन्दी बस्तियों से होकर पैदल भी गुजरते हैं, वे प्रतिदिन सैकड़ों मैले-कुचैले, फटे-पुराने कपड़े पहने घूमते लोगों को देखते हैं, दीनता का उपहास करने वाले 'अहं के चित्र' भी उनके सामने आते रहते हैं, वे अपने से अधिक सम्पन्न लोगों द्वारा स्वयं अपमानित या उपेक्षित होते रहते हैं, अपने से अधिक सम्पन्न लोगों को देख कर स्वयं उनमें जो आकांक्षाएँ उत्पन्न हो जाती है उनकी पूर्ति न हो सकने के कारण स्वयं वे एक दैन्य का अनुभव करते हैं.........फिर भी वे पीड़ित, पददलित और अपमानित जनता को सहानुभूतिपूर्वक अपने दिल और दिमाग में नहीं बैठा पाते। परिणाम यह होता है कि एक वास्तविक पत्रकार की हैसियत से पत्र और पत्रकारिता को जनता का जैसा परिचय प्राप्त करना चाहिए वैसा वे निम्नमध्यमवर्गीय पत्रकार भी नहीं प्राप्त कर पाते।

निम्नमध्यमवर्गीय पत्रकार के सम्बन्ध मे एक बात और है। चूँकि वह जन-सम्पर्क के एक महत्त्वपूर्ण पत्रकारिता-सिद्धान्त को पत्रकारिता के दृष्टिकोण से देख कर हृदयंगम नहीं कर पाता या परिस्थितिजन्य स्वार्थ के कारण ठेठ अर्थ मे सम्पर्कवादी हो जाता है, अतः कुछ स्थानीय या प्रान्तीय स्तर के राजनीतिक नेताओं या कुछ विशिष्ट सामाजिक कार्यकर्ताओं के बीच ही घूमता रहता है और उन्हीं के दृष्टिकोण से राजनीति और समाज का ज्ञान प्राप्त करता है। इस स्थिति में जनता का सही-सही चित्र उसके मस्तिष्क में नहीं उभरता। जनता का सही चित्र अपने मस्तिष्क में उभारने का मतलब यह होता है कि वह अपने को जनता के साथ आत्मसात् कर ले।

जनता के साथ आत्मसात् कर लेने का मतलब यह नहीं होता कि जनता को एक अविभाज्य इकाई के रूप में ही ग्रहण किया जाय। जनता में उद्योग-पति, राजे-महाराजे, धनी किसान, मध्यम किसान, गरीब किसान, खेतिहर मजदूर, औद्योगिक मजदूर, शहरी मध्यमवर्ग एवं निम्नमध्यमवर्ग तथा अनौद्योगिक श्रमिक आते हैं। इन सब के कुछ अविभाज्य स्वार्थ—जैसे, विदेशी दासता से मुक्ति तथा विदेशी आक्रमण से रक्षा—होते हैं, और कुछ विभाजित स्वार्थ होते हैं। अविभाज्य एवं विभाजित दोनों स्वार्थों को देखने में वही पत्रकार सफल हो सकता है, जो अपने व्यक्तिगत सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर ही अपनी बुद्धि को नहीं आधृत रखता। ऐसी सफलता

प्राप्त करना सभी पत्रकारों के वस की बात हो सकती है—ऐसा समझ लेना या मान लेना पूर्णतः तो सही नहीं है, किन्तु यदि कोई पत्रकार निश्चय कर ले, तो ऐसी सफलता उसके वश की बात हो जायगी। यदि ऐसा हो गया तो पत्रकार विषम परिस्थितियों में भी अपने बुद्धि-कौशल एवं लेखन-चातुर्य से पत्र को—भले ही वह उसका अपना न हो—समाज का एक प्रतिबिम्ब बना सकता है और समाज के विभिन्न स्तरों को दृष्टि में रख कर सामग्रियाँ प्रस्तुत कर सकता है; यानी उन्हें सन्तोष दे सकता है।

अपनी व्यक्तिगत सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थिति की दृष्टि से पत्रकार किसी भी वर्ग का हो, उसे अपने से भिन्न सभी वर्गों को ठीक-ठीक समझना होगा, उनके मन और मस्तिष्क का पता लगाना होगा। ऐसा करके ही वह एक सच्चे और पूर्ण मनोविज्ञानवेत्ता या समाजशास्त्री का परिचय देगा और अपने पत्र को लाभान्वित करायेगा।

'समाचार पत्र और पाठक' विषय पर विचार करते समय हमें यह देखना और समझना होगा कि पत्र कैसे कैसे और किन किन पाठकों के बीच जाता है और जा सकता है। जिसे सर्कुलेशन (प्रसार) कहते हैं उसका मुख्य सूत्र यही एक विचार है। इस सूत्र को प्रथमतः संचालक, व्यवस्थापक या प्रसार व्यवस्थापक को नहीं, पत्रकार को ही समझना चाहिए। किन्तु इसे समझने में यदि पत्रकार सामाजिक गठन के अध्ययन का सहारा नहीं लेता यानी अविभाज्य तथा विभाज्य स्वार्थों एवं रुचियों का ज्ञान नहीं रखता तो वह भी विफल हो जायगा।

कुछ प्रकाशन-सामग्रियों— समाचार, 'पाठकों के पत्र,' लेख, कविता, कहानी आदि— में सबकी सामान्य रुचि हो सकती है, किन्तु शेष प्रकाशित सामग्रियों के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। अस्तु, आधारभूत समस्या है सबकी रुचियों के अनुसार समाचार प्रस्तुत करने की। यह तो किसी भी पत्र के लिए सम्भव नहीं है कि वह जितनी सामग्रियाँ प्रस्तुत करे वे सब पाठकों की रुचि को तुष्ट करें। किन्तु यह तो सम्भव है ही कि कुछ-न-कुछ सामग्री सब की रुचि की रहे। सब की रुचियों का ख्याल रखते समय यह भी ख्याल रखना ही पड़ेगा कि जिस वर्ग में समाचार बिलकुल नहीं पहुँचता या कम पहुँचता है उस वर्ग की रुचि की सामग्रियों का अनुपात कहीं बहुत न बढ़ जाय—उदाहरण के लिए, यदि वकीलों के बीच कोई समाचारपत्र न पहुँचता हो तो ऐसी सामग्री

देना व्यर्थ है जिनमें केवल उनकी दिलचस्पी हो। यह बात दूसरी है कि अखबार उनके भी बीच पहुँचना चाहिए या पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिए। लेकिन दुर्भाग्य की बात तो यह है कि भारत में अभी भी वकीलों, जजों तथा उन्हीं की तरह के उच्च वर्गों के लोगों ने देशी भाषाओं के समाचारपत्रों के प्रति प्रेम नहीं दिखलाया है या बात यह है कि इन वर्गों को अँग्रेजी पत्रों से जैसी सन्तुष्टि होती है वैसी ही सन्तुष्टि देने में देशी भाषाओं के पत्र समर्थ नहीं हो सके हैं। यदि अँग्रेजी के मोह के कारण ही देशी भाषाओं के पत्रों के प्रति प्रेम नहीं हो पा रहा है तो दोष इन्हीं वर्गों का है, और यदि देशी भाषाओं के पत्र सचमुच अपना स्तर नहीं ऊँचा कर सके हैं तो दोष इन पत्रों का माना जायगा। देशी भाषा के पत्रों के स्तरोन्नयन की समस्याओं में सही अनुवाद, अर्थ का अनर्थ न होने की निश्चयात्मकता, भाषा की एकरूपता और शुद्धता तथा शुद्ध मुद्रण एवं प्रूफ-संशोधन की समस्या सर्वप्रमुख है। शायद इसी सर्वप्रमुख समस्या का समाधान न होने के कारण ही वे उन लोगों को आकृष्ट नहीं कर सके हैं जो अँग्रेजी पत्र ही पढ़ते हैं।

यह सही है कि एक समाजशास्त्री और मनोविज्ञानवेत्ता की हैसियत से, पाठकों का वर्गीकरण करना, यह जानना कि 'समाचारपत्र कैसे और किन-किन लोगों के बीच पढ़े जाते हैं' और अंत में सभी वर्गों के मन और मस्तिष्क का पता लगाना पत्रकार का ही काम है। किन्तु पहला प्रश्न तो यह है कि ऐसे पत्रकार कहाँ मिलेंगे और यदि मिलेंगे तो उनकी संख्या कितनी होगी। फिर दूसरा प्रश्न यह आता है कि उन पत्रकारों की सुनता कौन है। और यदि कोई सुन भी ले तो उनके विचारों के अनुसार हर तरह के पाठकों के बीच बिक्री कैसे बढ़ायी जाय यानी हर वर्ग के पाठकों को पत्र की ओर आकृष्ट कैसे किया जाय? यहीं सारा मामला आकर अटक जाता है, क्योंकि इस प्रश्न का सम्बन्ध अर्थ से है, जो पत्रकार के बस की बात नहीं है। वित्त की व्यवस्था तो पत्र-संचालक को ही करनी होगी और पत्र-संचालक का दृष्टिकोण प्रथमतः आर्थिक ही होगा।

साधारणतः लोग यही समझते हैं कि प्रत्येक पत्र-संचालक की दिलचस्पी पत्र की बिक्री बढ़ाने में यानी अधिक से अधिक पाठकों के पास पत्र पहुँचाने में ही होती है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। कुछ थोड़े से ही पत्र-संचालक ऐसे होते हैं जो पत्र का प्रसार बढ़ाने में कुछ विशेष दिलचस्पी लेते हैं- किन्तु बिक्री बढ़ाते

जाना ही इनका सर्वप्रमुख उद्देश्य नहीं होता। यदि बिक्री बढ़ने से अधिकाधिक विज्ञापनदाता आकृष्ट होते हैं और विज्ञापन की दर बढ़ती जाती है तभी ये भी बिक्री बढ़ाते हैं। शायद ही कोई ऐसा पत्र-संचालक होगा जो लोगों में, अधिक-से अधिक लोगों में, अखबार पढ़ने की रुचि बढ़ाने के ही उद्देश्य से पत्र निकालता हो और आर्थिक स्वार्थ को गौण मानता हो। प्रचार के लिए निकाले जाने वाले दलीय पत्रों के सामने आर्थिक स्वार्थ गौण मान लिया जा सकता है! किन्तु, यदि प्रसार बढ़ते जाने से घाटा होता है तो बिक्री बढ़ाने में इन दलीय पत्रों की भी दिलचस्पी समाप्त हो जाती है। प्रसारवृद्धि में एक बड़ी बाधा और है—वह है अखबारी कागज का ब्लैक करने की प्रवृत्ति।

बात यह है कि पत्र का जो मूल्य होता है उससे पत्र का खर्च निकालने की बात सोची भी नहीं जा सकती, क्योंकि एक प्रति की औसत लागत जितनी होती है उससे अधिक मूल्य रखना आज की परिस्थितियों में असम्भव है। इस समय हमारे देश में आठ पृष्ठों के अखबार की प्रत्येक प्रति का मूल्य सामान्यतः जो है उसमें यदि कोई पत्र-संचालक दो-चार पैसे की वृद्धि करना चाहे तो नहीं कर सकता है। हाँ, अपने पत्र को अधिक आकर्षक और कुछ विशिष्ट बना सकने पर ऐसा कर सकता है। किन्तु यहीं एक दूसरा प्रश्न भी तो उठता है कि अधिक आकर्षक और विशिष्ट बनाने के लिए जितने खर्च की आवश्यकता होती है उतना खर्च क्या बढ़े हुए मूल्य से निकल आयेगा? वस्तुतः पत्र का चलते रहना विज्ञापन पर ही निर्भर करता है। विज्ञापन से होने वाली आमदनी पत्र के मूल्य से होने वाली आमदनी की कम से कम दूनी अवश्य होनी चाहिए।

अस्तु पत्र-संचालक की पहली दिलचस्पी विज्ञापन में होती है। पत्र का वितरण बढ़ाने में उसकी दिलचस्पी केवल इसलिए होती है कि विज्ञापनदाता यह देखना चाहता है कि पत्र का वितरण कम तो नहीं है। यदि अखबारों का प्रसार बढ़ाने का प्रयास होता है तो यह लोगों में अखबारी भूख पैदा करने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि प्रसार-वृद्धि से पत्र के उच्चतर श्रेणी में आ जाने पर विज्ञापन के अलावा और भी कई लाभ होते हैं। लेकिन यहाँ यह भी तो देखने में आता है कि अधिकांश समाचारपत्र गलत पाठक-संख्या प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। एक बात और :—यदि उच्चतर श्रेणी में पहुँचने में काफी समय लगने की बात होती है या कोई दूसरी कठिनाइयाँ दिखलायी देती हैं तो प्रसारवृद्धि की झंझट मोल न लेने का विचार प्रधान हो जाता है

शायद यह बात बहुत कम लोगों को मालूम है कि कुछ ऐसे समाचारपत्र हैं जिनका सर्कुलेशन नाममात्र का है या बिलकुल है ही नहीं, फिर भी वे गड़बड़घोटाले वाले समाज और शासन में जीवित रहते है—विज्ञापन और कागज का कोटा प्राप्त करने का लाभ उठाते हुए। 'पाठकविहीन' इन पत्रों की उतनी ही प्रतियाँ छपती हैं जितनी विज्ञापनदाताओं और कुछ खास-खास व्यक्तियो तथा कार्यालयों के पास पहुँचाने की आवश्यकता होती है। ये पत्र एक ओर विज्ञापनदाताओं को ठग कर विज्ञापन प्राप्त करते हैं और दूसरी ओर सरकार को ठग कर अखबारी कागज का कोटा। ऐसे पत्रों के लिए पाठकों का मूल्य भला क्या हो सकता है ?

इस प्रकार कुल मिला कर देखा जाय तो, निष्कर्ष यही निकलता है कि पत्र-संचालन में कहीं भी पाठकों का स्थान प्रधान नहीं है। प्रायः सभी पत्र-संचालकों के लिए पाठक एक गौण वस्तु है। जो समाचारपत्र विज्ञापनदाताओं और सरकार को ठगने के लिए ही निकलते हैं उन्हें पाठकों की संख्या बढ़ाने और पाठकों की रुचि के अनुसार सामग्री प्रस्तुत करने की आवश्यकता ही क्या है ? ऐसे पत्रों को भ्रष्टाचार के प्रतीक तथा पत्रकारिता के लिए अभिशाप के रूप में क्यों न देखा जाय !

यों तो रेडियो और टेलिविजन के इस युग में तत्काल समाचार मिलने की समस्या काफी हद तक हल हो गयी मानी जा सकती है, किन्तु विस्तार के साथ, अधिक-से-अधिक और विविध प्रकार के समाचारों के लिए अखबारों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। रेडियो के सम्बन्ध में एक बात यह भी तो है कि उसके समय से प्रसारित होने वाले समाचारों को सुनने के लिए समय से बँध जाना पड़ता है, जबकि समाचारपत्र कुछ आगे-पीछे या पहले और बाद में सुविधानुसार पढ़े जा सकते हैं। और फिर, एक तथ्य यह भी तो है कि बहुत से पाठक ऐसे हैं जो समाचार पढ़-सुन कर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते, वे विचार और समीक्षा भी चाहते हैं। ऐसे पाठकों की दृष्टि से तथा और कई दृष्टियों से इस रेडियो-युग में भी समाचारपत्रों का महत्व बना हुआ है और बना रहेगा।

किन्तु भारत-जैसे विशाल देश में, जो वायुयान सेवा तथा परिवहन एवं संचार-साधनों की दृष्टि से अभी भी अनेक देशों में पिछड़ा हुआ है, हर क्षेत्र मे पाठकों की सेवा में अधिक-से-अधिक ताजे समाचार पहुँचाने की समस्या

बनी हुई है। जिन नगरों से समाचारपत्र निकलते हैं, उनके तथा आस-पास के निवासियों के पास तो वे शीघ्र पहुँच जाते है, किन्तु जिन नगरों से समाचारपत्र नहीं निकलते उनके और आस-पास के क्षेत्रों के पाठकों को दूसरे नगरों से आने वाले समाचारपत्रों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। और ये समाचारपत्र उन्हें ६ घण्टे से लेकर २४ घण्टे बाद मिलते हैं, यानी इन बेचारे पाठकों को नसीब में बासी ही समाचार बदे होते हैं। यह बात दूसरी है कि अखबार में और उसके मुखपृष्ठ पर प्रकाशित समाचारों के साथ तारीख एक दिन आगे की लगी होती है।

पाठकों के प्रति ईमानदारी और न्याय की दृष्टि से यह बात भी कम विचारणीय नहीं है कि कुछ ऐसे नगर भी हैं जहां से समाचारपत्र निकलते तो हैं, किन्तु वहां टेलिप्रिन्टर-लाइन ही नहीं है। इन नगरों से निकलने वाले समाचारपत्रों से पाठकों को भला क्या सन्तोष हो सकता है! जिन नगरों में टेलिप्रिन्टर-लाइन पहुँची है उनमें भी तो ऐसे समाचारपत्र हैं जिन्होंने टेलिप्रिन्टर नहीं लगवाए हैं। ऐसे अखबार दूसरे अखबारों की कतरनों या बासी समाचारों के अनुवाद से भरे होते हैं। हाँ, कहने के लिए, रेडियो से लेकर दो-चार ताजे समाचार जरूर प्रकाशित कर दिये जाते हैं। यों तो जिन समाचारपत्रों में टेलिप्रिन्टर लगे होते हैं उनमें भी परिस्थितिवश कुछ-न-कुछ समाचार बासी हो ही जाते हैं, किन्तु पाठकों के साथ वैसी बेईमानी नहीं होती जैसी बिना टेलिप्रिन्टर वाले समाचारपत्रों से होती है। बिना टेलिप्रिन्टर वाले समाचारपत्रों का यदि कुछ महत्व हो सकता है तो केवल स्थानीय समाचारों की दृष्टि से। किन्तु, यह महत्व भी तभी माना जा सकता है जबकि समाचार-संग्रह की व्यवस्था उन्नत हो—आर्थिक दृष्टि से और संवाददाताओं की योग्यता की दृष्टि से।

यदि अखबार, निकलने के ६ घण्टे बाद तक पाठकों के हाथ में पहुँच जाय तो वह बासी नहीं भी कहा जा सकता। किन्तु जिस स्थान से टेलिप्रिन्टर-सेवा से युक्त समाचारपत्र निकलते हैं वहाँ बाहर से आने वाले समाचारपत्रों की खपत तब तक नहीं हो सकती जब तक कि स्थानीय समाचारपत्रों से उनमें कोई भिन्नता और विशेषता न हो। परन्तु बाहर से आने वाले समाचारपत्रों की कितनी ही विशेषताएँ क्यों न हों और उनकी व्यवस्थाएँ कितनी ही उन्नत क्यों न हों वे कुछ-न-कुछ तो पिछड़ ही जायेंगे। जाहिर है कि कानपुर और लखनऊ से

लाकर जो अखबार इलाहाबाद में बेचे जायेंगे उनमें रात के दस-ग्यारह बजे के बाद की खबरें नहीं होंगी, जबकि इलाहाबाद से ही निकलने वाले अखबार ३ बजे तक की खबरें लेकर बाजार में आयेंगे। यही बात इलाहाबाद से निकलने वाले अखबारों की कानपुर और लखनऊ में बिक्री के सम्बन्ध मे है। बाहर से आने वाले समाचारपत्रों में यदि उसके संवाददाता की अपनी विशिष्टता और पहुँच के कारण कुछ अधिक और विशेष स्थानीय समाचार हों तो भी उसकी बिक्री कुछ हो सकती है, किन्तु यहाँ भी यह सम्भव नहीं है कि गुण तथा परिमाण दोनों दृष्टियों से प्रतिदिन स्थानीय समाचारपत्र से होड़ ली जा सके।

जो कुछ भी हो, कुछ समाचारपत्र दूसरे समाचारपत्रों के गढ़ में भेजे ही जाते हैं, भले ही सौ-पचास या दो-चार सौ से अधिक प्रतियाँ न खपें। जैसाकि पहले बताया गया है, अखबार के मूल्य से साधारणतः पूरी लागत भी नहीं निकल पाती, मुनाफा तो दूर रहा। ऐसी स्थिति में दूसरे नगर में कार या जीप से अखबार पहुँचाने और वहाँ अपना एक कार्यालय चलाने पर सैंकड़ों रुपये महीना खर्च करने में आखिर क्या तुक है? यही मुख्य रूप से एक ही बात समझ मे आती है - स्थानीय विज्ञापनदाताओं को आकृष्ट करने के उद्देश्य की। पत्र के संचालक शायद यह समझते है कि विज्ञापनदाताओं पर यह प्रभाव डाला जा सकता है कि यहाँ पत्र की इतनी खपत है या इतनी माँग है तभी तो सैंकड़ों रुपया महीना खर्च किया जाता है। इस समझ से 'पाठकों को सचमुच ताजे और विशेष समाचारों से आकृष्ट करने के उद्देश्य' का मेल भला कैसे बैठ सकता है?

प्रसार में दिलचस्पी कितनी

अपने देश की ही स्थिति को सामने रख कर विश्लेषण करने पर समाचार-पत्रों को बुनियादी तौर पर दो भागों में बाँटा जायगा—विशुद्ध अर्थवादी तथा विशुद्ध प्रचारवादी। विशुद्ध अर्थवादी समाचारपत्र व्यक्ति विशेष के आय के एक साधन के रूप में निकलते हैं। उनका स्वरूप मुख्यतः व्यावसायिक होता है यानी उनके संचालक जीविका के लिए कोई और पेशा न अपना कर अखबार का ही पेशा अपना लेते हैं या ऐसा होता है कि किसी अन्य व्यवसाय के अंग के रूप में समाचारपत्र चलाये जाते हैं। यों तो देश की आर्थिक एवं सामाजिक संरचना में ऐसे पत्रों के संचालकों का भी कोई सामूहिक सामाजिक-आर्थिक

स्वार्थ होता ही है या हो जाता है, किन्तु हम इन्हें विशुद्ध अर्थवादी ही मान कर चलेंगे। 'आय और अधिकाधिक आय' ही इनका सर्वप्रथम उद्देश्य होता है। इनमें पाठकों की संख्या बढ़ाने में बिलकुल दिलचस्पी न लेने वाले, कुछ ही हद तक दिलचस्पी लेने वाले और विशेष दिलचस्पी लेने वाले—तीनों तरह के—पत्र-संचालक होते है। जैसाकि पहले दिखाया गया है, इनकी दृष्टि विज्ञापन पर ही रहती है। यदि ये 'बिना पाठकों के ही' विज्ञापन हस्तगत कर लेते है और पाठकों की संख्या बढ़ाने से कोई लाभ नहीं दिखायी देता तो इनके लिए पाठक दिलचस्पी का कोई विषय नही रहता, यदि पाठकों की संख्या अधिकाधिक बढाने से विज्ञापन की आय भी अधिकाधिक बढ़ती दिखायी देती है तो पाठक इनकी दिलचस्पी का विषय हो जाते हैं।

विशुद्ध प्रचारवादी समाचारपत्रों में पहले वे आते हैं जिन्हें निकालने वालों का एक व्यापक आर्थिक प्रभुत्व समाज पर होता है तथा जिनकी आय के और भी अनेक साधन होते हैं। इन समाचारपत्रों की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दिलचस्पी इस बात में होती है कि औद्योगिक-युग तथा आद्यौगिक-सभ्यता एवं संस्कृति के साथ विकसित लोकतन्त्र को अपरिवर्तित रूप में कायम रखा जाय, उसका ढोल पीटा जाय, सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों की सहज इच्छा को रोका जाय। लेकिन, यह सब कुछ इस ढंग से होता है कि उन पाठकों की पकड़ मे नही आता, जिन्हें 'नीर-क्षीर विवेक' प्राप्त नही होता या जिनकी कोई सामाजिक दृष्टि नहीं होती। जो कुछ भी हो, इनमें समाचारों की विविधता रहती है और इनमें वे समाचार भी थोड़े-बहुत प्रकाशित होते रहते है जो इनके स्वामियों के पूरे वर्ग के विरुद्ध होते हैं। यदि ऐसे किसी पत्र-स्वामी के व्यक्तिगत हित के विरुद्ध कोई समाचार अखिल देशीय महत्व का हो जाता है तो वह भी उस पत्र में—कुछ कम महत्वपूर्ण ढंग से ही सही—प्रकाशित हो जाता है। हाँ, सम्पादकीय स्तम्भ को पूरी तरह से पत्र-स्वामी के हितार्थ सुरक्षित रखा जाता है। अब तक की स्थिति यही रही, निकट भविष्य में क्या होगी, यह बात घटनाक्रम पर ही निर्भर करती है। अतः कुल मिला कर ऐसे पत्रों को पाठकों के लिए पूर्णतः नहीं तो काफी हद तक तो सन्तोषप्रद माना जा सकता है।

किन्तु, दलीय पत्रों के बारे में ? जहाँ सारे देश में एक ही दल है या एक ही दल का राजनीतिक एवं शासकीय एकाधिकार है वहाँ की बात तो बिलकुल अलग है—वहाँ बेचारे पाठकों को झख मार कर एक दल के ही रंग मे रंगे

समाचार पढ़ने होंगे। नयी सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की स्थापना कर लेने का दावा करने वाले देशों के समाचारपत्र उसकी रक्षा के नाम पर बाहर की 'गन्दी हवा' से अपने पाठकों को बचाने का ही कर्त्तव्य पूरा करने में लगे रहते हैं और इस प्रकार अपने पाठकों को विविधता से वंचित रखते हैं। दूसरी ओर उन देशों या समाजों के दलीय पत्र आते हैं, जिनमें जनता अनेक दलों के बीच बंटी रहती है और अपनी किसी सामूहिक समस्या को ठीक-ठीक नहीं समझ पाती। एक तरह से यह दल-बाहुल्य जनता को, जिसमें समाचारपत्र-पाठक भी हैं ही, पुरानी आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था में उलझाये रखता है।

आज संसार के तमाम दल मुख्यतः दो प्रमुख परस्पर-विरोधी धाराओं का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। जो दल इन दो धाराओं का प्रतिनिधित्व साफ-साफ करते हैं उनके द्वारा संचालित पत्रों के पाठकों का भ्रम तो शायद कुछ कम भी हो, किन्तु जो दल कुछ ऐसे बन जाते है, मानो वे इन दो प्रमुख परस्पर-विरोधी धाराओं से सर्वथा असंपृक्त हैं और अपनी अलग स्वतन्त्र सामाजिक धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे अपने पाठकों को सामाजिक विकास के वैज्ञानिक विधान को समझने ही नहीं देते। इतना ही नहीं, वे पाठकों को रोचकता और विविधता से प्रायः वंचित रखते हुए भी उनके दिमाग पर अपने ही दल के समाचार लादे रहते हैं।

सारे संसार में दलीय समाचारपत्रों की स्थिति प्रायः एक-सी है, फिर भी कुछ दलीय समाचारपत्र अपनी परिधि के बाहर भी जाने की कुछ कोशिश करते हैं। जहाँ तक अपने देश के ऐसे दलीय समाचारपत्रों का सवाल है, शायद ही वे कुछ दीर्घजीवी रहे हों। हाँ, सत्ता पर बहुत दिनों से एकाधिकार कर बैठे दल की बात अलग है। इन समाचारपत्रों के मुखपृष्ठ दल के ही समाचारो, खास करके दल के नेताओं के भाषणों या वक्तव्यों, से भरे होते हैं। यदि इन समाचारों, भाषणों और वक्तव्यों के जवाब में या खण्डन में कोई बात हो तो पाठकों को उनसे वंचित ही रह जाना पड़ेगा या उनके लिए दूसरे अखबार पढ़ने पड़ेंगे। ऐसी स्थिति में उनकी अकाल मृत्यु न हो तो यही आश्चर्य की बात होगी।

जबकि एक ओर पत्र-स्वामियों के स्वार्थों तथा विचारों और उनकी रुचियो की ही प्रधानता स्पष्ट हो और दूसरी ओर पाठकों के अपने अलग-अलग स्वार्थों तथा विचारों और उनकी रुचियों का प्रश्न हो तो इस एक तरह से टकराव

की स्थिति कहा जायगा और सामंजस्य कुछ कठिन होगा। इस स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि समाचारपत्र प्रथमतः पाठकों के लिए ही निकलते हैं। जैसाकि पहले इंगित किया जा चुका है, कम-से-कम कुछ समाचारपत्र तो ऐसे हैं ही जिनमें मालिकों को अपने व्यावसायिक एवं वर्गगत स्वार्थों की ही दृष्टि से यह ख्याल रखना पड़ता है कि अखबार बिके और अच्छी तरह बिके यानी उसे अधिक-से-अधिक लोग पढ़ें। ऐसे समाचारपत्रों के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे सिर्फ उनके लिए ही नहीं निकलते जो उन्हें निकालते हैं। यदि यह बात है तो इनसे विविधता की और पाठकों की अलग-अलग रुचि पर ध्यान रखने की आशा की जा सकती है। इस एक आशा को लेकर ही हम कुछ सामंजस्य की बात कह सकते हैं। जिन समाचारपत्रों का उद्देश्य पाठकों की संख्या बढ़ाना है ही नहीं या जो बिलकुल पाठक-विहीन हैं, उनके बारे में तो कहीं कोई सामंजस्य का प्रश्न ही नहीं उठता।

अस्तु, राजनीतिक दृष्टि से हो या आर्थिक दृष्टि से, यदि पाठकों की संख्या बढ़ाना आवश्यक है तो पाठकों की रुचि, प्रवृत्ति और स्वार्थ का ख्याल रखना ही पड़ेगा। यह बात दूसरी है कि ऐसा ख्याल रखते समय पत्रसंचालक अपनी रुचि और प्रवृत्ति तथा अपने स्वार्थ का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव पाठकों पर धीरे-धीरे बड़े ढंग से डालता चले। ये पत्रसंचालक या पत्र-स्वामी, जिनके आर्थिक लाभ या अन्यान्य स्वार्थ पूरी सामाजिक व्यवस्था से जुड़े होते हैं, यह तो नहीं ही सोच सकते कि वे अपने पत्र में सामाजिक व्यवस्था को बदलने वाले विचारों और भावनाओं को बिलकुल स्थान न दें, फिर भी अखबार खूब बिकता रहे। अतः इस अन्तर्विरोध में पाठकों को उन विचारों और भावनाओं के अनुकूल भी कुछ सामग्री मिल ही जाती है।

और यदि पाठक की पहले से चली आ रही रुचियाँ और प्रवृतियाँ तथा उसके विचार ऐसे पत्र-संचालकों की रुचियों, प्रवृतियों तथा उसके विचारों और स्वार्थों में बाधक नहीं हैं और उनके अनुसार सामग्री प्रस्तुत करने में पैसा लगाना अलाभकर नहीं है, तो पत्र-संचालक उन सबका ख्याल अवश्य करेगा, क्योंकि उनमें से अधिकांश ऐसी होती हैं जो पुरानी समाज-व्यवस्था को बदलने वाले क्रान्तिकारी विचारों को आसानी से ग्रहण नहीं करने देतीं। खैर, यह ख्याल भी कोई बहुत बुरा नहीं है। इससे पाठकों को, विविध सामग्रियाँ तो मिल जाती हैं। पाठकों की जो रुचियाँ प्रवृतियाँ सामाजिक प्रगति के विचारे

में न सहायक है और न बाधक उनके प्रस्तुत न किये जाने का तो कोई कारण ही नहीं हो सकता।

जो समाचारपत्र इस प्रकार रुचियों और विचारों का सामंजस्य रख सकते हैं और अपना प्रसार बढ़ाना चाहते हैं उन्हें पाठकों की कमी का रोना नहीं रोना पड़ता और न इसकी आवश्यकता पड़ती है। हाँ, स्वार्थ-विशेष से, जानबूझ कर, इस तरह रोना रोने और वास्तविक खपत से कम खपत दिखलाने की बात अलग है। हमें तो पाठकों की संख्या कम होने या उसके न बढ़ाये जा सकने का कोई कारण नहीं दिखलायी देता। यह सही है कि क्रय-शक्ति की कमी के कारण या आदत अथवा कुछ लोभ के कारण, कई पाठक एक ही पत्र से काम चला लेते हैं। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि समाचारपत्रों का वितरण बढ़ाने की अब कोई गुंजाइश ही नहीं है। जिन शिक्षित लोगों की क्रय-शक्ति ही बहुत कम है, उनकी बात छोड़ दीजिए! ऐसे शिक्षितों के बारे में सोचिये जो अखबार पढ़ना तो चाहते हैं, किन्तु अपना अखबार अलग से खरीद कर पढ़ने की आदत नहीं डाल सके हैं। ऐसे लोगों में आदत डाली जा सकती है। लेकिन, क्या इस दिशा में नयी 'प्रचारात्मक' एवं 'प्रयोगात्मक' सूझ-बूझ के साथ कोई प्रयास किया गया है? यदि नहीं तो, इसे करने की आवश्यकता महसूस करनी होगी।

प्रसार वृद्धि के इच्छुक पत्रसंचालकों का ध्यान इस तथ्य की ओर जाना चाहिए कि स्वतन्त्र भारत में जो एक नया मध्यम वर्ग पैदा हुआ है वह संख्या और नयी रुचियों की दृष्टि से पुराने मध्यम वर्ग से कहीं आगे है। साइकिल, स्कूटर, ट्रांजिस्टर, रेडियो, कलाई घड़ी आदि खरीदने की क्षमता और इच्छा भी बढ़ी है। तो फिर अखबार पढ़ने की भी इच्छा उसी अनुपात में क्यों नहीं बढ़ सकी और क्यों नहीं बढ़ायी जा सकी? स्वतन्त्रता के पूर्व शेष जनता और उत्तम रहन-सहन के आकांक्षी मध्यम वर्ग का अनुपात १९ और १ का था तो अब ७ और ३ बताया जाता है। क्या सामंजस्य के विचार के साथ इन पाठकों को नहीं पकड़ा जा सकता?

यह सही है कि जहाँ स्वामी, व्यवस्थापक और सम्पादक तीनों ने मिल कर 'परिमाण' को ही प्रमुखता दे रखी हो, 'गुण' को नहीं, वहाँ पाठकों को पूर्ण सन्तुष्ट करने की आशा करना व्यर्थ है। जहाँ पत्रकारिता की योग्यता के किसी सुनिश्चित एवं सुनियोजित मापदण्ड अथवा के आधार पर

नियुक्त किये गये लोगों का नहीं, बल्कि 'मार-मार कर हकीम बनाये गये लोगों' का ही बाहुल्य है और 'मार-मार कर हकीम बनाये गये' इन लोगों को आगे चल कर योग्य हकीम बनने का कोई रास्ता न दिखलाया गया हो और उनमे पत्रकारिता के गुरुतर दायित्व एवं योग्यता की प्रेरणा न भरी जा सकी हो, जहाँ नौकरशाही व्यवहारों के कारण अनुभवी, योग्य और साधक पत्रकारो का ठहरना मुश्किल हो या वे घुटघुट कर रह रहे हों, जहाँ एक ओर मित-व्ययिता के नाम पर पत्र के लिए आवश्यक खर्च में तो कटौती कर दी जाती हो और 'शीर्षबोझिल प्रशासन' पर खर्च बढ़ता ही जाता हो, जहाँ किसी तरह के उठे विवाद या संघर्ष को समाप्त करने के लिए दूरदर्शितापूर्ण कार्य न किये जाते हों और मुकदमेबाजी में पानी की तरह पैसे बहाये जाते हों यानी जहाँ 'मोहरों की लूट और कोयले पर छाप' वाली बात हो, वहाँ पाठकों की दृष्टि मे पत्र आकर्षक और उत्तम कैसे हो सकता है।

यहाँ हम उदाहरण के लिए 'परिमाण और गुण' की ही बात को पहले लेते हैं। यदि सम्पादकों के लिए कड़ाई के साथ यह आदेश दे रखा गया हो कि ६ घण्टे में ३॥-४ कालम मैटर अनुवाद करके देना ही होगा, तो भला यह कैसे हो सकता है कि अपना कोटा पूरा करने की ही धुन में लगे ये लोग कुछ सोच-समझ कर, विचार-विमर्श करके सटीक शीर्षक लगायें, समाचार की आत्मा पकड़ें और उसमें से अनावश्यक आवृत्ति जैसी चीज़ों को छोड़ते हुए तत्व की बातों को मक्खन की तरह निकाल कर रख दें। आखिर इन सब कामों में भी तो कुछ समय लगेगा ही। लेकिन समय मिले तब तो? नाम के लिए जो एक शिफ्ट-इंचार्ज होता है उस पर भी कुछ कोटा लाद दिया जाता है, जबकि उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह आते ही यह देखे कि पिछली शिफ्ट में कौन-कौन से समाचार दिये गये हैं और कौन से खास-खास समाचार रह गये हैं; फिर यह निर्णय करे कि किस समाचार को किस क्रम से दिया जाय, कितना महत्व दिया जाय और किन-किन कारणों से समाचारों की आवृत्ति हो सकती है, इस पर भी ध्यान रखे। जहाँ एक से अधिक टेलिप्रिन्टर लगे हों, समाचार-सेवा का कुछ और विस्तार कर लिया गया हो वहाँ भी यदि शिफ्ट-इंचार्ज पर कोटा लाद दिया जाय, तो यह उसके प्रति ही नहीं, पूरे पत्र के प्रति, यानी पाठकों के प्रति, अन्याय है, क्योंकि लाख चाहने पर भी वह यथोचित चयन नही कर सकता और काम में कितना भी तेज हो उसमें थोड़ी-बहुत घबराहट तो आ

ही जायगी जिसका कुछ प्रतिकूल प्रभाव काम पर पड़ेगा ही। काम के अत्यधिक बोझ के कारण कुछ-कुछ समाचारों की आवृत्ति भी होती रहेगी।

जो कुछ भी हो, जहाँ तक केवल पत्रकार की सेवा का सम्बन्ध है, जो पत्रकार प्रतिकूल परिस्थितियों से पीड़ित रहने के बावजूद अपने पत्रकार और अपनी पत्रकारिता के प्रति जागरूक और कुछ वफादार हो, जिसे जनवादी प्रकाश भी थोड़ा-बहुत मिला हो, जिसे एक दृष्टि प्राप्त हो गयी हो, जिसकी न्यूनाधिक विश्लेषणात्मकता तथा तर्क प्रवणता पर दास-भाव पूर्णतः हावी न हो गया हो वह एक हद तक पाठकों की सेवा तो कर ही सकता है। वह पत्र-स्वामी की प्रगतिविरोधी नीतियों में बँधे रह कर भी प्राप्त स्वतन्त्रता का यथोचित उपयोग करते हुए पाठकों की रुचि को स्वस्थ, सुन्दर और विकासोन्मुख बना सकता है। कम-से-कम इतना तो कर ही सकता है कि पाठकों की जो रुचि या प्रवृत्ति चली आ रही है उसे ही तुष्ट करता चले। एक औसत योग्यता वाला पत्रकार भी—सीमित शक्ति, सीमित समय और सीमित बुद्धि के बावजूद—अपने पाठकों को खुश कर सकता है, खुश रख सकता है, बशर्ते उसने दिमागी कार्यों का कुछ अभ्यास कर लिया हो, परिस्थितियों के साथ एक हद तक सामंजस्य स्थापित कर लिया हो और प्राप्त सामग्रियों में से ही पाठकों को कुछ नयी, कुछ रोचक बातें प्रस्तुत करने की सूझ प्राप्त कर ली हो। वह कालान्तर में 'लाइनें नहीं, लाइनों के बीच' पढ़ने की योग्यता भी प्राप्त कर सकता है और 'समाचार के पीछे समाचार' देख सकता है। परिस्थिति कितनी ही प्रतिकूल क्यों न हो, पत्रकारिता का सम्पूर्ण कार्यक्षेत्र ऐसा होता है कि उसमें अयोग्य भी योग्य बन सकता है। चूँकि वह बुद्धि-जगत का एक प्राणी समझा जाता है और उसे अन्य बुद्धिजीवियों का कहीं-न-कहीं सामना करना ही पड़ता है, अतः बुद्धिवाद की कुछ लाज रखने के लिए ही उसे थोड़ा बहुत प्रयास करते रहना पड़ता है। अपने इस प्रयास से वह पाठकों को खुश कर लेता है।

परिस्थितियों से पीड़ित रहने के कारण कुछ योग्य व्यक्ति भी उदासीन और निरुत्साह होकर 'किसी तरह काम निपटा दो' की प्रवृत्ति पाल लेते हैं और जो औसत दर्जे के लोग हैं वे अपनी योग्यता बढ़ाने की आवश्यकता केवल इसलिए नहीं समझते कि 'जैसा दाम वैसा काम' वाली दलील अपना लेते हैं। इन सब को यह होगा कि यदि इन्हें पत्रकार कहलाने का कुछ भी

मोह है और साथ ही पाठकों की कुछ सेवा करने की इच्छा है तो उन्हें ऐसी प्रवृत्तियों और दलीलों से मुक्त रहना पड़ेगा।

यदि एक दूकानदारी है

यद्यपि ध्यान से देखने पर मालूम यही पड़ता है कि पत्र वस्तुत: और प्रथमत उनके लिए ही निकलते हैं जो उन्हें निकालते हैं, और पत्रों के निकालने में उनका अपना एक उद्देश्य होता है—एक स्वार्थ होता है, तथापि यह सत्य है कि वे स्वयं तो ग्राहक नहीं हो जाते। पत्र का ग्राहक तो पाठक ही होता है जो चार, छः, बारह, पन्द्रह या बीस पैसे खर्च करके उसे पढता है। अतः यदि पत्र के ग्राहक बढ़ाने हैं, ग्राहकों की संख्या बढ़ा कर विज्ञापनदाताओं से अधिकाधिक विज्ञापन लेने हैं, तो पत्र को आकर्षक बनाना होगा— पृष्ठ-सज्जा की दृष्टि से और साथ ही सामग्री की दृष्टि से। यदि पत्रकारिता एक दूकानदारी है तो उसे दूकानदार और ग्राहक के सम्बन्धों की नीति के आधार पर रखना होगा। आखिर दूकानदारी को भी तो आज एक कला मान लिया गया है।

कोई दूकानदार अपने ग्राहक से यह नहीं कहेगा कि मुझे तो यह चीज़ पसन्द है, इसलिए आपको भी यही पसन्द होनी चाहिए। यदि वह अपनी निजी पसन्द की चीजें रखता भी है तो, यही सोच कर कि शायद ग्राहकों को भी पसन्द आ जायें। वह दूकानदारी की कला से अपनी कुछ घटिया चीजें भी खपा देता है—किसी तरह ग्राहक की दृष्टि में बढ़िया बना कर। आज के फैशन और प्रदर्शन के युग मे—जिसमें एक नया मध्यम वर्ग पैदा हो गया है या हो रहा है—केवल फैशन और प्रदर्शन के कारण सस्ती चीजें भी ऊँचे दामों पर बिक जाती हैं। सामान्यत: एक प्याला अच्छी-से-अच्छी चाय का दाम २५ पैसे होता है, किन्तु किसी आधुनिकतम रेस्तरां में उसी का दाम आप ८० पैसे क्यों देते हैं—इसी-लिए तो कि वहाँ एक मनोरम वातावरण में चाय की चुस्की लेते हुए आप किसी नृत्य-कार्यक्रम से अपने नेत्रों को भी तृप्त करते हैं। मतलब यह कि हर हालत मे ग्राहक को आकृष्ट करने की बात दूकानदार सोचता है, उसे सोचनी पड़ती है और उसे सोचनी चाहिए भी।

सामान्यत: समाचारपत्रों के संचालन के मामले में भी, दूकानदारी से सम्बन्धित उपर्युक्त विचार को एक हद तक ध्यान में रखते हुए, यह ख्याल रखना होगा कि समाचारपत्र की दूकानदारी का स्वरूप अन्य दूकानदारी के स्वरूप से भिन्न होता है यहाँ बौद्धिक दूकानदारी होती है समाचार

और विचारों के द्वारा एक ओर पत्र-संचालकों को कुछ बुद्धिजीवियों के बुद्धि-कौशल की सहायता से अपनी कुछ पसन्द लादते जाने का मौका मिलता है, तो वहीं दूसरी ओर यह भी देखना पड़ता है कि ग्राहकों के किसी हिस्से की ऐसी कोई पसन्द दबायी तो नहीं जा रही है, जो अपनी पसन्द, यानी अपने स्वार्थ, के सर्वथा विरुद्ध है। हमारे देश में लोकतन्त्र के नाम पर अभी तक जो स्थिति चल रही है उसमें पत्र-संचालकों के व्यक्तिगत या सामूहिक हितों के विरुद्ध भी कुछ पढ़ने को मिल ही जाता है। ऐसा न हो तो बहुत दिनों तक समाचारपत्र सर्वप्रिय नहीं बने रह सकते।

समाचारपत्र की दूकानदारी में कुछ ऊँचे आदर्शों तथा अनिवार्य सामाजिक परिवर्तनों से सम्बद्ध कुछ क्रान्तिकारी या परिवर्तनवादी विचारों की उपेक्षा सर्वथा नहीं की जा सकती। इस तथ्य पर ध्यान केन्द्रित करने पर समाचारपत्र की दूकानदारी को भी अन्य दूकानदारियों की ही तरह मानते हुए कुछ विभाजन-रेखाएँ खींचनी होंगी। आदर्शों के अन्तर्गत यदि सभी तरह की सामाजिक एवं आर्थिक दासता के अलावा विदेशी दासता से मुक्ति तथा विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा का प्रश्न आता है और यह प्रश्न कहीं-न-कहीं पत्र-संचालकों के व्यक्तिगत अथवा सामूहिक हित से भी सम्बन्ध रखता है, तो पत्र-संचालकों को, दूकानदारी के विचार के अन्तर्गत ही सही, इस पर थोड़ा-बहुत सोचना पड़ेगा। जो दूकानदार दूकानदारी में तात्कालिक हित के साथ ही दीर्घकालिक हितपर भी ध्यान रखते हुए, नहीं चलता, आँख मूंद कर अनुकरण करने में ही लग जाता है और कुछ ठोस उपाय नहीं निकालता उसका दिवाला पिट जाता है।

उदाहरण के लिए हम देश की स्वतन्त्रता तथा बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा के प्रश्न को लेते हैं। इसमें व्यक्तिगत रूप में और साथ ही एक वर्ग के रूप मे पत्र-संचालकों की भी उतनी ही दिलचस्पी होनी चाहिए जितनी शेष जनता की। यदि ऐसा नहीं होता तो उनके वर्गगत हितों के विकास तथा रक्षा की गारण्टी नही मिल सकती। अँग्रेजों की दासता के कारण अंग्रेज उद्योगपतियों के स्वार्थों के मुकाबले भारत के उद्योगपतियों का विकास नहीं हो पा रहा था, अतः उन्होंने शेष जनता के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में अपने ढंग से भाग लिया और उनके द्वारा संचालित समाचारपत्रों ने विलासिता के परित्याग पर जोर देने वाली साहस और शौर्य के भाव भरने वाली तथा राष्ट्रीय चेतना को ऊपर

उठाने वाली सामग्रियाँ प्रस्तुत कीं—ऐसे ढंग से, ऐसी कलात्मकता के साथ कि लोग उन्हें बड़े चाव से ग्रहण करने लगे।

भारत अंग्रेजों की दासता से तो मुक्त हो गया, किन्तु राष्ट्रीय विशृंखलता तथा दुर्बलता का जो नया चित्र सामने आया है उसकी दृष्टि से और साथ ही बाहरी हस्तक्षेपों और आक्रमणों की बराबर बनी रहने वाली आशंकाओं की दृष्टि से जब अपने देश के युवक-युवतियों में साहस, शौर्य तथा सामाजिक चेतना का प्रश्न नये सिरे से सामने आता है, तो यह सोचना पड़ता है कि विशुद्ध दूकानदारी का दृष्टिकोण अपना कर, व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्विता में पड़ कर, श्लील-अश्लील, शालीनता, क्षुद्रता आदि के संबंध में पुरानी मान्यताओं का उल्लंघन करना कहाँ तक उचित होगा! अखबार के संचालन और सम्पादन से सम्बद्ध कोई व्यक्ति अपने अनुभव तथा अपनी व्यावहारिक बुद्धि के आधार पर तो यह नहीं कह सकता कि महिला-स्तम्भों में आधुनिक महिलाओं की भयंकर 'अनुकरण प्रवीणता', फैशनपरस्ती, क्लबप्रियता आदि के अनुसार सामग्री दी ही न जाय और सिनेमा-पृष्ठों पर सिनेमाप्रेमी पाठकों की हीन रुचि को तुष्ट करते हुए कुछ उत्तेजक सामग्री और चित्र कदापि न दिये जायँ। किन्तु वह इतना तो समझ ही सकता है कि युवक-युवतियों में त्याग, साहस और शौर्य की भावनाएँ भरने वाली सामग्रियों से पत्र को वंचित रखना अन्ततः सबके लिए आत्मघातक होगा।

यदि दूकानदारी के ही दृष्टिकोण से त्याग, साहस, शौर्य, क्रान्तिकारिता आदि को बढ़ावा देने वाली सामग्रियों को प्रस्तुत करने की आवश्यकता पत्र-संचालकों की और उनके ही दृष्टिकोण से सब कुछ देखने-समझने वाले पत्रकारों की समझ में न आये, तो उन्हें कैसे समझाया जा सकता है। हाँ, कुछ ऐसे पत्रकार मिल सकते हैं, जो—अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को बनाये रखने और मालिकों के दृष्टिकोण से कुछ हद तक अपने को अप्रभावित रखने का प्रयास करते हुए—मालिकों को कुछ समझा सकते हैं! किन्तु मालिक सुनने को तैयार भी तो हों। काश, कुछ पत्रकारों द्वारा पत्र-संचालकों को यह समझाया जा सकता कि पत्रकारिता यदि एक व्यवसाय ही है, एक दूकानदारी ही है, तो इस व्यवसाय के ही हित में पाठकों को कुछ आदर्शोन्मुख करने का भी दायित्व ग्रहण करना पड़ेगा।

इस प्रकार दूकानदारी से कुछ समानता दिखला कर पत्र-संचालकों को यह समझाना अधिक कठिन नहीं होगा कि पत्र की दूकानदारी का स्वरूप

साधारण दूकानदारी के स्वरूप से भिन्न होता है और होना भी चाहिए। यहाँ बौद्धिक दूकानदारी होती है, यहाँ पाठकों को कुछ बौद्धिक भोजन देना होता है। अपनी-अपनी रुचि और ज्ञान-स्तर के अनुसार पाठकों की कुछ जानने की इच्छा पूरी करनी होती है। जिस तरह आज शुद्ध, मिश्रण-मुक्त, भोजन की आशा करना व्यर्थ है उसी तरह विशुद्ध पौष्टिक ज्ञान-भोजन की भी आशा नहीं की जा सकती। किन्तु यह तो सत्य है कि अपनी-अपनी इच्छा, रुचि और समस्या के अनुसार कुछ जानते रहने की उत्सुकता लोगों में उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इस उत्सुकता की—बौद्धिक आवश्यकता की—पूर्ति समाचारपत्रों से ही होती है! कुछ मानो में, इस दूकानदारी में, मालिकों की यह इच्छा रहती है और इस इच्छा के अनुसार उनका यह प्रयास भी होता है कि अपनी कुछ पसन्द ग्राहकों पर भी लाद दी जाय। किन्तु अपनी पसन्द लादने के प्रयास में ग्राहकों की पसन्द सोलहों आने नहीं दबायी जा सकती।

अपनी पसन्द, यानी विचार, को लादने के लिए विचार-स्तम्भ को तो मालिक अपने हाथ में रखते ही हैं; अतः यदि समाचारों पर भी उनका प्रभुत्व, नियन्त्रण या अंकुश पूरी तरह हो जाय तो फिर पत्र पाठकों के लिए कैसे रह जायँगे? अभी तक यह सौभाग्य की बात कही जा सकती है कि दलीय पत्रों के स्वामियों को छोड़ कर शेष पत्रों के मालिकों में से ऐसे बहुत कम हैं, जो समाचारों को भी सोलहों आने अपने विचारों के अनुसार ही प्रस्तुत करना चाहते हों।

'माध्यम' में प्रकाशनार्थ स्वीकृत

●●

समाचार : तथ्य और स्थिति

जो अखबार किसी सीमित उद्देश्य— व्यक्तिगत, दलीय या व्यावसायिक उद्देश्य— के लिए निकलते हैं उनमें साधारणतः समाचारों की विविधता नहीं होती और न उसकी अपेक्षा की जाती है। वे कुछ थोड़े से लोगों के बीच पढ़े जाते हैं। यदि उनके पाठक कुछ अधिक हुए भी, तो उन पाठकों को तरह-तरह के समाचार पढ़ने के लिए दूसरे अखबार भी खरीदने पड़ते हैं। वस्तुतः अखबार का जो अर्थ होता है उसके अनुसार तो उस अखबार को अखबार ही नहीं कहना चाहिए जिसमें समाचारों की विविधता न हो। जो अखबार वस्तुतः अखबार होते हैं, यानी अखबार का जो अर्थ होता है उसी अर्थ मे निकाले जाते हैं, उनमें समाचारों की विविधता होती ही है या कम-से-कम विविधता का प्रयास तो होता ही है। समाचार कितने तरह के होते हैं? मोटेतौर पर समाचारों को पहले चार भागों में बाँटा जा सकता है :—(१) स्थानीय समाचार (२) प्रान्तीय समाचार (३) अखिलदेशीय समाचार (४) अन्तर्राष्ट्रीय समाचार। इन चार वर्गों मे प्रत्येक के अन्तर्गत सामान्यतः निम्नलिखित समाचार आयेंगे :—

(१) भाषण, वक्तव्य और विज्ञप्ति, (२) आततायियों के कुकर्म, छेड़छाड़, मारपीट, पाकेटमारी, चोरी, ठगी, डकैती, छुरेबाजी, जुआ, हत्या, अपहरण, बलात्कार, (३) जमीन-जायदाद के लिए एक ही परिवार के सदस्यों के बीच, पट्टीदारों के बीच फौजदारी और मुकदमेबाजी, (४) जातिवादी कलह तथा विद्वेष, (५) रंगभेद और वर्णभेद से उत्पन्न अशान्ति, (६) क्षेत्रीयतावादियों एवं प्रान्तीयतावादियों के झगड़े, (७) धार्मिक एवं साम्प्रदायिक उपद्रव और वैमनस्य, (८) स्थानीय, क्षेत्रीय, प्रान्तीय तथा अखिलदेशीय दिलचस्पी एव महत्व के न्यायिक निणय ९ परिवहन तथा माग-दुघटनाए साम्मिल

स्कूटर, एक्का, टांगा, बस, ट्रक और कार से लेकर ट्रेन, जहाज और हवाई जहाज तक की दुर्घटनाएँ, (१०) अवर्षण, अतिवर्षण, बाढ़, आँधी, हिमपात, (११) भू-भ्रंश, भूकम्प, (१२) असामयिक या आकस्मिक मृत्यु, आत्महत्या, (१३) जातीय, सामाजिक व्यावसायिक एवं राजनीतिक संस्थाओं, सगठनों तथा दलों की बैठकें, विशेष बैठकें, सम्मेलन, समारोह, प्रदर्शन और जुलूस, (१४) श्रम-आन्दोलन, किसान-आन्दोलन, (१५) सरकारी, सामाजिक, राजनीतिक व्यक्तियों का स्वागत और विदाई, (१६) स्थानीय शासन-निकायों और सरकारी विभागों की गतिविधि, (१७) कर्मचारियों, अधिकारियों तथा राजनीतिक कार्यकर्ताओं और नेताओं की मनमानी और ज्यादतियों की शिकायतें, (१८) व्यक्तिगत समाचार—जैसे परीक्षा या सांस्कृतिक एवं बौद्धिक कार्यों में विशेष सफलता, विदेश-यात्रा, विवाह..... (१९) मेलों और पर्वों के समाचार।

इनके अलावा अखिलदेशीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की आर्थिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक एवं सैनिक घटनाएं :—(१) जमीन्दारी उन्मूलन, भूमि-सुधार, भूमि-वितरण, सामूहिक कृषि, उद्योगों की स्थापना, उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, उद्योगों पर कब्जा, निजी उद्योगों के समानान्तर सार्वजनिक उद्योगों की स्थापना से उत्पन्न एक नये राजनीतिक संघर्ष का सूत्रपात...(२) अणुबम का आविष्कार और विस्फोट, हाइड्रोजन बमों का, राकेटों तथा क्षेपास्त्रों का विकास, अन्तरिक्ष-अभियान, अन्तरिक्ष में स्थायी केन्द्रों की स्थापना का कदम, चन्द्रमा पर मनुष्य का पदार्पण, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सम्बन्धी नयी-नयी खोजें, नये-नये आविष्कार, (३) आम चुनाव और उसके बाद सरकार का गठन, राष्ट्रपति का चुनाव, संसदीय गतिविधि (बहस, प्रश्नोत्तर, आरोप-प्रत्यारोप, हंगामा, उत्तेजना ..) संवैधानिक ढंग से सरकार का पतन और नयी सरकार का गठन; अन्य उपायों—सैनिक विद्रोहों, गृहयुद्धों-आदि द्वारा शासन-परिवर्तन, सरकार का परिवर्तन, सरकार का इस्तीफा, मन्त्रियों का इस्तीफा या निष्कासन, (४) किसी क्षेत्र पर अपने ही देश के विद्रोहियों का कब्जा, दूसरे देश पर कब्जा, दूसरे देश के विरुद्ध युद्ध-घोषणा और युद्ध-संचालन, सैनिक क्रान्ति या विद्रोह, गृहयुद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के युद्ध (जैसे कोरिया-युद्ध, वियतनाम-युद्ध, अरब- इजरायल युद्ध), महायुद्ध।

समाचारों के वर्गीकरण के सिलसिले में ही जिस एक और तथ्य पर विचार करना है वह यह है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद 'विश्व कम्युनिस्ट शक्ति' के उदय

से कम्युनिस्ट-जगत तथा गैर-कम्युनिस्ट जगत के बीच आर्थिक और सामरिक प्रतिद्वन्द्विता भी एक नये स्तर तक पहुँच गयी है ! समाचारों के माध्यम से आर्थिक एवं सामरिक स्थिति जितने स्पष्ट रूप में सामने आ जाती है उतने स्पष्ट रूप में राजनीतिक एवं कूटनीतिक स्थिति का पता पाठकों को नहीं लगता। समाचारों के ही माध्यम से कूटनीतिक प्रतिद्वन्द्विता पकड़ में कैसे आये, इस समस्या को हल करने की दृष्टि से समाचारों को प्रस्तुत करने की जिस योग्यता की आवश्यकता है वह अभी तक नहीं दिखलायी दी है। इस समस्या को हल करने की दृष्टि से समाचारों के प्रस्तुत करने में यदि कुछ कठिनाई हो तो विचार-स्तम्भों से ही पाठकों को सही स्थिति से अवगत कराया जा सकता है। किन्तु ऐसा कुछ भी यथेष्ट रूप में नहीं हुआ है। समाचारों के ही माध्यम से इस कूटनीति को बुद्धि की पकड़ में लाने के लिए 'समाचार के पीछे समाचार' को देखने की और-'पंक्तियों के बजाय पंक्तियों के बीच में पढ़ने' की क्षमता और बढ़ा कर ही पत्रकार अपने पाठकों को एक नया प्रकाश दे सकता है। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में हर दृष्टि से यह प्रकाश बहुत जरूरी है।

भाषण और वक्तव्य

आज समाचारों में भाषणों और वक्तव्यों ने अनावश्यक रूप में अधिक स्थान ले रखा है। भाषणों व वक्तव्यों में वस्तुतः समाचार-तत्व कितना होता है, यह समझने की तो जैसे कोई आवश्यकता ही नहीं रह गयी है। सच पूछिए तो, आज देश में भाषणातिरेक एवं वक्तव्यातिरेक के रोग लग गये हैं। राजकाज चलाने वाले राजनेता हों या राजनीतिक दल के नेता या राजनेतृत्वाकांक्षी 'सादे' नेता हों, सब-के-सब भाषणों और वक्तव्यों पर ही जी रहे हैं और विश्राम कर रहे हैं—यही उनका भोजन है यही उनका बिस्तर है और यही उनका 'टानिक' है। सुबह भाषण, दोपहर भाषण, शाम को भाषण ! आज वक्तव्य, कल वक्तव्य, रोज वक्तव्य ! इन भाषणों तथा वक्तव्यों में 'कथा या पाठ की आवृत्तियों' के अलावा और क्या मिलता है ? कभी-कभी कुछ नयी बात भले मिल जाय, सामान्यतः सब कुछ पिष्टपेषण ही रहता है।

अपना अधिकांश स्थान इन भाषणों और वक्तव्यों को ही समर्पित कर देने वाले समाचारपत्रों के बारे में क्या कहा जाय ? उन्हें इन रोगों का 'निदान लेखक' कहा जाय या यह माना जाय कि इन्हें भी वे रोग लग गये हैं हमें यह

सब कुछ सोचने या कहने की आवश्यकता न होती, यदि पाठकों को भी इन भाषणों और वक्तव्यों में कुछ रस मिलता होता या इनमें साधु-महात्माओं के उपदेशों और धार्मिक कथाओं की आवृत्ति जैसी कुछ सन्तोषप्रद चीजें दिखलायी देती। जहाँ तक हमारे देश का सम्बन्ध है, यहाँ आम जनता के बीच घूम कर कोई भी पत्रकार भाषणों और वक्तव्यों के बारे में उसकी प्रतिक्रिया जान सकता है। किसी बड़े नेता के आगमन पर उसके भाषण के लिए ही आयोजित सभा में जो लोग जाते हैं वे उनके प्रवचन सुनने की इच्छा से नहीं, बस उनका दर्शन करने के लिए ही या कुछ मेले-जैसी भीड़-भाड़ का आनन्द लेने ही जाते है। यह एक ऐसा निष्कर्ष है, जिसको चुनौती देने के पूर्व जनता के बीच रह कर भाषणों के सम्बन्ध में उसकी प्रतिक्रिया समझना होगा। स्वतन्त्रता-संग्राम के समय और स्वतन्त्रता मिलने के बाद कुछ समय तक राजनेताओं और नेताओं के भाषण सुनने की जो उत्सुकता और इच्छा रहा करती थी वह आज प्राय समाप्त हो चुकी है।

अब जनता को यह समझाने की कोई जरूरत नहीं रह गयी है कि वक्ता जो कुछ अच्छी-अच्छी बातें कहता है उन्हीं के अनुसार आचरण नहीं कर रहा है। भाषणों और वक्तव्यों के सम्बन्ध में जैसी आलोचनात्मक, विश्लेषणात्मक एवं व्यंग्यात्मक दृष्टि की आवश्यकता है वैसी पत्रकारों की हुई हो या न हुई हो, आम जनता के बीच अधिकांश लोगों की तो हो ही गयी है। फिर भी, हम पत्रकार ऐसे है कि अपने पाठकों पर भाषण लादे रहते हैं। बड़े-बड़े नेताओं और विशिष्ट पुरुषों के ही नहीं, केवल स्थानीय महत्व के व्यक्तियों के भी भाषणों और वक्तव्यों से अखबार के प्रत्येक पृष्ठ का अधिकांश स्थान भरा होता है। शायद इनसे पिण्ड छुड़ाना मुश्किल हो गया है ! तभी तो ऐसा होता है।

यदि भाषण ऐसी आवृत्तियों से भरे रहते हों जिन्हें सुनते-सुनते कान पक गये हों, तो कोई पाठक उसमें रस क्यों लेगा, उन्हें क्यों पढ़ेगा। राजनेताओं और राजनीतिज्ञों के मुँह से जो बातें सार्वजनिक भाषणों में निकलती होती हैं वे ही साहित्यिक, व्यावसायिक, वैज्ञानिक तथा अन्य गैर-राजनीतिक आयोजनों तथा समारोहों में भी दोहराई जाती हैं। जिन राजनेताओं या राजनीतिज्ञों का पेशा राजनीति ही हो उनसे गैर-राजनीतिक आयोजनों में 'आयोजन के विषय के अनुकूल' गैर राजनीतिक बातों की आशा ही क्या की जाय ? चूँकि नेताओं को

खास करके राजनेताओं को, खुश रखने की प्रवृत्ति (खुशामदपरस्ती) उत्तरोत्तर बढ़ती आयी है, इसलिए साहित्यिक, वैज्ञानिक........ समारोहों में भी उन्हें ही आमन्त्रित किया जाता है। यदि कोई राजनेता या नेता साहित्यिक और विज्ञानमर्मज्ञ हो तो उसे साहित्यिक और वैज्ञानिक आयोजनों में आमन्त्रित करने की बात कुछ समझ में भी आती है। इन आयोजनों में अन्य नेता साहित्य और विज्ञान की सामान्य जानकारी के आधार पर थोड़ी-बहुत इनकी चर्चा करके घूम-फिर कर राजनीति पर आ जाते हैं। आज साहित्य, विज्ञान आदि सभी विषयों का सम्बन्ध राजसत्ता और राजनीति से तो कहीं-न-कहीं है ही, किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि साहित्यिक और वैज्ञानिक आयोजनों में विशुद्ध रूप से साहित्य और विज्ञान की जो चर्चा हो वह तो गौण हो जाय और इन आयोजनों का उद्घाटन या सभापतित्व करने वाले 'राजपुरुष' या 'राजमहिला' के भाषण प्रमुख हो जायँ। आयोजन के विषय के अनुकूल रिपोर्टिंग अखबारों न हो सकने की जिम्मेदारी आयोजकों, संवाददाताओं और मेज पर ही बैठ कर उन भाषणों का सम्पादन करने वाले पत्रकार—तीनों पर है! आयोजन के विषय के अनुकूल रिपोर्टिंग न होना आयोजन के प्रति बेईमानी है।

गैर-राजनीतिक आयोजनों की रिपोर्टिंग के सम्बन्ध में सबसे बड़ी समस्या यह है कि उनके विषयों की रिपोर्टिंग के लिए उन-उन विषयों के विशेषज्ञ संवाददाता या प्रतिनिधि कहाँ से लाये जायँ। अनेक विकसित एवं सम्पन्न देशों में विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ पत्रकारों तथा संवाददाताओं की जैसी व्यवस्था है वैसी हमारे अर्ध-विकसित और गरीब देश के अधिकांश साधनहीन तथा अर्थहीन अथवा लोभी और बचत-प्रेमी पत्रों में भला क्या हो सकती है! ऐसा भी तो नहीं है कि सम्पादकमण्डल में जिन थोड़े से लोगों की नियुक्ति की जाती है उनमें से ही प्रत्येक को सामान्य सम्पादन-कार्य के ज्ञान के अलावा एक-एक विषय में विशेषज्ञता प्राप्त करायी जाय और अपने-अपने विषय से सम्बन्धित आयोजनों की रिपोर्टिंग का भी कार्य उन्हें ही दिया जाय। हर तरह के आयोजनों की रिपोर्टिंग प्रायः एक ही तरह के एकाधिक व्यक्तियों के जिम्मे होती है। यद्यपि पत्रकारिता के परिपूर्ण ज्ञान का तकाजा तो यही है कि पत्रकार को सामान्य सम्पादन-कार्य के ज्ञान के अलावा, किसी एक विषय के विशेष ज्ञान के साथ, रिपोर्टिंग का भी अनुभव और अभ्यास हो, तथापि सम्पादक-मण्डल के हर सदस्य से जब-तब का भी काम लेने में कानूनन

ो जाने का भी भय लगा रहने के कारण सबसे संवाददाता का काम नहीं लिया जाता।

लेकिन प्रश्न तो यह है कि जब भाषणों में पाठकों की दिलचस्पी हो ही नहीं या बहुत कम हो तो उनकी (वे राजनीतिक हों या गैर-राजनीतिक) रिपोर्टिंग के लिए किसी उत्तम व्यवस्था की बात ही क्यों की जाय ? इसके उत्तर में पहले तो यह कहना है कि जब भाषणों से पिण्ड छुड़ाना कठिन ही हो और जब उनके स्थान पर उनसे अच्छे समाचार देने की समस्या सरल न हो तो कम-से-कम इतना तो किया ही जा सकता है कि एक ही तरह के जी-ऊबाने वाले मात्र राजनीतिक भाषण ही न प्रस्तुत किये जायँ, कुछ गैर-राजनीतिक भाषणों को भी स्थान दिया जाय। अखबार का प्रत्येक ग्राहक अखबार में प्रकाशित सब-के-सब समाचार नहीं पढ़ता, अपनी रुचि के ही अनुसार पढ़ता है। कोई पाठक यह भी नहीं चाहता कि अखबार में सारे-के-सारे समाचार उसी की रुचि के अनुसार हों। वह ऐसी आशा भी नहीं कर सकता ! किन्तु जिन लोगों को अपनी रुचि के गैर-राजनीतिक भाषणों को पढ़ना है वे उसे पढ़ेंगे ही और यदि वे पढ़ने को नहीं मिलेंगे तो पत्र से कुछ निराशा होगी। यहीं एक प्रश्न यह भी उठ सकता है कि देशी भाषाओं में यदि दर्शन-शास्त्र, अर्थशास्त्र, भौतिक विज्ञान जैसे विषयों पर रिपोर्टिंग हो भी तो क्या उसे इन विषयों के ऊँचे पाठक, जो अंग्रेजी पत्र ही पढ़ना पसन्द करते हैं, पढ़ेंगे ? यह प्रश्न भी गम्भीर है और विचारणीय है।

भाषण या वक्तव्य भी अपने में महत्त्वपूर्ण और नवीन हो सकते है, बशर्ते वे किसी ताजा और साथ ही विशेष महत्वपूर्ण घटना से सम्बन्धित हों और 'मात्र प्रतिक्रिया' न होकर किन्हीं खास कारंवाइयों नीति-परिवर्तनों का संकेत करते हों, जैसे रबात इस्लामी सम्मेलन पर केन्द्रीय मंत्री फखरुद्दीन अली अहमद का १९ सितम्बर, १९६९ का वक्तव्य, जिसमें उन्होंने सम्मेलन में घटी घटना के आधार पर पर राष्ट्र-नीति का पुनर्मूल्यांकन करने का आवाहन किया था। यों परराष्ट्र-नीति के पुनर्मूल्यांकन या परिवर्तन की बात पहले भी विरोधी दलों के नेताओं द्वारा कही जा चुकी थी, किन्तु सत्तारूढ़ दल के और साथ ही केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के एक प्रमुख सदस्य के मुँह से ऐसी बात शायद पहले बार निकली थी। अतः इस वक्तव्य को महत्वपूर्ण स्थान दिया ही जाना चाहिए या वक्तव्य के संकेत को पकड़ने में जिन और सम्पादकों की दृष्टि

सफल रही उन्होंने इसे प्रमुखता दी भी। किन्तु, प्रश्न तो यह है कि ऐसे भाषण या वक्तव्य होते ही कितने हैं, और सो भी, रोज-रोज कहाँ दिये जाते हैं। सचमुच आवृत्तियों से भरे भाषणों से पिण्ड छुड़ाना एक जटिल समस्या है। यह समस्या इसलिए और जटिल है कि भाषणों से पिण्ड छुड़ाया जाय तो फिर दूसरी तरह के और समाचारों से इनका स्थान कैसे भरा जाय।

'भाषणों में आवृत्ति' के विषय में राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, स्वराष्ट्रमन्त्री आदि के किसी एक महीने या किन्हीं दो महीनों के भाषणों को उठा कर देखा जा सकता है। किसी भाषण में दो-एक बात नयी हो तो हो, शेष पुरानी ही रहती हैं। हाँ, पुरानी बातें कुछ नयी शब्दावलियों में हो सकती हैं। किन्तु ये नयी शब्दावलियाँ भी कुछ दिनों बाद पुरानी हो जाती हैं। जैसाकि पहले कहा गया है, किसी ताजा विशेष महत्वपूर्ण घटना पर दिया गया भाषण अपने में एक महत्वपूर्ण और नवीन समाचार हो सकता है और होता ही है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के तत्काल बाद दिया गया प्रधानमन्त्री का भाषण एक महत्वपूर्ण समाचार था, क्योंकि लोग उसे सुनने के लिए विशेष रूप से उत्सुक थे। किन्तु उसके बाद उन्होंने लगातार बैंक-राष्ट्रीयकरण पर जो भाषण दिये उनमें शब्द नये भले ही रहे हों, किन्तु मूल बातों की तो आवृत्ति ही रही। बैंक राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में कही गयी बातों के अलावा और भी जो बातें उन्होंने अगले महीनों में कही उनमें से अधिकांश की आवृत्ति कम-से-कम दो-चार बार तो अवश्य हुई।

अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार प्रमुख व्यक्तियों के भाषणों में पिष्टपेषण होने के कारण क्या भाषणों को प्रकाशित करना बन्द कर दिया जाय? इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर देने के पूर्व अनेक अन्य बातों पर विचार करना होगा। सर्वप्रमुख प्रश्न तो वही है जो ऊपर रखा जा चुका है—'यदि भाषणों से पिण्ड छुड़ाया जाय तो फिर दूसरी तरह के समाचारों से इनका स्थान कैसे भरा जाय?' पहले हम इस सर्वप्रमुख प्रश्न को ही लेते हैं। यह सही है कि समाचार-समितियाँ भी भाषणों को अधिक स्थान देने लगी हैं। फिर भी, यह बात तो है ही कि वे और जितने समाचार देती हैं सब-के-सब नहीं खप जाते, बहुत से छाँट कर फेंक दिये जाते हैं। छांट कर फेंके गये समाचारों में से बहुत से ऐसे हो सकते हैं जिन्हें भाषणों की अपेक्षा कुछ अधिक दिलचस्पी से पढ़ा जा सकता है। समाचारों की छँटनी में सम्पादकों के अपने-अपने संकीर्ण विचार पूर्वाग्रह

तथा युग-प्रतिकूल धारणाएँ काम करती रहती हैं। उदाहरणार्थ, आज भी कुछ सम्पादकों का आग्रह यही रहता है कि हमे विदेशी समाचारों को अधिक स्थान और अधिक महत्व नहीं देना चाहिए। अपने इस कथन के पक्ष में वे वर्तमान के बजाय अतीत पर ही ध्यान केन्द्रित रखते हुए उन कुछ विदेशी समाचारपत्रों की चर्चा करते हैं जिनमें अपने देश के ही समाचारों की बहुलता रहती आयी थी।

आज की परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में—युद्धोत्तर स्थिति में—नव-स्वतन्त्र देशों के बीच और साथ ही उनके और पुराने साम्राज्यवादी तथा कम्युनिस्ट देशों के बीच कूटनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों की जो वृद्धि हुई है और इन्हीं सम्बन्धों के साथ बड़े राष्ट्रों (कम्युनिस्ट तथा गैर-कम्युनिस्ट) मे प्रतिद्वन्द्विता ने जो रूप धारण कर लिया है, उन सब तथ्यों को देखते हुए और उनका सूक्ष्मता के साथ अध्ययन करते हुए अब विदेशी समाचारों के बारे मे पूर्वधारणा बदलनी होगी और उन्हें स्थान देना होगा। हम अब यह भी नहीं कह सकते कि हमारे यहाँ की गतिविधि में विदेशी समाचारपत्र दिलचस्पी नहीं लेते। क्या हमने यह नहीं देखा कि राष्ट्रपति जाकिर हुसैन की मृत्यु के बाद राष्ट्रपति-पद के चुनाव पर अमेरिका, रूस और ब्रिटेन के समाचारपत्रों ने काफी स्थान दिये। आज अन्तर्राष्ट्रीय समाचारों की उपेक्षा से हम इस प्रकार अंधकार में पड़े रह सकते हैं कि अपने से सम्बन्धित किसी अन्तर्राष्ट्रीय घटना को एक आकस्मिक घटना के रूप में ही देखें, जबकि वस्तुतः वह आकस्मिक नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसके सूत्र अतीत के समाचारो मे मिलते रहे। विदेशी समाचारों के सम्बन्ध में हम और अधिक विस्तार से बाद में विचार करेंगे, यहाँ अभी इतना ही कह देना काफी है कि हम किसी भी विदेशी समाचार को मामूली समझ कर फेंकने के पहले 'समाचार के पीछे समाचार' की दृष्टि रखें और 'पंक्तियां नहीं, बल्कि पंक्तियों के बीच' पढने की योग्यता अर्जित करें। इस योग्यता से हम विदेशी समाचारों को स्थान देकर आवृत्ति से भरे भाषणों में कमी कर सकते हैं।

भाषणों के सम्बन्ध में पाठकों की अरुचि का एक कारण यह भी हो सकता है कि अक्सर शासनाधिकारियों—केन्द्रीय तथा प्रान्तीय—के ही भाषण प्रमुख रूप में और विस्तार के साथ प्रकाशित होते हैं। यदि उचित अनुपात में सभी दलों के प्रमुख नेताओं के भाषण प्रकाशित हो तो उनमे पाठकों की कु

रुचि हो भी सकती है। लेकिन यहाँ भी एक दूसरी गड़बड़ी यह होती है कि पत्रों में विभिन्न दलों से सम्बन्ध रखने वाले जो व्यक्ति घुस आते हैं वे मौका पाते ही अपने-अपने दल के नेताओं के भाषणों को विस्तृत करके सन्तुलन बिगाड़ने में लग जाते हैं। लम्बे भाषणों के सम्बन्ध में शायद किसी ने यह समझने की कोशिश नहीं की है कि पाठक लम्बाई देख कर ही उसे छोड़ देते हैं। यदि भाषण संक्षिप्त हो तो पाठक यह विचार कर सकता है कि 'लाओ इसे पढ़ लें।' लेकिन भाषणों को संक्षिप्त करने का यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि वक्ता की अधूरी ही बात लोग जान सकें। भाषणों के संक्षिप्त करने मे प्रायः यह होता है कि समाचार समितियों द्वारा दिये गये इन भाषणों का प्रारम्भ का कुछ हिस्सा दे दिया जाता है, बाद के हिस्से छोड़ दिये जाते है। ऐसा न कर के सम्पूर्ण भाषण पढ़ने के बाद उसके प्वाइंट्स ले लेने चाहिएँ। भाषणों का अनावश्यक विस्तार कुछ इसलिए भी हो जाता है कि वक्ता के स्वागत में आये लोगों के नाम और उनमें से कुछ के औपचारिक स्वागत-भाषणों को भी घुसेड़ दिया जाता है। समाचारपत्र जिस क्षेत्र मे बिकता है उसमें किसी बड़े नेता के सार्वजनिक भाषण के अवसर पर कुछ स्थानीय प्रमुख व्यक्तियों के नामों के उल्लेख की बात तो कुछ समझ में आ सकती है (कुछ खास कारणों से), किन्तु सुदूर क्षेत्र में भी उस बड़े नेता के भाषण के अवसर पर उसके स्वागतार्थ आये लोगों के नामो का और उनके स्वागत-भाषणों का भी उल्लेख करने की बात समझ मे नहीं आती।

२ दिसम्बर, १९६९ को श्रीनगर में प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने जो भाषण किया उसकी रिपोर्टिंग एक अंग्रेजी अखबार में करीब दो कालम मे प्रकाशित हुई, जबकि उसके सारे प्वाइंटों को लेकर उसे संक्षेप में यों रखा जा सकता था :—"मैं भारत में करोड़ों लोगों के लिए स्वतन्त्रता को सार्थक बनाने के लिए कृतसंकल्प हूँ। बैंकों के राष्ट्रीयकरण-जैसे छोटे कदम से जो जन-चेतना उत्पन्न हुई है उसने यह दिखला दिया कि सरकार से जनता क्या चाहती है और उससे कांग्रेस की समाजवादी नीतियों को लागू करने का मेरा संकल्प मजबूत हुआ है। हाल में जन-चेतना ऐसी ऊँचाई तक पहुँची है जैसी स्वतन्त्रता-संघर्ष के काल में ही देखी गयी थी। विगत बीस वर्षों मे वह विलुप्त हो गयी थी और इसी अवधि में अमीरों और गरीबों के बीच का

अन्तर बड़ा था। मैं जनता से अपील करती हूँ कि वह एकता के सूत्र में आबद्ध रहे और समाजवाद के अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए, त्याग की उसी भावना को दिल में रख कर संघर्ष करे जो देश के स्वतन्त्रता-संग्राम की एक विशेषता थी। विगत २२ वर्षों की राजनीतिक स्वतन्त्रता के पीछे-पीछे आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं आयी, किन्तु अब देश की गरीबी से छुटकारा दिलाने के लिए कुछ ठोस कदम उठाये जा रहे हैं। बैंकों के राष्ट्रीयकरण से गरीबों का अचानक भाग्योदय करने के लिए कोई विपुल धनराशि नहीं निकल आयी है। किन्तु इसके परिणामस्वरूप अधिकारों से वंचित रखे गये उपेक्षित वर्गों को उपयुक्त हिस्सा देकर देश के अन्दर उपलब्ध साधनों का समान तथा उचित वितरण होगा। इस असमानता की जड़ें गहरी हैं और केवल एक कदम से जनता को तत्काल चमत्कारिक परिणामों की आशा नहीं करनी चाहिए। किन्तु इसी तरह के छोटे-छोटे कदमों से हम सब अपने उद्देश्य प्राप्त कर सकते हैं। जनता की एकता की आवश्यकता है और यही उसकी वास्तविक शक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा सभी हिस्सों तथा सभी क्षेत्रों से गरीबी हटायी जा सकती है और उस नये जीवन का उदय हो सकता है, जिसका हमने स्वप्न देखा था।''

जैसाकि एक दूसरे प्रसंग में अन्यत्र कहा गया है, हमारे देश में प्रधानमन्त्री का भाषण ही इतना महत्वपूर्ण मान लिया जाता है कि आँख मूँदकर उसे पत्र में प्रथम स्थान दे देने में किसी को अपनी समाचार-परख योग्यता को चुनौती मिलने का डर नहीं रहता। 'प्रथम स्थान किसे दिया जाय'—इस समस्या को प्रधानमन्त्री का भाषण बड़ी आसानी से हल कर देता है। प्रधान मन्त्री का भाषण सामने रहने पर किसी को यह सोचने या परखने की आवश्यकता नहीं रहती कि किस समाचार को अधिक महत्वपूर्ण समझा जाय। इस प्रकार प्रधानमन्त्री के भाषण से अधिक महत्वपूर्ण समाचार की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट न किये जाने से पाठकों के प्रति एक बहुत बड़ा अकर्तव्य तो होता ही है, साथ ही अपनी समाचार-परख की क्षमता भी क्षीण होती है। यहीं यह एक प्रश्न भी कम विचारणीय नहीं है कि क्या यह साधिकार नहीं कहा जा सकता है कि प्रधानमन्त्री के भाषण को हमेशा सर्वप्रमुखता देने से उनके भाषणों का मूल्य पाठकों की दृष्टि में कम हो जा सकता है? इसी प्रश्न से सम्बद्ध एक दूसरा प्रश्न यह है कि क्या इस तथ्य को समझने की कोई कोशिश की गयी है कि

जो राजनेता या राज्याध्यक्ष कम बोलते हैं, केवल अवसर-विशेष पर बोलते हैं, उनके भाषण सुनने के लिए जनता उत्सुक रहती है ?

सबसे अधिक सरदर्द के कारण होते है स्थानीय राजनीतिक, सामाजिक एव अन्य संस्थाओं और संगठनो के नेताओं के भाषण। चूँकि हमारे देश मे दलो की एक बाढ़ आ गयी है और वह घटती नहीं दिखलायी देती, इसलिए उनकी स्थानीय शाखाओं के भी नये-नये नेता तैयार हो गये हैं। प्रत्येक दल के कुछ साधन-सम्पन्न, तेज और चालू कार्यकर्ता भी अपने को नेता ही समझते हैं। स्थानीय नेता बन कर विधानसभा-सदस्य या सभासद ही बन जाने का रास्ता कुछ अधिक सरल बन गया देख कर वे अधिक उत्साही तथा महत्वाकांक्षी हो गये हैं। अतः ये भी अपने भाषण या वक्तव्य लेकर समाचारपत्रो के कार्यालयों में पहुँचे रहते हैं। किसी दल की कोई खास स्थानीय स्थिति बन पायी हो या नहीं, उसके नेता और कार्यकर्ता अखबार में समान रूप से स्थान पाने का दावा कर बैठते हैं। अन्ततः 'कैसे और क्यों इन स्थानीय नेताओ के भाषणों का बाहुल्य हो जाता है,' इस पर यहाँ अभी प्रकाश न डाल कर हम इतना ही कहना चाहते हैं कि इस बाहुल्य से सभी पाठक सन्तुष्ट हों या न हों ये नेता तो सन्तुष्ट हो ही जाते हैं। यह तो ठीक ही है कि यदि किसी एक दल और उसके नेता को अखबार में स्थान दिया जाना है तो दूसरे दलों और उनके नेताओं को भी स्थान मिलना चाहिए। लेकिन यदि किसी दल के अनुयायियों की संख्या नगण्य हो और इस नगण्य संख्या में भी कुछ ही लोग अखबार पढने वाले हों तो उस दल के नेता के भाषण, केवल उस नेता की तुष्टि के लिए या अन्य लोगों का ध्यान उसके नाम की ओर आकृष्ट करने के लिए ही, क्यों प्रकाशित किये जायँ।

अब कुछ शब्द वक्तव्यों के बारे में भी :—यों वक्तव्यों का अपना विशेष महत्व होता है और अवसर-विशेष तथा घटना-विशेष पर व्यक्तिविशेष तथा सम्बन्धित व्यक्ति द्वारा वक्तव्य दिये जाने की अपेक्षा की जाती है और ऐसे वक्तव्य के लिए लोगों में कुछ उत्सुकता भी होती है। इसलिए ऐसे वक्तव्यो का महत्वपूर्ण रूप से प्रकाशित करना आवश्यक होता है। किन्तु, आजकल जिसे देखिए वही वक्तव्य निकाल रहा है। अखिलदेशीय या प्रान्तीय स्तर के ही नहीं, जिला-स्तर के नेता और कार्यकर्ता भी वक्तव्य देते रहते हैं—हर साधारण घटना पर। जिनका किसी दल या संस्था से कोई विशेष सम्बन्ध

रही है और जिनकी अपनी कोई विशेष स्थिति भी नहीं है वे भी घर बैठे-बैठे वक्तव्य दे दिया करते हैं और अखबार वाले हैं कि वे उन्हें प्रकाशित कर देते हैं।

जबकि कुछ अर्थों में वक्तव्यों का महत्व भाषणों से अधिक माना गया है, वे भाषणों से भी सस्ते हो गये हैं। इस सस्तेपन को दूर करने के लिए होना यह चाहिए कि घटना-विशेष या अवसर-विशेष पर ही वक्तव्य प्रकाशित किये जाय और ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे के न प्रकाशित किये जायें। यदि बात दलों की हो और सभी दलों को सन्तुष्ट रखना हो तो उनके प्रमुख पदाधिकारियों—जैसे अध्यक्ष या मन्त्री—के ही वक्तव्य प्रकाशित करने का कोई नियम बना लिया जाय। कुछ विशेष आर्थिक, वैज्ञानिक और सामाजिक महत्व के निर्णयों पर तो इन विषयों के अधिकारी विद्वानों के पास स्वयं अपने प्रतिनिधि को भेज कर उनसे वक्तव्य प्राप्त करना चाहिए और उन्हें यथोचित महत्व के साथ प्रकाशित करना चाहिए। अखबार जिस नगर या क्षेत्र का हो उसमें यदि विश्वविद्यालय हो तो उसके विशिष्ट प्राध्यापकों से तथा क्षेत्र में रहने वाले विद्वानों से वक्तव्य प्राप्त करने में नहीं चूकना चाहिए।

वक्तव्यों के मामलों में एक दुःखद स्थिति यह देखने में आती है कि जहाँ से पत्र निकलता है वहाँ के कुछ इने-गिने व्यक्तियों का वक्तव्यों पर एकाधिकार-सा हो गया है और अक्सर उन्हीं के वक्तव्य देखने को मिलते हैं। प्रयाग में इन पंक्तियों के लिखते समय तक करीब बीस-पच्चीस 'वक्तव्यबाज' हो गये थे, बारी-बारी से इनके ही वक्तव्य सामने आते रहे। वक्तव्य के बल पर इन्होंने अपने को खूब प्रचारित कर लिया और लोगों से सम्पर्क बना लिया। इनके वक्तव्य प्रकाशित करने वाले इनसे कुछ अधिक योग्य सम्पादक को जितने लोग जानते होंगे उनसे कहीं अधिक लोग इन्हें जानते हैं। ये वक्तव्यपटु महानुभाव यदि कुछ योग्य हों—राजनीतिक या सामाजिक रूप में उन्होंने सचमुच जनता की थोड़ी-बहुत सेवा की हो, इनका कोई शैक्षिक स्तर हो, ये कुछ अच्छे वक्ता या लेखक हों......तो इनके इस प्रचार को अच्छा कहा जा सकता है, अन्यथा यह अनुचित ही माना जायगा। जिनका प्रचार वस्तुतः होना चाहिए उनके प्रचार में सहायक हो कर पुण्य लाभ करने के बजाय, ऐसे ही लोगों को वक्तव्यों के आधार पर प्रचारित करके, पत्रकार एक तरह का पाप बटोर रहा है, अयोग्यता फैला रहा है।

ठीक ही कहा गया है कि 'जिन व्यक्तियों का प्रचार होना चाहिए और

जिनके प्रचार से सचमुच देश और समाज का कुछ हित भी होता है वे तो अविज्ञापित रह जाते हैं, किन्तु जिनके प्रचार से उनके व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन में ही मदद होती है और समाज को कहीं कुछ नहीं मिलता, वे विज्ञापित हो जाते हैं।' चूँकि अधिकांश समाचारपत्रों का स्वरूप क्षेत्रीय है और उनमें क्षेत्र के समाचारों का ख्याल रखना ही पड़ता है, अतः क्षेत्रीयता के नाम पर स्थानीय और क्षेत्रीय व्यक्तियों को महत्व दिये जाने के आग्रह का अर्थ 'किसी भी स्थानीय व्यक्ति का आँख मूँद कर प्रचार करना' हो गया है। पत्रों का क्षेत्रीय स्वरूप देख कर क्षेत्रीय समाचारों का विचार तो ठीक ही है, किन्तु क्षेत्रीय समाचारों में भी यदि वक्तव्यों और भाषणों को ही प्रमुखता दी जाने लगे तो क्या इससे पाठकों को कुछ विशेष सन्तोष होगा ? जैसाकि पहले भी कहा गया है, यदि स्थानीय वक्ताओं और वक्तव्यदाताओं के अनुयायियों की संख्या नगण्य हो और ये नगण्य अनुयायी भी वक्तव्यों तथा भाषणों के प्रति वही उदासीनता रखते हों, जो अन्य पाठक रखते हैं तो भी क्या इन भाषणों और वक्तव्यों से अधिकांश स्थान भरना उचित होगा ? और यदि क्षेत्र के अलग-अलग हिस्सों के लिए अधिक स्थान देना सम्भव न हो तो भाषणों और वक्तव्यों से ही उन्हें भर देने पर पाठकों की दिलचस्पी के अन्य समाचारों के लिए स्थान कैसे मिल सकेगा ?

कुछ भाषण और वक्तव्य 'अपने में महत्वपूर्ण समाचार' तो हो सकते हैं (जैसाकि पहले दिखलाया गया है); किन्तु, क्या वे घटना या दुर्घटना माने जा सकते हैं ! यदि मान भी लिये जायें तो क्या उनमें पाठकों की वैसी ही दिलचस्पी हो सकती है जैसी वास्तविक घटनाओं और दुर्घटनाओं में होती है। सर्वसाधारण को जिस तरह अपने मुहल्ले, अपने नगर अपने जिले और अपने क्षेत्र में घटी घटनाओं को जानने की एक सहज इच्छा होती है उसी तरह की इच्छा भाषणों और वक्तव्यों को पढ़ने की नहीं देखी जाती।

विज्ञप्तियों का भी यही हाल हो गया है। स्वतन्त्रता के बाद विदेशों से आने वाले राजनेताओं और हमारे राजनेताओं (राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री) की संयुक्त विज्ञप्तियों का प्रकाशन एक साधारण बात हो गयी है। नवस्वतन्त्र तथा कम्युनिस्ट देशों के राजनेताओं के साथ हमारे राजनेताओं की संयुक्त विज्ञप्तियाँ जितनी निकली हैं उन सब की शब्दावली और विषय प्रायः एक से ही रहे हैं। अब तो ऐसा हो गया है कि कोई भी पाठक पहले से बता सकता है कि अमुक राजनेता के साथ हमारे राजनेताओं की संयुक्त विज्ञप्ति में ये-ये बातें होंगी। कुछ

ही ऐसी विज्ञप्तियाँ निकली हैं जिनमें विशेष कूटनीति खोजने का किसी ने कोई प्रय स किया हो और वह मिली भी हो। अतः भाषणों और वक्तव्यों की तरह विज्ञप्तियाँ भी बहुत सस्ती और सर्वसाधारण की दिलचस्पी के बाहर की चीजें हो गयी हैं। अब लोग विज्ञप्तियों से भी ऊबने लगे हैं। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि ऐसी विज्ञप्तियाँ होती ही नहीं, जिनका उत्सुकता से इन्तजार किया जाता रहा हो।

क्षेत्रीय संवाददाता

अपने क्षेत्र के पाठकों को सन्तुष्ट करने की जिम्मेदारी क्षेत्र के विभिन्न भागों में नियुक्त संवाददाताओं पर होती है। और पाठकों को सन्तुष्ट रख सकने में योग्यता का परिचय देने वाले संवाददाता के चयन का, उन्हें योग्य तथा प्रशिक्षित बनाने का और पाठक तथा पत्रों के स्वार्थ को अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से बड़ा समझने की प्रेरणा देते रहने का दायित्व सम्पादक पर होता है। लेकिन हमारे देश के अधिकांश पत्रों के अधिकांश संवाददाताओं की स्थिति एक अभिशाप-सी बनती दिखलायी दे रही है? यहाँ प्रश्न उठता है कि अभिशाप-सी बनती दिखलायी देने वाली इस स्थिति के लिए किसको जिम्मेदार ठहराया जाय—स्वयं संवाददाता को? पत्र-सम्पादक को? पत्र-व्यवस्थापक को? पत्र-सचालक को? सम्पूर्ण अर्थतन्त्र एवं राजनीतितन्त्र से उत्पन्न विकृत सामाजिक स्थिति को? चूँकि व्यक्ति का अस्तित्व समाज से पृथक रूप में नहीं होता और न हो सकता है और चूँकि समाज को अर्थतन्त्र एवं राजनीतितन्त्र से अप्रभावित रूप में देखा ही नहीं जा सकता, अतः अन्ततः तो सारा दोष बेचारे समाज पर ही आता है!

संवाददाताओं को प्रथमतः हम दो श्रेणियों में विभाजित करते हैं—नौकरी के नियमों में आबद्ध, संस्था के वेतनभोगी कार्यालय-संवाददाता (२) नौकरी के नियमों से मुक्त पारिश्रमिक या पुरस्कार पर निर्भर संवाददाता। पहली श्रेणी के संवाददाता तो पूर्णतः पत्रकार होते ही हैं, क्योंकि इनकी जीविका का एक-मात्र या सर्वप्रमुख साधन पत्रकारिता ही होती है और इनमें से यदि सब को नहीं तो अधिकांश को तो सम्पादन के अन्य कार्यों का भी कुछ अनुभव हो चुका रहता है। हाँ, यह बात अलग है कि कुछ वेतनभोगी कार्यालय-संवाददाता शुरू से ही संवाद-संग्रह कार्य में लग जाने के कारण अन्य सम्पादन-कार्यों का उतना अनुभव नहीं प्राप्त कर पाते जितना करना चाहिए। जो कुछ भी हो,

कार्यालय-संवाददाताओं की ही श्रेणी में और उनके ही स्तर पर शेष संवाद-दाताओं को नहीं रखा जा सकता।

यहाँ हमें 'संवाददाताओं की कमजोरी और मजबूरी' के प्रसंग में द्वितीय श्रेणी के संवाददाताओं का ही वर्णन करना है। यह वर्णन एक बड़ा अप्रिय कार्य है, क्योंकि जबकि एक ओर "ऐसे संवाददाताओं ने स्वयं अपने को 'पूर्ण पत्रकार' मान लिया है और शेष पत्रकार भी अपने संगठनों के सम्बद्ध सदस्यों या हमदर्दों के रूप में उन्हें अपने साथ रखते आये हैं—संगठन की संख्या-शक्ति की दृष्टि से या संवाददाताओं द्वारा लोगों से सम्पर्क स्थापित कर लेने की स्थिति का लाभ उठाने की दृष्टि से", दूसरी ओर इन पंक्तियों का लेखक उन्हें पूर्णतः पत्रकार मानने के लिए कतई तैयार नहीं है, केवल इसलिए नहीं कि उनकी जीविका का एकमात्र या सर्वप्रमुख साधन पत्रकारिता नहीं है, बल्कि इसलिए भी कि पत्र-कारिता की उनकी साधना इतनी भी नहीं होती या हो पाती जितनी सम्पूर्ण-कालिक पत्रकारों की सामान्यतः होती है। इतना ही नहीं, द्वितीय श्रेणी के संवाददाताओं का वर्णन एक अप्रिय कार्य इसलिए भी है कि, न चाहते हुए भी, उनकी अनेक खामियाँ देखनी पड़ती है।

जिलों के विभिन्न भागों में नियुक्त संवाददाताओं में से अधिकांश की कोई विशेष शैक्षिक योग्यता नहीं देखी जाती। या तो जानबूझ कर ऐसे लोगों की (जिनकी कोई शैक्षिक योग्यता नहीं है) नियुक्ति की जाती है या विशेष शिक्षित लोग मिलते ही नहीं। विशेष शिक्षित लोगों के न मिलने का एक कारण यह हो सकता है कि सामान्यतः संवाददाताओं का पारिश्रमिक अधिक-से-अधिक पच्चीस रुपये रखा गया है। यों संवाददाता बन कर अपनी एक स्थिति बना लेने का जो लाभ और लोभ है उसको देखते हुए बहुत से शिक्षित लोग भी लालायित रहते ही हैं, किन्तु चूँकि उनकी अपेक्षा कम पढ़े-लिखे लोगों को दाब मे रखना अधिक आसान है, इसलिए कम पढ़-लिखे लोगों को ही प्राथमिकता दी जाती है। अधिक पढ़े-लिखे लोगों में कुछ विद्यालयों के अध्यापक हो सकते हैं, किन्तु चूँकि उनमें संवाद-संग्रह के लिए दौड़-धूप कर सकने का समय निका-लने वालों की संख्या बहुत कम होती है और चूँकि अपने पद और मान का ख्याल करके वे १०, १५ या २५ रुपये का पारिश्रमिक सामान्यतः स्वीकार नहीं करते, अतः इनकी संख्या कुछ अधिक नहीं हो सकी है। चूँकि पत्रकारिता के किसी सुनिश्चित या आदर्श के अनुसार उच्च शिक्षा और विशेष शिक्षा की

कोई शर्त नहीं लगायी गयी है, अतः अखबार के अर्ध-शिक्षित एजेण्ट भी संवाददाता बन बैठते हैं। चूंकि अखबार की बिक्री बहुत कुछ इन्हीं एजेण्टों पर निर्भर करती है और सम्पर्क या मेल-जोल बढ़ाने के उद्देश्य से ये स्वयं संवाददाता बनने के लिए लालायित रहते हैं, अतः इनकी कोशिश-पैरवी कामयाब हो जाती है। यदि ये एजेण्ट स्वयं संवाददाता नहीं बन पाते तो वे अपने खास आदमियों को ही संवाददाता बनवाना चाहते हैं।

संवाददाता का कार्य यदि कुछ भी बौद्धिक है तो उसकी शैक्षिक योग्यता पर विशेष ध्यान न देना और कुछ एजेण्टों के प्रभाव में आ कर नियुक्ति करना एक बहुत बड़ा दोष है। जब इस दोष से छुटकारे का अभी कोई रास्ता न दिखलाई देता हो तो कम-से कम इतना तो किया ही जा सकता है कि जितनी कुछ योग्यता की आवश्यकता हो उतने के लिए इन अर्ध-शिक्षित संवाददाताओं को प्रशिक्षित करने और कुछ निर्देश देने तथा पथ-प्रदर्शन करने की कोई व्यवस्था की जाय। यह कार्य संपादक या संपादकीय विभाग के अन्य एकाधिक सदस्य कर सकते हैं। ऐसी व्यवस्था तो होनी ही चाहिए कि सम्पादकमण्डल से संवाददाताओं का सम्पर्क बराबर होता रहे। यदि सम्भव हो तो स्वयं सम्पादक या सम्पादक-मण्डल का कोई सदस्य संवाददाताओं के क्षेत्रों का दौरा करके स्वयं संवाद-स्थिति का अध्ययन करे और संवाददाताओं को कुछ बताये। अर्ध-शिक्षित संवाददाताओं के प्रशिक्षण का कार्य कठिन अवश्य है; किन्तु यदि एक ढंग से आयोजित रूप में यह कार्य हो तो अर्ध-शिक्षित भी कुछ शिक्षित और योग्य बन सकते हैं। आखिर पत्रकार को एक शिक्षक भी तो कहा गया है। तो क्या वह अपने संवाददाताओं को प्रशिक्षित नहीं कर सकता? ऐसे संवाददाताओं के प्रशि-क्षण के बारे में सम्पादक का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट होना चाहिए—न अति आदर्शवादी न कोरा यथार्थवादी या व्यवहारवादी।

आदर्शवाद और व्यवहारवाद के समन्वय या सामंजस्य की एक ऊँची सैद्धान्तिक बात तो मोटे तौर पर बता दी जा सकती है, समझा दी जा सकती है, किन्तु यदि कोई संवाददाता शुद्ध भाषा भी न लिख सकता हो, वर्तनी की गलतियाँ करता हो, एक कामचलाऊ भाषा में ढंग से अपनी बात व्यक्त न कर सकता हो, तो उसके लिए पत्र-संचालक या सम्पादक की ओर से कोई पाठशाला नहीं चलायी जा सकती; उसे मार-मार हकीम नहीं बनाया जा सकता क्या यह खेद की आश्चर्य की और विदेशी समाचारपत्रों

सामने अपने को खड़ा कर सकने के विचार से, लज्जा की बात नहीं है कि अधिकांश समाचारपत्रों के संवाददाताओं में से ऐसे संवाददाताओं की संख्या नगण्य नहीं है, जो शुद्ध भाषा भी नहीं लिख सकते, वर्तनी की गलतियाँ करते हैं और कम-से-कम एक 'कामचलाऊ' भाषा में ही अपनी बात व्यक्त नहीं कर सकते।

एक सामान्य स्थिति के, औसत दर्जे के, अखबार में भी क्षेत्रीय संवाददाताओं की संख्या कम-से-कम तीस-चालीस तक तो हो ही जाती है। इन तीस-चालीस व्यक्तियों को पूर्णकालिक कर्मचारी नियुक्त करने पर उसी के अनुसार वेतन भी देना होगा। यह वेतन सम्पादकमण्डल के औसत वेतन से कम नहीं हो सकता। इसका मतलब यह हुआ कि यदि पन्द्रह-सदस्यीय सम्पादकमण्डल पर वेतन के रूप में करीब चार हजार रुपये खर्च होते हैं तो संवाददाताओं पर इसी हिसाब से करीब बारह हजार रुपये खर्च करने पड़ेंगे। क्या कोई औसत दर्जे का अखबार इतनी रकम खर्च करेगा या कर सकता है? यदि नहीं तो, अल्पतम पारिश्रमिक पर जो संवाददाता मिल सकेंगे उन्हें ही रखना पड़ेगा। पत्र-संचालकों के सौभाग्य से ऐसे लोग मिल जाते हैं जिन्हें अल्पतम पारिश्रमिक पर ही संवाददाता बनने में लाभ दिखलायी देता है। यह लाभ क्या है? यह लाभ है वही 'सम्पर्क' या 'मेल-जोल' का। आज 'सम्पर्क' और 'मेल-जोल' का आकर्षण बहुत बढ़ गया है। किसी पत्र का संवाददाता बन जाने पर स्थानीय अधिकारियों, स्थानीय निकाय के सदस्यों तथा प्रमुख व्यक्तियों से ही नहीं, विधायकों तथा संसद-सदस्यों तक से सम्पर्क हो जाता है और फिर 'मेल-जोल' बढ़ने लगता है। संवाददाता स्वयं अपनी ओर से तो 'मेल-जोल' बढ़ाने के लिए सचेष्ट रहता ही है, साथ ही स्थानीय अधिकारी, स्थानीय निकाय के सदस्य, विधायक और संसद-सदस्य भी इन संवाददाताओं को खुश रखने की कोशिश करते हैं। अधिकारी इसलिए खुश रखना चाहता है कि ऐसे समाचार प्रकाशित न हों जिनसे उस पर कुछ आँच आये या उसकी कर्त्तव्यहीनता पर प्रकाश पड़े तथा विधायक और संसद-सदस्य इसलिए चाहते हैं कि अपने-अपने निर्वाचन क्षेत्र में उनके दौरों के समाचार और उनके भाषण तथा वक्तव्य समाचारपत्र में प्रकाशित होते रहें।

इस प्रकार दस रुपये से लेकर अधिक-से-अधिक पच्चीस रुपये पाने वाला अर्द्ध शिक्षित या अपेक्षित शिक्षा से कम शिक्षा वाला एक महत्त्वपूर्ण

व्यक्ति हो जाता है। जिस दिन वह संवाददाता बनता है उसी दिन वह अपने को पत्रकार मान बैठता है। अपनी अल्पज्ञता के कारण योग्य व्यक्तियों के बीच झेंपने की स्थिति बराबर बने रहने की उसे कोई चिन्ता भी नहीं रहती। पत्र-कारिता के ऊँचे मानदण्ड और उसकी मान-मर्यादा का ख्याल करने की बात तो बहुत दूर रही। वह यह देखता है कि जिन लोगों का उससे काम पड़ता है वे उससे कितने ही अधिक योग्य क्यों न हों और मन ही-मन उसे अयोग्य भले ही समझते हों ऊपर से तो आदर और प्रेम का ही भाव प्रकट करते हैं। यह स्थिति कितनी आकर्षक होती है! तभी तो जाने कितने लोग संवाददाता बनने के लिए लालायित हो उठते हैं।

चूँकि पढ़े-लिखे लोग नौकरी में लगे होते है, अतः उनमें से संवाददाता बनने के लिए कोई नहीं मिल पाता। और, जैसाकि अध्यापकों को इस काम मे लगाने की सम्भावना की चर्चा करते हुए पहले कहा गया है, पढ़ाने में लगे किसी अध्यापक को जरूरत पड़ने पर ड्यूटी के ही समय संवाद प्राप्त करने और उसे तुरन्त अखबार में प्रेषित करने की छूट नहीं मिल सकती। देहाती क्षेत्रों में इस प्रकार अन्य नौकरियो में लगे शिक्षित लोगों के न मिल सकने और पूर्णकालिक संवाददाता नियुक्त करने में पत्रों के असमर्थ होने के कारण अर्ध शिक्षितों में से ही कुछ की बन आती है। एक बार संवाददाता बन जाने पर कुछ ही दिनों में वह अपनी स्थिति ऐसी ठोस कर लेता है कि उसके स्थान पर शीघ्रता और सरलता से किसी और व्यक्ति को संवाददाता नियुक्त करने में अखबार को कठिनाई का सामना करना पड़ता है। समस्या यह है कि जिस सम्पर्क और 'मेल-जोल' से कोई संवाददाता अपनी एक स्थिति बना लेता है वही संवाद-संग्रह का साधन भी तो होता है, अतः नये संवाददाता की नियुक्ति होने पर उसे सम्पर्क और 'मेल-जोल' स्थापित करने में काफी समय लग जाता है और इस बीच कुछ संवाद-संकट पैदा हो जाने की संभावना बनी रहती है। पुराने संवाददाता द्वारा अपने सम्पर्क का लाभ उठा कर कुछ दिनों तक नये सवाददाता के कार्य में बाधा डालने की भी आशंका बनी रहती है।

कोई बहुत महत्त्वपूर्ण घटना, जिसका सम्बन्ध सारे देश से हो, गाँव में या गाँव के पास भी घट सकती है—जैसे ट्रेन-दुर्घटना, वायुयान-दुर्घटना, ट्रेन से यात्रा कर रहे किसी राजनीतिक नेता की हत्या। इन घटनाओं की भी रिपोर्टिंग पहले देहाती क्षेत्र के संवाददाता को ही करनी होगी। निकटतम अधिका-रियों को सूचित करने और फिर लोगों से बातचीत करके पूरी तत्परता तथा

शीघ्रता के साथ अपने अखबार में समाचार भेजने में उसे अपनी विशेष कुशलता का परिचय देने की आवश्यकता होती है। ऐसी घटनाओं के सम्बन्ध मे अधिकारियों की प्रायः अपनी एक अलग नीति होती है, अतः उनकी इस नीति के बावजूद अपने ढंग से सही-सही समाचार देने में संवाददाता को अधिकारियो के रोब के मुकाबले अपना भी एक रोब दिखलाने की आवश्यकता होती है। लेकिन, अधिकांश संवाददाता, जिन्होंने स्थानीय अधिकारियों और नेताओं से भले ही अच्छा सम्पर्क स्थापित कर लिया हो और उन सब के 'मुँहलगे' भी हो गये हों, किसी बाहरी बड़े अधिकारी या नेता से भी प्रगल्भता के साथ बातचीत कर ले सकते हैं— ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसे अवसरों पर देहाती क्षेत्र के अनेक संवाददाताओं के चूकने या मूर्खता का परिचय देने की कुछ 'रोचक' कहानियाँ प्रायः हर समाचारपत्र के सम्पादक से मिल जायेंगी।

खैर, इन बड़ी, अखिलदेशीय महत्त्व की घटनाओं की बात हम यहीं छोड देते हैं। सामान्यतः क्षेत्र से ही सम्बन्धित किस-किस तरह के समाचार होते हैं, क्या उनकी सही-सही या अधिकांशतः सही रिपोर्टिंग हो पाती है और यदि नहीं हो पाती तो क्यों...आदि प्रश्नों को लेकर ही हम यहाँ संवाददाताओं के सम्बन्ध मे कुछ विचार करेंगे। इन दिनों देहातों में अपराध पहले से कहीं ज्यादा बढ गये है। इन अपराधों में खेत को लेकर होने वाले झगड़े सर्वप्रमुख हैं। पहले हम इन्हीं झगड़ों को लेते हैं और यह देखना चाहते हैं कि क्या इनकी सही रिपोर्टिंग हो पाती है! प्रायः यह होता है कि इनकी रिपोर्टिंग के मामले मे संवाददाता एक पक्ष और पुलिस अधिकारी के प्रभाव या दवाव में आ जाता है। आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति की दृष्टि से जो पक्ष प्रबल होता है वह पुलिस को प्रभावित करके या मिला कर घटना को अपने अनुकूल (अपने बचाव के लिए) बनाने की कोशिश करता है और यदि बहुत हद तक नहीं तो कुछ हद तक सफल हो जाता है। ऐसी स्थिति में, चूँकि संवाददाता का सम्पर्क या 'मेल-जोल' पुलिस-अधिकारियों से अधिक हुआ रहता है या कुछ मानों में अपराध-समाचारों के संग्रह में उन पर भी निर्भर करना पड़ता है, अतः आर्थिक और सामाजिक हैसियत की दृष्टि से कमजोर पक्ष के साथ संवाददाता की ओर से प्रायः अन्याय हो जाता है (जानबूझ कर या अनजाने में या कुछ मजबूरी मे)।

अपराध-समाचारों के मामले में पुलिस-अधिकारियों पर निर्भरता की बात आने पर कोई यह पूछ सकता है कि जब पुलिस-अधिकारी को स्वय स

को खुश रखने की गरज होती है तो यह बात युक्तिसंगत कैसे है कि संवाददाता ही पुलिस के दबाव और प्रभाव में आ जायगा, पुलिस संवाददाता के प्रभाव या दबाव में नहीं आयेगी। प्रश्न उचित ही है। किन्तु यह भी तो बताया गया है कि सम्पर्क या 'मेल-जोल' बढ़ाने की शुरुआत पहले संवाददाता की ओर से ही होती है और तभी तो वह अपनी एक 'स्थिति' बनाता है। अधिक-से-अधिक यह होता है कि कहीं पुलिस-अधिकारी को संवाददाता का और कहीं संवाददाता को पुलिस-अधिकारी का ख्याल रखना पड़ता है। जो कुछ भी हो, अपराधों के बारे में पूर्णत सही संवाद मिलने की एक समस्या तो बनी रहती है ! आखिर इस समस्या का समाधान हो भी तो क्या हो ? मुसीबत तो यह है कि पत्रकारिता की स्वय अपनी कोई ऐसी सशक्त स्थिति नहीं बन पायी है (और शायद बन भी न सके) कि सम्पर्क और मेल-जोल के बिना भी काम चल सके या 'सम्पर्क' और 'मेल-जोल' रहते हुए भी उनके संकोच में पड़े बिना निष्पक्षता से संवाद संग्रह करके पत्र में भेज दिया जाय ! काश ऐसी आदर्श स्थिति बनाने का कोई उपाय निकल आता !

हम क्या-क्या बतलायें ! बहुत कुछ प्रबुद्ध पाठक स्वयं देखने लगे है और देख कर बेचारे चुप रह जाते हैं। ऐसे कुछ समाचारों का उल्लेख करके हम प्रस्तुत प्रसंग को समाप्त करना चाहते हैं, जो विशुद्ध रूप मे व्यक्तिगत हित में दिये जाते है। विशुद्ध रूप में व्यक्तिगत हित में दिये गये इन समाचारों में यदि कहीं कोई ऐसा सूत्र भी मिलता हो जिससे कुछ हद तक कुछ अधिक लोगों का हित दिखलायी दे जाता हो तो भी कुछ गनीमत है। कुछ होशियार हो गये संवाददाता ऐसी कोशिश जरूर करते हैं कि ये विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत हित के ही समाचार कुछ अधिक लोगों के हित के भी मालूम पड़ें। उदाहरणार्थ हम नीचे दो समाचार देते हैं :—

(१) 'स्थानीय इण्टर कालेज के प्रधानाचार्य के पद के लिए विज्ञापन निकलने के कारण अभिभावकों, छात्रों, सम्भ्रान्त व्यक्तियों तथा आम लोगों में चिन्ता व्याप्त हो गयी है। विद्यालय की विषम परिस्थिति में अभी कम-से-कम एक वर्ष पुराने प्रधानाचार्य श्री······· का रहना अनिवार्यतः आवश्यक प्रतीत होता है। उनकी पटुता, ईमानदारी तथा अनुशासन से क्षेत्रीय लोग प्रभावित है। विज्ञान-कक्ष, जिसका निर्माण-कार्य प्रधानाचार्य ने आरम्भ किया है, उनके हट जाने से शायद ही बन पाये ऐसा लोगों को संदेह है। कम-से-कम विज्ञान

कक्ष बनने तक जनता उनको यहीं रखना चाहती है और विश्वास करती है कि शासन इस पर विचार कर उनके इस पद पर बने रहने देने का अनुमोदन करेगा।'

× × ×

(२)······इस जनपद के नये उप-विद्यालय-जिला-निरीक्षक······ने······ जूनियर हाई स्कूल का आकस्मिक निरीक्षण किया। विद्यालय के प्रांगण, विभिन्न सामग्रियों से भरे तथा सुसज्जित कमरों, उद्यान तथा अध्यापकों और छात्रों के श्रम एवं आर्थिक सहयोग से विद्यालय के नई निर्माण-कार्यों को देख कर आप काफी सन्तुष्ट जान पड़े और आपने इस जूनियर हाई स्कूल को आदर्श विद्यालय की संज्ञा दी।'

× × ×

यहाँ हमने कुछ पुलिसवालों के पक्ष में या उनकी प्रशंसा में दिये गये समाचार न कर विद्यालय के ही समाचार जानबूझ कर प्रस्तुत किये हैं, क्योंकि की प्रशंसा या उसके प्रति पक्षपात की अपेक्षा अध्यापक और शिक्षा- के संचालक की प्रशंसा या उनके प्रति पक्षपात के समाचार अच्छे माने जा सकते हैं। उपर्युक्त दो समाचारों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करके उन पर समाचारत्व की दृष्टि से आलोचना करने के पूर्व यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि किसी व्यक्ति के अच्छे कार्यों की प्रशंसा करना पत्रकारिता का एक कर्त्तव्य अवश्य है, किन्तु वह प्रशंसा कैसे हो, समाचार के माध्यम से हो तो किस रूप में हो, विचार-स्तम्भ के माध्यम से हो तो किस रूप में हो। फिर यह भी देखना होगा कि जिस तरह के कार्यों को लेकर किसी एक व्यक्ति की प्रशंसा होती हो उसी तरह के कार्यों को लेकर कितने व्यक्तियों की प्रशंसा होती रहे और इतने सारे व्यक्तियों के लिए स्थान कहाँ से निकाले जायँ। मुख्य बात यह समझने की होती है कि ऐसे समाचारों में क्या कोई समाचारत्व होता है !

जो एक स्थिति हफ्तों, महीनों या वर्षों से चली आ रही है उसका बार-बार अलग-अलग ढंग से वर्णन कर देना ही समाचार नहीं है। वह स्थिति कौन-सा नया रूप ले चुकी है, ले रही है या लेती दिखायी दे रही है—इसका कुछ तथ्यपूर्ण वर्णन एक अच्छा समाचार हो सकता है और उसमें समाचारत्व न होने की बात नहीं कही जा सकती। जो अब तक न हुआ हो और अब हो जाय,

वही समाचार है। जो कुछ अब तक हुआ है उसी में कुछ और होने का संकेत ('समाचार के पीछे समाचार', 'पंक्तियों के बीच में छिपी घटना') भी समाचार होता है! किन्तु जहाँ ऐसा कुछ न हो वहाँ समाचारत्व कैसे माना जाय!

ऊपर उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत दो समाचारों में से पहले समाचार को ही लेते हैं? क्या इसमें कोई समाचारत्व है? पहले वाक्य में जो यह कहा गया है कि 'चिन्ता व्याप्त हो गयी है' इसमें यह देखा जा सकता है कि चिन्ता की स्थिति पहले नहीं थी अब हो गयी है। यदि सचमुच चिन्ता व्याप्त हो गयी है तो यह एक समाचार हो सकता है। किन्तु इस चिन्ता के व्याप्त होने का कोई लक्षण तो होना चाहिए। यदि कुछ अभिभावकों और छात्रों ने कोई सभा या बैठक करके प्रस्ताव पास किया होता या उनमें से कुछ ने वक्तव्य के रूप में कुछ कहा होता या संवाददाता महोदय ने घूम-घूम कर मत-संग्रह किया होता तो यह सब कुछ मिलकर एक प्रबल लक्षण के साथ अच्छा समाचार भी हो जाता। विज्ञापन निकलते ही बैठे-बैठे 'चिन्ता व्याप्त हो गयी' लिख देने से सचमुच चिन्ता व्याप्त हो जाने की बात विश्वसनीय नहीं हो जा सकती और न समाचार की परिभाषा के अनुसार उसे समाचार कहा जा सकता है। उसी तरह बैठे-बैठे संवाददाता का केवल यह लिख देना कि "उनकी पटुता, ईमानदारी तथा अनुशासन से क्षेत्रीय लोग प्रभावित हैं" वास्तविकता नहीं हो जा सकती। इस तरह के समाचारों को लेकर अधिकांश संवाददाताओं के सम्बन्ध में एक लम्बे अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जनता का नाम लेकर व्यक्तिगत-हित में—व्यक्ति-विशेष के पक्ष में एक केस बनाने के लिए ही—ऐसे समाचार प्रकाशित किये जाते हैं। व्यक्ति-विशेष ऐसे समाचारों को अपने पक्ष मे एक प्रमाणपत्र बना लेना चाहता है। उस व्यक्ति-विशेष के हित में संवाददाता भी अपना कुछ स्वार्थ देखता ही है! किसी व्यक्ति का केस बनाने और उसे प्रमाणपत्र देने के एक मात्र इरादे से दिये गये ऐसे समाचारों के लिए क्या संवाददाताओं को टोका जाता है? यदि एक व्यक्ति का केस बनाने या उसको प्रमाणपत्र देने के इरादे से नहीं, सचमुच ईमानदारी के साथ उस व्यक्ति को प्रशंसनीय समझ कर समाचार दिया गया हो तो क्या इसी तरह क्षेत्र के और भी जाने कितने लोगों की प्रशंसा में भी इसी तरह के समाचार दिये जाते ? और क्या उन सब का प्रकाशित होना सम्भव है?

इसी प्रकार दूसरे समाचार की भी परीक्षा कर लीजिए। जिला विद्यालय-

निरीक्षक रोज ही किसी-न-किसी विद्यालय का निरीक्षण करते हैं और इसी प्रकार कुछ प्रसन्नता और अप्रसन्नता प्रकट करते रहते हैं। तो क्या सभी विद्यालयों के निरीक्षण के समाचार इसी प्रकार दिये जाते रहें ? विद्यालय-विशेष में ही संवाददाता महोदय की दिलचस्पी क्यों ? यहाँ भी व्यक्ति-विशेष से प्रेरित होकर और कुछ अपने स्वार्थ में भी प्रमाणपत्र देने के इरादे का सन्देह किया जा सकता है।

चूँकि अपराध-समाचारों की प्राप्ति के लिए अधिकांशतः थाने में दर्ज रिपोर्ट या पुलिस की सूचना पर ही निर्भर रहना पड़ता है या निर्भर रहने में ही सहूलियत देखी जाती है, अतः अक्सर पुलिस की भी प्रशंसा समाचारों में कर दी जाती है—खास करके दारोगा या उससे ऊँचे अफसर की। अपराधियों का पता लगाना और उनको पकड़ना तो पुलिस का कर्त्तव्य ही होता है, अतः इसके लिए संवाददाता द्वारा उसको प्रमाणपत्र देने का कोई कारण नहीं दिखलायी देता, फिर भी संवाददाता से अपने सम्पर्क का लाभ उठा कर अधिकांश पुलिस-अधिकारी प्रमाणपत्र प्राप्त कर लेते हैं ! प्रमाणपत्र प्राप्त करने वाले इन पुलिस अधिकारियों के सम्बन्ध में आश्चर्य तब होता है जब ये ही मामलों को अपने इच्छानुसार दबाने या उभाड़ने का कुकृत्य करते हैं और उस कुकृत्य की कोई रिपोर्टिंग नहीं होती ! हाँ, कभी-कभी कोई संवाददाता व्यक्तिगत रूप से पुलिस से नाराज होने के कारण, अपनी स्थिति कहीं से ठोस बनी देख कर, पुलिस की निन्दा भी करने लगता है। व्यक्तिगत कारण से की गयी यह निन्दा सही हो या गलत, संवाद-संग्रह के अपेक्षित कर्त्तव्य के अन्तर्गत उस तरह नहीं आती जिस तरह आनी चाहिए।

जाने कितनी बार ऐसा हुआ है कि डाकुओं से मोर्चा लेने में और उन्हें खदेड़ने में ग्रामीणों ने ही साहस और वीरता का परिचय दिया है, किन्तु संवाददाता महोदय की विशेष कृपा से सारा श्रेय पुलिस-दल को मिल गया, जो घटना-स्थल पर बहुत देर बाद पहुँचा ! 'अच्छे काम की प्रशंसा करना ही चाहिए', यह बात बड़े जोरदार ढंग से कह कर जो संवाददाता व्यक्ति-विशेष या अधिकारी-विशेष की प्रशंसा की वकालत कर सकता है वही यदि जनता के प्रशंसनीय कार्य पर चुप रह जाता है या उसका श्रेय किसी और को दे देता है, तो उसके इस कार्य को क्षेत्र की जनता के प्रति, अपने दायित्व के प्रति और अखबार के प्रति बेईमानी क्यों न कहा जाय ?

फिर आता है नम्बर ऐसे संवादों का जो वस्तुतः संवाद नहीं होते, बल्कि बहुत पहले से चली आ रही, स्थायी बन गयी, एक स्थिति का चित्रण मात्र होते हैं—ऐसे चित्रण जो पहले कई बार किये जा चुके होते हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने एक जिले के एक क्षेत्र के संवाददाता महोदय को उस क्षेत्र के पिछड़ेपन और औद्योगिक विकास की उपेक्षा तथा तत्सम्बन्धी पुराने वक्तव्यों की आवृत्ति चार महीने में ६ बार करते देखा। इसी प्रकार उस क्षेत्र में सड़ी-गली मिठाइयाँ और अपमिश्रित एवं विषाक्त खाद्य पदार्थों की बिक्री का समाचार उन्होंने दो माह में चार बार दिया! किसी क्षेत्र के पिछड़ेपन की, औद्योगिक विकास में उपेक्षा की बात उठाना अच्छी बात है और उसे बार-बार उठाये जाने पर कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार सड़ी-गली मिठाइयों और अपमिश्रित एवं विषाक्त खाद्यपदार्थों की बिक्री के विरुद्ध आवाज उठाना भी बहुत अच्छी बात है और उसके विरुद्ध बार-बार आवाज उठानी चाहिए। किन्तु देखने की बात तो यह है कि क्या इन सब में समाचार और समाचारत्व की परिभाषा के अनुसार समाचार और समाचारत्व देखा जा सकता है। इन बातों की आवृति यदि करनी ही है, तो वह समाचार के रूप में न होकर 'संपादक के नाम पत्र', 'पठाकों के पत्र', 'जनता की आवाज' के स्तम्भों में की जायें। हाँ, यदि इस तरह की शिकायतों को लेकर कोई सभा या बैठक हो उसमें कोई प्रस्ताव पास हो तो उसे और उन पर किसी अन्य व्यक्ति के वक्तव्य को अवश्य समाचार कहा जायगा। किसी क्षेत्र में बाढ़ आने या सूखा पड़ने के तत्काल बाद उस क्षेत्र का दौरा करके वहां का विवरण प्राप्त करना, चित्रण करना समाचार के अन्तर्गत आता है और इस चित्रण व विवरण को बहुत दिनों से चली आयी एक स्थायी स्थिति के चित्रण और विवरण से भिन्न माना जायगा। कुछ संवाददाताओं के सम्बन्ध में यह भी पाया गया है कि अपनी मौज के लिए किसी व्यक्ति की जीप या कार में बैठ कर किसी क्षेत्र में निकल गये और वहाँ का ऐसा ही कुछ वर्णन कर दिया। पिकनिक हो गयी और संवाद भी बन गया—एक पंथ दो काज!

संवाददाताओं की शिकायत और आलोचना में इतना लिख जाने के बाद अब प्रश्न उठता है कि आखिर इस स्थिति को बदलने का रास्ता क्या है? दो-चार पत्रों के ही संवाददाताओं के सम्बन्ध में ऐसी बात हो, तो कुछ कहा भी जाय लेकिन यहाँ तो ८० प्रतिशत से अधिक पत्रों के का यही

हाल दिखलायी देता है ! सभी संवाददाताओं को पूर्ण अनुशासन, नियन्त्रण और निर्देशन में रखने का सर्वोपरि, सर्वोत्तम, उपाय तो यही हो सकता है कि उन्हें पूर्णकालिक वेतनभोगी बनाया जाय ! किन्तु वर्तमान स्थिति में इस सुझाव को व्यावहारिक कैसे कहा जा सकता है ! क्या इसके लिए कोई पत्र-संचालक तैयार हो सकता है—चाहते हुए भी ! दूसरा सुझाव पत्र और पत्रकारिता की एक ऐसी सशक्त स्थिति और ऐसा सशक्त व्यक्तित्व बनाने का है जिसमें संवाददाता समाचारत्व को समझ सकें, पत्र के हित को और पाठक की आवश्यकता को हमेशा ध्यान में रख सके और यदि 'सम्पर्क' और 'मेल-जोल' अपेक्षित ही हो तो उनका उपयोग मर्यादित ढंग से, आदर्श और यथार्थता में सामंजस्य स्थापित करते हुए, कर सकें। पत्र का एक सशक्त और ऊँचा व्यक्तित्व बन जाने पर संवाददाता के लिए एक ऐसी स्थिति का बनाना कुछ कठिन नहीं होगा, जिसमें वह सम्पर्क और मेल-जोल रखते हुए भी अनुचित रूप में किसी से प्रभावित न हो और निष्पक्षता कायम रखे। लेकिन यहीं एक बार फिर इस प्रश्न पर विचार करना पड़ेगा कि पत्र का व्यक्तित्व सशक्त और ऊँचा कैसे बन सकता है, कैसे बनाया जाय ? यही एक प्रश्न ऐसा है जिसमें 'संवाददाताओं की निन्दा और आलोचना के अन्त' का प्रश्न निहित है।

● ●

अपराध-समाचार और सामाजिक दृष्टि

आदर्शवादी दृष्टिकोण से हम कुछ पत्रकार तथा कुछ दूसरे लोग अक्सर यह शिकायत कर बैठते हैं कि यदि सभी पत्रों में नहीं तो अधिकांश पत्रो मे अपराध समाचार भरे होते हैं। सहज ही यह प्रश्न उठता है कि यदि इन समचारों से जनता की भावना दूषित होती है, अपराध-प्रवृत्ति के बढ़ने का भय होता है तो क्या उन्हें प्रकाशित करना चाहिए? कुछ दूसरे लोगों का सुझाव यह है कि यदि प्रकाशित ही किये जायँ तो प्रमुखता से नहीं। फिर एक सवाल यह उठता है कि कोई अपराध-समाचार कितना ही गम्भीर क्यों न हो, क्या उसे भी उसकी गम्भीरता के अनुसार, उसकी सामान्य प्रतिक्रियाओं का विचार करके, महत्त्व न दिया जाय और फिर प्रतियोगिता या प्रतिद्वन्द्विता के इस युग मे आदर्शवाद का पल्ला पकड़ कर कोई पत्रकार अपराध-समाचारों को हमेशा ही महत्त्वहीन बना कर प्रस्तुत करता रहे तो उस पत्र के संचालक के सामने उस बेचारे की क्या दुर्गति होगी, क्या उसका संचालक अन्य पत्रों से प्रतिद्वन्द्विता मे, ऐसे ही समाचारों के प्रकाशित न होने के कारण, पिट जाने से अपने उस पत्रकार को निकम्मा नहीं समझेगा, उसके आदर्शवाद की प्रशंसा करेगा ?

आदर्श और यथार्थ की व्यावहारिकता और अव्यावहारिकता की इन तमाम बातों को अलग रख कर इस प्रश्न पर पत्रकार को एक सामाजिक दृष्टि से विचार करना होगा, क्योंकि अपराध के प्रश्न का सम्बन्ध सम्पूर्ण सामाजिकता और सामाजिक परिस्थिति से है। अपराध-समाचारो को प्रकाशित करने या न करने, अधिक महत्त्व देने या कम महत्त्व देने, उचित महत्त्व देने या, किसी खास इरादे से, जरूरत से ज्यादा महत्त्व देने का चाहे जो निर्णय वह करे, इन समाचारों के माध्यम से ही यदि वह अपने समाज को न देख सका उसका गहराई से अध्ययन न कर सका, तो उसके आदर्शवाद और व्यवहारवाद या यथार्थवाद व कोई मतलब नहीं इस के बिना ही जो लोग औरो से सुनी हुई बात

की आवृत्ति की आदत के अनुसार, यह शिकायत करते हैं कि 'अखबारों में मार-पीट, छुरेबाजी, राहजनी, जेबकटी, डकैती, अपहरण, शीलभंग, हत्या, आत्म-हत्या आदि के समाचार खूब दिये जाते हैं' वे यथार्थ से दूर जाकर, कोरे आदर्श-वाद के प्रवाह में पड़ कर ही ऐसा कहते है और ऐसे समाचारों को न देने या मामूली ढंग से देने की सलाह देते हैं।

अपराध-समाचारों के सम्बन्ध में ऐसी बातें सुनने में तो बड़ी अच्छी लगती है, किन्तु, प्रश्न यह है कि क्या इन समाचारों को न देने से सामाजिक स्वस्थता आ जायगी ? यहीं एक सम्बद्ध प्रश्न, जो शायद ही किसी के दिमाग में आता हो, यह है कि जो अपराध-समाचार कहे जाते हैं वे ही क्या वस्तुत: अपराध-समाचार होते हैं ? क्या आज राजनीति, जो लोकतन्त्र के आवरण में चल रही है, अपने मे स्वयं एक अपराध नहीं हो गयी है ? राजनीति के अपने में स्वयं एक अपराध होने का स्पष्ट संकेत तो भारत के संबंध में सीमान्त गाँधी खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ के निम्नलिखित शब्दों से भी हो जाता है :—"भारत की स्थिति बहुत दयनीय है। यहाँ हर व्यक्ति वोट चाहता है, पद और प्रतिष्ठा चाहता है। यहाँ हर व्यक्ति को हुकूमत करने की, अपनी निजी स्वार्थ सिद्ध करने की चाह है। देश-सेवा के नाम पर भारतीय नेता जनता को मूर्ख बना रहे हैं। अपना-अपना मतलब गाँठने के लिए राजनीतिक दल एक-दूसरे की जड़ खोद रहे हैं। यदि भारतीत नेता अपने हृदय को टटोलें तो उन्हें अपने स्वार्थ-साधन की प्रवृत्ति पर स्वयं लज्जा होगी"। (१२ अक्टूबर, १९६९)। यदि मारपीट, छुरेबाजी, राह-जनी आदि प्रत्यक्ष अपराध हैं तो आज राजनीति को भी एक अप्रत्यक्ष अपराध के रूप में देखना कुछ कठिन नहीं है।

स्वतन्त्र भारत के 'निर्वाचनवाद' के पन्द्रह वर्षों में ही लोग यह कहते सुने जाने लगे कि अमुक निर्वाचन-क्षेत्र में अमुक विधान सभा-सदस्य या संसद-सदस्य के अपने कुछ विशेष 'शिक्षित, प्रशिक्षित एवं सभ्य' गुण्डे भी हैं ? क्या समाचार-पत्रों के ही माध्यम से एकाधिक बार यह बात प्रकाश में नहीं आयी है कि मध्य-प्रदेश और राजस्थान के कुछ राजनीतिज्ञों का 'भरण-पोषण' वहाँ के कुछ डाकुओं द्वारा होता है ? जिला-स्तर से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक की राजनीतिक हत्याओं के समाचार इधर द्वितीय महायुद्ध के बाद कई बार पढ़ने को मिले हैं। गाँधी की हत्या, जान० एफ० केनेडी की हत्या, मार्टिन लूथर किंग की हत्या, राबर्ट केनेडी की हत्या, मरे हुए स्टालिन को जिला कर उसकी हत्या...

आदि इधर की महत्त्वपूर्ण राजनीतिक हत्याएँ थीं ? यद्यपि पकड़ा जाता है एक कोई साधारण व्यक्ति ही और वही दण्डित भी होता है, किन्तु वस्तुतः उसके पीछे हाथ होता है पूरी राजनीति का या 'महापुरुषों' का या दलों का। ऐसी हत्याओं के बाद सत्ता या किसी दूसरे तरह के प्रभुत्व का उपयोग करके दूसरा अपराध न्यायालयों तक को प्रभावित करने के प्रयास में देखा जा सकता है। सच पूछिए तो राजनीति के जाने कितने अपराधी इतिहास में 'महापुरुष' बन गये हैं।

युद्ध से बढ़ कर अपराध क्या हो सकता है ? और उन युद्धों के प्रति घृणा किन शब्दों में प्रकट की जाय, जो मोर्चों तक ही नहीं आम जनता के आवासो तक, खेतों और खलिहानों तक विस्तृत हो जाते हैं। पिछले ऐसे एक महापराध मे गोली, गोलों, बमों का ही नहीं, अणु बमों तक का उपयोग हो चुका है। इन सारे युद्धों के लिए जिम्मेदार होते हैं राजनेता और राजनीतिज्ञ ही तो ! हर पक्ष युद्ध का औचित्य सिद्ध करने की कोशिश करता है, और जो पक्ष पराजित हो जाता है उसे ही या उसके कुछ व्यक्तियों को युद्धापराधी घोषित कर दिया जाता है। लेकिन वास्तविकता कुछ और ही होती है, जिसे तटस्थता का ढोंग रचने वाले नहीं, बल्कि 'सच्चे अर्थ में तटस्थ' लोग ही ठीक से देख सकते हैं और समझ सकते हैं ? क्या हिरोशिमा और नागाशाकी पर, आम जनता पर, अणुबम गिराने वालों को उसी तरह युद्धापराधी घोषित किया जा सका जिस तरह जापान के उन सैनिक शासकों को घोषित किया गया जिन्हें युद्धापराधी मानना ठीक ही था। क्या अमेरिका के मित्र कम्युनिस्ट राष्ट्र रूस ने उस समय अमेरिका के इस कुकृत्य पर मानवतावाद का नाम लेकर विशेष रोष प्रकट किया ? उस प्रथम अणुबम-प्रहार पर जिस तरह मौन साध लिया गया वह क्या अपने में स्वय एक अपराध नहीं था ?

यदि प्रथम महायुद्ध तथा द्वितीय महायुद्ध के मूल के सम्बन्ध में सोवियत सघ के विचारों का अध्ययन किया जाय, तो उसके अनुसार यही माना जायगा कि इन दोनों के मूल में ब्रिटेन ही था। हिटलर को खड़ा करने और बढ़ावा देने मे भी ब्रिटेन को ही मुख्य रूप से जिम्मेदार ठहराया गया। किन्तु यह ब्रिटेन भी द्वितीय महायुद्ध के बाद रूस के मित्र-राष्ट्र के रूप में निकला। यह सब कैसी विडम्बना है ? सच पूछिए तो, अब तक जितने युद्ध हुए हैं उनको भड़काने और चलाने वालों में जितने लोगों को [illegible]ी घोषित करना चाहिए था उतने

नहीं हुए। विजयी पक्ष के राजनेता और युद्ध-नेता तो उलटे प्रशंसित ही होते आये हैं और न्याय के उनके ही पक्ष में होने की घोषणा की जाती रही।

जबकि विभिन्न विचारकों ने 'राजनीति को युद्ध का और युद्ध को राजनीति का विस्तार' कहा है तथा राजनीति को 'अपने में स्वयं एक युद्ध' माना है, तो राजनीतिक पुरुषों को अपराधी के रूप में क्यों न देखा जाय। जब इन्हें अपराधी के रूप में देखने की बात मन में आती हो, तो इसके साथ ही इनका प्रचार भी बन्द करने की बात मन में आना स्वाभाविक है। किन्तु क्या सामूहिक रूप में सभी अखबार एक स्वर से इनका प्रचार रोकने का समर्थन करेंगे ? इनका प्रचार रोकने पर एक हद तक कुछ अखबार भले ही सहमत हो जायँ, पर युद्ध छिड़ जाने पर युद्ध-नेताओं तथा युद्धों के समाचार के प्रकाशन को कैसे रोका जा सकता है। जिस विचार से सामान्य अपराध-समाचारों को रोकने का समर्थन किया जाता है, वही विचार क्या युद्ध-समाचार के प्रकाशन पर भी लागू हो सकता है ?

अर्थ, पद और यश के लिए राजनीतिज्ञों के अलावा उद्योगपतियों, व्यवसायियों, वकीलों, डाक्टरों, शिक्षण-संस्थाओं के संचालकों तथा कुछ 'गुरुजनों' द्वारा भी किस तरह अपराध हो रहे हैं, इसका ठीक से अध्ययन करने के बाद तो सम्पूर्ण समाज अपराधमय दिखलायी देगा ! किसी छोटे या बड़े कारखाने में लठैत नियुक्त होने की बात आज किससे छिपी है। जहाँ एक ओर स्वतन्त्रता-संग्राम के काल में कुछ विख्यात वकीलों द्वारा उसमें योगदान का ख्याल करके उनके पेशे के बारे में सम्मान का भाव व्यक्त किया जाता रहा है वहीं अब यह सुना जाता है कि शहरों और देहातों में कुछ वकीलों के ऐसे एजेण्ट होते हैं जो दीवानी और फौजदारी मुकदमों के लिए लोगों को उकसा कर उन्हें अपने वकील के मुवक्किल बना लेते हैं। यों भी, यदि यह विचार किया जाय कि "मुकदमे अपने में क्या हैं और उन्हीं पर आधृत पेशे के लोगों की उनके बढ़ते रहने में कितनी दिलचस्पी हो सकती है" तो वकालत को अपराध-सम्बद्ध पेशा मानने में कोई कठिनाई नहीं होगी। इसी प्रकार अस्पताल के डाक्टरों में से कितनों ने अतिरिक्त अर्थोपार्जन के लिए, जो उपाय निकाल लिये है उन पर भी गौर किया जा सकता है। और स्वयं पत्रकार ? ऐसे तमाम लोगों से सम्बद्ध होकर, सम्पर्क स्थापित करके या सम्बद्ध होने और सम्पर्क स्थापित करने के लिए बाध्य होकर वह भी क्या कहीं-न-कहीं, कुछ-न-कुछ 'अपराधों में सहायक' नहीं हो रहा है ? जब ऐसी स्थिति हो तो क्या इन सब के वक्तव्यों

भाषणों, स्वागत और विदेश-यात्रा आदि के समाचारों का बहिष्कार सम्भव है ?

वस्तुतः बात यह है कि सामाजिक अस्वस्थता, कुरूपता और क्रूरता के विचार के मूल में जो चीज आती है उस पर विचारक की तरह पत्रकार ने नहीं सोचा है। वह चीज है सम्पत्ति, जो सम्पत्ति-सम्बन्धों की एक नवीनतम अनुभूति या उनके सामाजिक अध्ययन की ओर प्रेरित करती है। जब तक यह अनुभूति और यह अध्ययन ठोस नहीं होगा तब तक सारी दार्शनिक बातें, सारे उपदेश और सारे आदर्शवादी विचार व्यर्थ होंगे, क्योंकि अन्ततः 'सम्पत्ति ही सारी बुराइयों की जड़ साबित होकर रहेगी। इस मूलभूत चीज को समझे बिना या समझने की कुछ कोशिश किये बिना, अखबारों के माध्यम से या अन्य माध्यमों से जनता की भावनाओं और विचारों को दूषित करने वाली बातों के प्रचार और प्रसार को रोकने की सलाह का कोई अर्थ नहीं होता। क्या आदर्शवाद के प्रति दत्तचित्त और समर्पित होने का दावा करने वाले किन्हीं पत्रकार ने इस मूलभूत तथ्य को समझा है या समझने की कोशिश की है ? पत्र और पत्र-कारिता के माध्यम से इस विषय को जितनी खूबी से समझा जा सकता है उतनी खूबी से शायद और किसी माध्यम से नहीं समझा जा सकता।

उपर्युक्त विचारों को सामने रखते हुए यही कहना पड़ेगा कि अपराध-समा-चारों से कहाँ तक बचा जा सकता है। चारों ओर अपराध-ही-अपराध तो नजर आ रहे हैं। आगे और चलिए :—जातिवादी कलह, साम्प्रदायिक विद्वेष और उपद्रव, प्रान्तीयता एवं क्षेत्रीयता के उन्माद के समाचार मिलेंगे। ये सब भी तो आखिर अपराध ही हैं—ऐसे अपराध जिनमें सामूहिक रूप में वे सब लोग शामिल हो जाते हैं जिन्हें कोई जरायमपेशा-वर्ग का नहीं कह सकता। क्या किसी कानून द्वारा या प्रेस-कौंसिल जैसी किन्हीं संस्थाओं के निर्णयों द्वारा या अखबारों के संचालकों और सम्पादकों के पारस्परिक समझौतों द्वारा इनके समाचारों का प्रकाशन बन्द किया जा सका है या किया जा सकता है ? इन समाचारों के प्रकाशन में अधिक-से-अधिक यह किया जा सकता है कि इनमें नमक-मिर्च न लगाये जायँ। और, यदि अधिकांश समाचारपत्र जातिवाद, प्रान्तीयता और क्षेत्रीयता के आधार पर ही पोषित हो रहे हों तो उन्हें कैसे रोका जाय ?

साम्प्रदायिकता, जातीयता, प्रान्तीयता, अन्धराष्ट्रीयता आदि के समाचार तो बीच-बीच में जब-तब आते हैं किन्तु जमीन जायदाद के लिए किसी-न

किसी गाँव में एक ही परिवार के दो या अधिक सदस्यों के बीच, पट्टीदारों के बीच, दो गाँव वालों के बीच व्यक्तिगत या सामूहिक संघर्ष के समाचार तो प्राय. प्रतिदिन आते रहते हैं। व्यापकता और निरन्तरता की दृष्टि से ये स्थानीय अपराध-समाचार देश और समाज के लिए कम भयंकर नहीं हैं। लेकिन स्थानीय जनता को इन स्थानीय समाचारों में अधिक दिलचस्पी लेते देखा जा सकता है। यही कारण है कि भारत के अधिकांश समाचारपत्र, जो सामान्य पाठकों के बीच ही बिकते हैं, स्थानीय और क्षेत्रीय समाचारों को, खास करके अपराध या घटनात्मक समाचारों को, विशेष महत्त्व देते हैं या देना पड़ता है। वस्तुत ऐसे समाचार कानों-कान फैल जाते हैं। शहर में ये समाचार संवाददाताओं तक पहुँचने के पहले सैकड़ों व्यक्तियों को मालूम हो जाते हैं। एक रात में इलाहाबाद स्टेशन के पास वाराणसी के एक दूकानदार की हत्या कर दी गयी। सुबह ८ बजते-बजते वहाँ सैकड़ों आदमियों की भीड़ लग गयी थी, जबकि नगर के संवाददाताओं का आना करीब ९ बजे शुरू हुआ। इसी प्रकार एक ताँगा वाले और एक गुंडे द्वारा एक यात्री को धकेल कर उसके पाँच सौ रुपये छीन लिये जाने की खबर घटना-स्थल से काफी दूर तक आधे घण्टे के अन्दर फैल गयी, जबकि संवाददाता कई घण्टे बाद जानकारी के लिए निकले। इन दोनों घटनाओं के समाचार प्रकाशित होने के दिन यह देखने में आया कि प्रायः हर जलपान-गृह और पान की दूकान पर इनकी चर्चा है। इसी प्रकार एक व्यक्ति द्वारा अपनी पत्नी को पुल से नदी में ढकेल दिये जाने के समाचार की चर्चा स्वयं इन पंक्तियों के लेखक को उसी दिन पाँच परिवारों में सुनने को मिली। व्यावहारिक एवं व्यावसायिक दृष्टि से जनता की इस दिलचस्पी को देखना ही होगा, साथ ही जितना कुछ कहा गया है उसे समझने के बाद भी यही निष्कर्ष निकलता है कि समाचार कोई भी हो उन्हें समाचार मानकर प्रकाशित करना ही पड़ेगा। जिन खास तरह के समाचारों में पाठकों की दिलचस्पी होती है, उनमे यदि अपराध-समाचार, अपने क्षेत्र के अपराध-समाचार, भी हों तो यह सलाह नहीं दी जा सकती कि चूँकि इनसे आपराधिक प्रवृत्ति के बढ़ने का भय रहता है, अतः इन्हें अधिक स्थान न दिया जाय या ये कम महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रकाशित किये जायँ। यहाँ यह समझ लेना होगा कि कोई समाचार ऐसे होते हैं कि उन्हें महत्त्वपूर्ण ढंग से दिया जाय या न दिया जाय वे अपने-आप महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं- दबाये नहीं दबते।

अपराध-प्रवृत्तियों को कहीं से कोई प्रोत्साहन न मिले, यह एक अच्छी बात है और इस अच्छी बात में समाज के अन्य थोड़े-बहुत हितैषियों की भाँति पत्रकार को भी योगदान करना ही चाहिए। जो लोग आपराधिक समाचारों के प्रकाशन से आपराधिक प्रवृत्तियों के बढ़ने का भय व्यक्त करते हैं वे एक हद तक अच्छे विचार का ही परिचय देते हैं। किन्तु, यदि वे यह मान बैठते हों कि अपराध-समाचारों के प्रकाशन बन्द होने से आपराधिक प्रवृत्तियाँ कम हो जायंगी तो ऊपर के सम्पूर्ण विवेचन के प्रकाश में इसे अज्ञान, अव्यावहारिकता या कोरा आदर्शवाद ही कहा जायगा। जिन्हें सामान्यतः अपराध-समाचार कहा जाता है उनके प्रकाशन के बन्द हो जाने से अपराध कम हो जाने और एक अच्छे कार्य में योगदान हो सकने की बात उस व्यक्ति के गले के नीचे नहीं उतर सकती, जो समाज के सम्पूर्ण चित्र पर दृष्टि रख कर विचार करता हो। इन समाचारों के प्रकाशन बन्द करने के सम्बन्ध में विचार करते समय यह बात भी ध्यान में आनी चाहिए कि इससे उन पुलिस-अधिकारियों और प्रशासकों की सहायता होगी जो यह चाहते हैं कि अपराध रोकने में उनकी विफलता या कर्त्तव्यहीनता पर परदा पड़ा रहे और जो लोग अपराधवृद्धि के विरुद्ध आवाज उठाते हैं उन्हे आवाज उठाने का मौका न मिले। अपराधों के सम्बन्ध मे वास्तविकता यह है कि इस तरह के जितने अपराध होते हैं उनसे कहीं कम के ही समाचार प्रकाशित हो पाते है—हर जगह संवाददाता न होने के कारण या उनके न पहुँच सकने के कारण या पुलिस द्वारा ही अधिकांश समाचार दबा दिये जाने के कारण। खैर, जितने अपराध-समाचार प्रकाशित हो जाते हैं उतने से ही अपराध-स्थिति का एक चित्र मिल जाता है। यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो अपराध-समाचारों का प्रकाशन बन्द होने से अपराध बढ़ेंगे ही, क्योंकि तब अपराधियों और उन्हें प्रोत्साहन देने वालों के विरुद्ध आवाज उठाने का एक बहुत बड़ा आधार छिन जायगा।

अपराध कहां तक गिनाये जायं और किस अपराध को दूसरे से कम भयंकर समझा जाय। राष्ट्रवाद—संकीर्ण अन्ध साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद हो या धर्मनिरपेक्ष एवं अन्तराष्ट्रीयतायुक्त राष्ट्रवाद हो—की दृष्टि से जातिवाद सम्प्रदायवाद और क्षेत्रीयतावाद की भावनाओं के साथ अपने देश में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को जो शत्रुवत देखने लगा है वह क्या कम भयकर अपराध है ? क्या हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की शत्रुता तथा हिन्दुस्तान और

चीन की शत्रुता या इजरायल और अरब देशों की शत्रुता, अमेरिका और रूस की अप्रत्यक्ष शत्रुता आदि की तुलना में व्यक्ति-व्यक्ति की इस शत्रुता की गहराई को नाप कर इसे अपराध की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता ? वस्तुतः इसे कुछ 'सहज प्रवृत्ति' 'ऐतिहासिक उपज' आदि कह कर छोड़ दिया गया है। अधिक-से-अधिक इसे एक सामाजिक 'दोष' 'विकार' या 'रोग' के ही रूप में देखा गया है। तर्कशास्त्री की तरह कुछ लोग यह कह सकते हैं कि जातीय एवं साम्प्रदायिक भावनाओं के परिणामस्वरूप जो उपद्रव होते है उन्हें अपराध और उनमें भाग लेने वालों को अपराधी तो घोषित किया ही जाता है और इनके सम्बन्ध में कानून भी बने हैं; किन्तु दिल और दिमाग में छुपी भावना को अपराध कैसे घोषित किया जाय और उसे दिल व दिमाग से कैसे निकाला जाय ? यहाँ अभी और अधिक कुछ न कह कर, एक बार फिर सम्पत्ति-सम्बन्धों तथा आर्थिक हितों और विरोधों पर विचार करने की सलाह हम देंगे। और कोई विचार करे या न करे, 'सम्पत्ति एवं सम्पत्ति-सम्बन्धों' आर्थिक हितों और विरोधों को समाचारों के ही माध्यम से अच्छी तरह देखने और समझने की क्षमता रखने वाला कोई पत्रकार थोड़ा और प्रयास करके इस पर विचार कर सकता है।

यहाँ हम जातिवाद को ही लेते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में हमें अपने राष्ट्र को सशक्त और आत्मनिर्भर बनाने के लिए, दूसरों की सहायता पर निर्भरता के परिणामों से बचने के लिए तथा चीन, जापान, रूस, जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका की वैज्ञानिक शक्ति के मुकाबले में अपना जो पिछड़ापन है उसे दूर करने के लिए वैज्ञानिकों की सर्वाधिक—सर्वप्रथम—आवश्यकता है ! किन्तु यहाँ हो क्या रहा है ! विज्ञान में सहज अभिरुचि रखने वाले विशेष मेधावी और होनहार छात्र, जो अपनी शिक्षा के प्रारम्भ से बराबर प्रथम, द्वितीय या तृतीय स्थान प्राप्त करता आया है, अन्त में शिक्षा समाप्ति पर जब यह देखते हैं कि उनके स्थान पर किसी अन्य छात्र को योग्यताक्रम में प्राथमिकता केवल इसलिए दे दी गयी है कि वह अध्यापक-विशेष या 'गुरु-विशेष' की अपनी जाति का है, तो उसके दिल पर क्या बीतती होगी ? क्या वह घोर निराशा में नहीं डूब जाता होगा, क्या उसमें प्रतिहिंसा का विचार फन काढ़कर नहीं खड़ा हो जाता होगा, क्या उसकी सारी गुरुभक्ति की भावना विद्वेष में नहीं बदल जाती होगी क्या उसकी सम्पूर्ण मन स्थिति का असर उसकी राष्ट्रीयता और देश

भक्ति पर पड़े बिना रह सकता है, क्या वह अपना देश ही छोड़ कर बाहर चले जाने की बात नहीं सोचता होगा........। जबकि कहा जाता है कि व्यष्टि से ही समष्टि का, समाज का और राष्ट्र का निर्माण होता है तो इस तरह व्यक्तियों के साथ होने वाला अपराध सामाजिक अपराध, राष्ट्रीय अपराध, क्यों न माना जाय; एक व्यक्ति की ऐसी निराशा को सारे राष्ट्र की निराशा के रूप में क्यों न देखा जाय ?

आज हमारे देश में एक-दो नहीं, सौ-दो-सौ नहीं, जाने कितने छात्र जातिवाद के शिकार हो चुके हैं, होते जा रहे हैं और यदि किसी चमत्कार से या किसी उग्र सामाजिक क्रान्ति से स्थिति नहीं बदली तो पता नहीं कब तक भविष्य में भी हमारे ये होनहार शिकार होते चले जायँगे। राष्ट्र की आवश्यकता तथा राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति के विचार को सामने रख कर क्या उन अध्यापकों को राष्ट्रद्रोही नम्बर-एक घोषित नहीं करना चाहिए जो अपनी जातिवादी संकीर्णता और पक्षपात के कारण राष्ट्र को प्रतिभाओं से वंचित कर रहे हैं ? जो अध्यापक अपनी जाति के किसी छात्र का जीवन उन्नत बनाने के विचार से उसके लिए ऊँची नौकरी पाने का दरवाजा खोलने का ही उद्देश्य रख कर एक ऐसे छात्र को, जो सारे राष्ट्र का सिर ऊँचा कर सकता है, निराशा के गर्त में डाल देता है और उसकी मनःस्थिति को बिगाड़ देता है वह राष्ट्र का शत्रु नम्बर-एक नहीं तो और क्या है ? कोई ऐसा मुहल्ला नहीं, कोई ऐसा गाँव नहीं, कोई ऐसी बस्ती नहीं, कोई ऐसा दफ्तर नहीं जहाँ यह विषवृक्ष फल-फूल न रहा हो। एक ही मेज पर आमने-सामने, अगल-बगल बैठे लोग आपस में हँसते-बोलते हैं, हँसी-मजाक करते हैं, एक-दूसरे की समस्याओं पर सहानुभूति प्रकट करते हैं, किन्तु प्रत्येक की बगल में जातिवादी भावना की छुरी रखी होती है। जातिवाद ही नहीं, उपजातिवाद भी खूब चलता है—कोई बेचारा कान्यकुब्ज शिकार है कान्यकुब्जेतर ब्राह्मणों के पक्षपात का, इसी प्रकार कोई सरयूपारीण या गौड़ ब्राह्मण शिकार है अपनी से भिन्न उपजाति के किसी-न-किसी व्यक्ति के घोर पक्षपात का। इसी प्रकार किसी और जाति या वर्ग को ले लीजिए। क्या सम्पूर्ण समाज का चित्र अपनी आँखों के सामने रखने वाले और चतुर्थ सत्ता के एक विशिष्ट सदस्य होने का दावा करने, वाले हम पत्रकारों में से ही किसी ने इस स्थिति को नहीं भोगा है ?

जैसाकि ऊपर दिखलाया गया है, इस स्थिति को भोगने वाले किसी भी व्यक्ति के मन में सामान्यतः प्रतिक्रियास्वरूप प्रतिशोध, प्रतिहिंसा और अन्यान्य संकीर्णताओं का ही जन्म होता है; किन्तु, अफसोस कि समाचारों और विचारों के जगत में विचरण करने वाले पत्रकार को भी वह दृष्टि नहीं प्राप्त हो सकी है जो विचारक बनने का दावा करने पर तो उसे प्राप्त होनी ही चाहिए। यदि कोई पत्रकार अपना अध्ययन, मनन और चिन्तन इस एक तथ्य से शुरू नहीं कर सकता कि 'प्राणी-संरचना एवं विकास-विज्ञान' के अनुसार वह प्रथमतः मनुष्य है—संसार के अन्य सभी मनुष्यों की तरह—तो भौगोलिक आवास और लगाव की हजारों वर्षों से चली आ रही एक अविच्छिन्न स्थिति के अनुसार अपने को प्रथमतः भारतीय समझ कर ही इस जातिवादी समस्या पर विचार कैसे करेगा ? यदि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान आयी किसी धर्मनिरपेक्ष भारतीयता या राष्ट्रीयता उसकी बुद्धि में नहीं समा सकी है तो आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास के क्रम में ही आयी धार्मिकता के अनुसार भी इस समस्या पर विचार नहीं करेगा।

जिस पत्रकार ने औद्योगिक सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में रख कर विचार किया है, जिसने जाति, वर्ण और धर्म से ऊपर उठ कर विश्लेषणात्मक बुद्धि से समाज का अध्ययन किया है वह सबसे पहले इस तथ्य को पकड़ेगा कि जाति, वर्ण, धर्म या सम्प्रदाय की भावना से किसी सम्पूर्ण जाति का, सम्पूर्ण वर्ग का या सम्पूर्ण सम्प्रदाय का कल्याण न हुआ है, न हो रहा है और न होगा ? क्या इतिहास में खोज कर एक भी ऐसा उदाहरण दिया जा सकता है जिससे कोई भी साफ-साफ देख सके कि जाति, वर्ण और सम्प्रदाय की भावना से किसी न्यूनतम संख्या वाली जाति में ही सभी व्यक्ति आर्थिक एवं सामाजिक रूप में पारस्परिक समानता और समादर प्राप्त कर सके हैं। मात्र भावनावश अपने प्रति अपनी जाति के किसी व्यक्ति का थोड़ा-बहुत पक्षपात, थोड़ा-बहुत झुकाव, थोड़ी बहुत मीठी-मीठी बातें कुछ प्रिय भले ही लगती हों और इस प्रकार दो-चार प्रतिशत व्यक्तियों को पक्षपात का कुछ लाभ भले ही मिल जाय, किन्तु उससे सारी जाति या सारे सम्प्रदाय की विपन्नता, आर्थिक वैषम्य और हैसियत की असमानता से उत्पन्न 'बड़े आदमी और छोटे आदमी' का विचार दूर नहीं होता, और न होगा। यह जरूर है कि कुछ होशियार लोग, व्यक्तिगत या राज-नीतिक स्वार्थ से अपना एक गुट बनाये रखने के मकसद से विजातीय लोगों

के विरुद्ध भड़का कर अपनी जाति के कुछ थोड़े से व्यक्तियों को अपना बना लेते हैं और उनके साथ कुछ पक्षपात करते रहते हैं। ये थोड़े से ही लोग अपनी जाति के अन्य लोगों में, जिनकी अपनी ही जाति के बड़े लोगों तक कोई पहुँच नहीं होती और जिनके साथ पक्षपात करने वाला भी कोई नहीं मिलता, जाति-भावना भड़काते रहते हैं।

आर्थिक एवं सामाजिक असमानता को लेकर जाति के प्रश्न का विचार हम पहले परिवार से प्रारम्भ करते हैं। आइए, दो सहोदरों से ही शुरू करें। सहोदरों की तो भिन्न जातियाँ नहीं होती न। लेकिन क्या एक सम्पन्न भाई और एक विपन्न भाई के बीच हैसियत के अन्तर के साथ ही दिलों की भी दूरी नाप कर जातिवादी वास्तविकता पर कुछ सामाजिक-शोध हुआ है? क्या इस तथ्य को चुनौती दी जा सकती है कि हैसियत का अन्तर दो सगे भाइयों को एक-दूसरे से दूर कर देता है, शत्रु बना देता है, भ्रातृत्व की सारी गाथाओं को व्यर्थ और नष्ट कर देता है। जाने कितने भाइयों के सम्बन्ध में देखी गयी यह दूरी दो सम्प्रदायों के बीच की दूरी से कहीं अधिक भयंकर साबित होती आयी है। हैसियत के अन्तर के कारण ही एक गरीब भाई का सारा परिवार उसके धनी सहोदर के परिवार वालों की दृष्टि में असभ्य, असंस्कृत और पिछड़ा हुआ हो जाता है, क्योंकि उसके परिवार में काँटे-चम्मच का उपयोग नहीं होता, चाय का सेट नहीं होता और उसे अतिथियों के स्वागत का सलीका नहीं मालूम होता, उसमें ऊँचे घरानों की तहजीब नहीं होती, नृत्य, संगीत और क्लब के बारे में वह कुछ नहीं जानता.........आदि। अक्सर देखा गया है, देखा जा सकता है, कि एक गरीब, अर्धशिक्षित या सर्वथा अशिक्षित भाई के बेटे-बेटियाँ और पत्नी जब सम्पन्न भाई के परिवार के सदस्यों के बीच जाते हैं, तो वे आत्म-लाघव का, अपमान और तिरस्कार का, ही अनुभव करते हैं और पग-पग पर उन्हें अपने स्वजन कहे जाने वाले इन लोगों में एक गरूर दिखलायी देता है। काश इस स्थिति को भोग कर अधिक-से-अधिक निम्न मध्यम-वर्गीय लेखकों ने अधिक-से-अधिक कहानियों और उपन्यासों में इसका सही-सही चित्रण किया होता। वस्तुतः यह विषय लेख या निबन्ध की अपेक्षा कहानी और उपन्यास का ही है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के सम्बन्ध में लम्बी-चौड़ी बातें करने वाले, मनोविज्ञान को अच्छी तरह समझ लेने का दावा करने वाले और अपने 'कुछ विशेष' और सामान्य प्रशंसकों से भी अपने मनोविज्ञान-वेत्ता होने का प्राप्त कर लेने वाले जितने लेखक आज दिखलायी देते

हैं उनमें से कितने ऐसे मिलेंगे जिन्हें हैसियत के इस अन्तर की एक सही सामाजिक पकड़ है ?

हैसिअत का अन्तर जब दो सगे भाइयों को एक-दूसरे से दूर कर देता है, आत्मीयता नाम की चीज को विलुप्त या विनष्ट ही कर देता है, तो किसी एक पूरी जाति के बीच आत्मीयता की कल्पना भला क्या की जाय ! इस प्रसंग में एक प्रबलतम तर्क के रूप में हम मुकदमेबाजी को रख सकते हैं। यहाँ सही-सही पूरे आँकड़े रख कर कुछ कहना तो कठिन है, किन्तु मोटे तौर पर हर गाँव के अनुभव के आधार पर यह कहना कुछ गलत नहीं होगा कि भाई-भाई के बीच अपनी ही जाति के पट्टीदारों के बीच और अपने ही सम्बन्धियों के बीच जितने मुकदमें चलते हैं उतने दो सम्प्रदायों के सदस्यों के बीच नहीं चलते। फौजदारी के मुकदमों में भी 'स्वजनों' और 'स्वजातीय पट्टीदारों' के ही ज्यादा मिलेंगे। क्या यह बात छिपी हुई है कि होशियार और हर दृष्टि से सबल व्यक्ति अपने सीधे-सादे, मुसीबत में पड़े और हर दृष्टि से निर्बल भाई या पट्टीदार की सम्पत्ति हड़प लेने या दबाने की कोशिश में लगा रहता है ! इन सब के परिणामस्वरूप जो कुछ होता है उसकी चरम परिणति एक ऐसी शत्रुता होती है जिसके सामने साम्प्रदायिक शत्रुता कृत्रिम या नगण्य मालूम पड़ती है ! महाभारत युद्ध से बड़ा और कौन उदाहरण हो सकता। अर्जुन के शब्दों में यह स्वजनों की हत्या का ही तो युद्ध —महायुद्ध—था।

पत्रकार की ही दृष्टि से हम कुछ और देखें :—जाति-श्रेष्ठता के विचार में डूबे सवर्णों के मामले में इन तथ्य पर विशेष रूप से गौर करना होगा कि उनमें (सवर्णों में) जो अधिकाधिक मिल-मजदूर, रिक्शाचालक, चपरासी और दरबान हो गये है या होते जा रहे हैं उनकी अपने सवर्ण बन्धुओं के ही बीच क्या स्थिति है। जब हैसियत का अन्तर दो भाइयों को—सगे भाइयों को—पृथक् कर देता है तो अन्य लोगों को पृथक् क्यों नहीं करेगा ? आज किसी को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि सवर्णों में जो लोग परिस्थितिवश छोटा काम करने लगे हैं वे अपनी ही जाति के ऊँचे पेशे वाले सम्पन्न लोगों की दृष्टि में खानदानी नहीं रह जाते, दो-तीन पीढ़ियों बाद तो निश्चित रूप से उनकी कुलीनता समाप्त मान ली जाती है। जो सवर्ण मिल-मजदूर, रिक्शाचालक, चपरासी या दरबान हो जाते हैं उनके बेटे-बेटियों से उन्हीं की जाति के सम्पन्न, सुशिक्षित और 'सभ्य' लोग अपने बेटे-बेटियों की शादी करने से प्रथमतः इसीलिए हिचकते हैं कि इसमें वे अपना अपमान समझते हैं।

युग-चेतना के साथ जब किसी भी तरह की असमानता या ऊँच-नीच के भाव को अपराध घोषित करने की माँग जोर पकड़ने लगी है, जबकि हमारे ही देश में व्यवहारतः न सही विधानतः अस्पृश्यता को अपराध मान लिया गया है और जबकि एक भावी समाज की परिकल्पना में यह विचार प्रतिष्ठित किया जाने लगा है कि सारे पेशे समाज को समर्पित होंगे और कोई व्यक्ति अपने को ऊँचे पेशे का तथा कोई व्यक्ति अपने को नीचे पेशे का समझ कर आत्मश्रेष्ठता और आत्मलाघव जैसी भावना को दिल से निकाल चुका रहेगा, तब आज ही यह घोषणा क्यों नहीं कर दी जाती कि जिन्होंने छोटे समझे जाने वाले पेशे अपना लिये हैं उनकी कुलीनता और वर्ण-श्रेष्ठता समाप्त समझने वाले 'महा-पुरुषों' को सामाजिक अपराधी माना जायगा।

इस विडम्बना को पत्रकार ही समझ सकता है कि एक ओर तो छोटे समझे जाने वाले पेशों को अपना लेने वालों की वर्णश्रेष्ठता और कुलीनता समाप्त समझी जाती है [वर्ण-व्यवस्था पर आधारित धर्म के अनुसार], दूसरी ओर श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर या श्रेष्ठतम मान लिये गये सवर्ण ऊँचे ओहदों पर पहुँच कर जब 'अफसरी सभ्यता, और 'क्लब-सभ्यता' को अनिवार्यतः स्वीकार कर लेते हैं और इस प्रकार अपने धर्माधारित पुराने वर्ण-चरित्र को सपरिवार खो बैठते हैं तब भी, पता नहीं क्यों, वे धर्मच्युत 'सनातन पथ' से भ्रष्ट और पतित क्यों नहीं समझे जाते। धर्म-ग्रन्थों में नारी की जिस पवित्रता की बात कही गयी है और सतीत्व तथा मातृत्व के जो आदर्श रखे गये हैं उनका ख्याल करके क्या किसी ऊँची हैसियत वाले धर्माधिकारी महापण्डित ने अपनी बेटी की शादी के प्रश्न पर यह सोचा है कि "चाहे जो हो उसका ब्याह ऐसे किसी अफसर से न किया जाय जो 'अफसरी सभ्यता' और 'क्लब-सभ्यता' से अपने को दूर न रख सके"। वास्तविकता यह है कि बड़े-बड़े धर्माधिकारी महापण्डित अपनी ऊँची हैसियत का विचार करके यही चाहते हैं कि उनकी लड़की की शादी किसी अफसर, डाक्टर या वकील से ही हो—वकील और डाक्टर ही तो प्रथमतः क्लब-सभ्यता के पोषक हो रहे हैं। और जब उनकी चाह ऐसी होगी तो वे अपनी लड़की को तदनुकूल ऊँची आधुनिक शिक्षा भी देना ही चाहेंगे। क्या ऊँची आधुनिक शिक्षा उन्हें उस आधुनिकता में लिप्त नहीं होने देगी जो उनकी प्रकृति बन गयी है। क्या आधुनिक शिक्षा तथा तमाम आधुनिकता के साथ आयी विलासिता और फैशनपरस्ती से किसी धर्मप्राण

महापण्डित की उच्चशिक्षाप्राप्त पुत्री बची रह सकती है, क्या वह विवाहित हो जाने पर अपने पति के साथ क्लब में जाने से इनकार करती रहेगी ?

अपराध-समाचारों के ही प्रसंग में, जातिवाद को सामाजिक अपराध के रूप में प्रस्तुत करते हुए यहाँ जो कुछ विवेचन और विश्लेषण किया गया है उसका उद्देश्य यही है कि जिस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में सीधे-सीधे अपराध माने गये कार्यों के सम्बन्ध में पत्रकार को एक सामाजिक दृष्टि प्राप्त करने की आवश्यकता है उसी प्रकार जातिवाद को भी अब एक प्रत्यक्ष अपराध मान कर उसके सम्बन्ध में एक सामाजिक दृष्टि उसे प्राप्त करनी होगी। ऐसी दृष्टि प्राप्त करके ही वह पत्रकार का दायित्व पूरा कर सकेगा। वह हिन्दू हो या हिन्दुस्तानी, राष्ट्रवादी हो या अन्तर्राष्ट्रीयतावादी, हर हालत में उसे अपने को पहले पत्रकार मान कर उपर्युक्त विवेचन और विश्लेषण को स्वीकार करना होगा। इस प्रकार के समाचारों के अथाह सागर में सर्पो रहने वाला पत्रकार ही अपनी दृष्टि को जरा घुमा कर समाचारों के माध्यम से ही जाति-वाद के अपराध की तह तक पहुंच सकता है और अपने उपलब्ध विचारों से समाज को प्रकाशित कर सकता है।

जिस तरह जातिवाद के प्रश्न पर यहाँ विचार किया गया है ठीक उसी तरह साम्प्रदायिकता पर विचार किया जा सकता है। सम्पूर्णतः विचार कर लेने पर अंत में सामाजिक दृष्टि से देखने वाला पत्रकार यही निष्कर्ष निकालेगा कि जातिवाद या सम्प्रदायवाद कोई वास्तविकता नहीं है, यदि किन्हीं विचारों के आधार पर वह वास्तविकता है तो गहरी नहीं है। वास्तविकता बस एक ही है: —अर्थवैषम्य। इस वास्तविकता को सामने रख कर तमाम जाति-वादियों से यह पूछना होगा कि जातीयता की भावना का तो आप उपयोग कर रहे हैं, लेकिन अपनी-अपनी जाति के अधिकाधिक लोगों के श्रमिकवर्ग में आ जाने की जो प्रक्रिया शुरू हो गयी है उसके सामने आप जातिभावना का उपयोग कब तक करते रह सकेंगे और क्या आप अपनी पूरी जाति के साथ पक्षपात करने की स्थिति में हैं या आगे कभी हो सकेंगे ? इन जातिवादियों को अन्तिम रूप से यह बता देना पत्रकार का काम है कि तुम नासमझ हो, अपराधी हो और तुम्हारी 'जातीय पक्षपात की भावना' से तुम्हारी सम्पूर्ण जाति का समान रूप से कभी भी कल्याण नहीं हो सकता।

इसी प्रकार और भी जाने कितने दोषों या विकारों पर व्यापक सामाजिक

दृष्टि से विचार करने पर यदि अपराधों की परिधि सचमुच काफी बड़ी दिखलायी देती हो तो कोई चिन्तनशील पत्रकार अपराधों की सीमा कैसे बांध सकता है और यह कैसे घोषित कर सकता है कि अमुक तरह के समाचार ही अपराध-समाचार कहे जायेंगे। कोई भी चिन्तनशील पत्रकार अपने सामाजिक अनुभवों तथा गहरे अध्ययन के साथ अपनी सहज, किन्तु सुषुप्त, संवेदनशीलता एवं भावुकता को भी जगा कर खड़ी करने के बाद बहुतों को (यदि सबको नहीं) यह समझाने में सफल होगा कि अपराधों की सीमा कहाँ तक फैली है और इसे छोटी बनाते जाने में कितने प्रयास और परिश्रम की आवश्यकता है। अस्तु, अपराध-समाचारों के बारे में पत्रकार को अपनी सामाजिक दृष्टि व्यापक बनानी होगी, अन्यथा वह समाज के वास्तविक नेतृत्व की उद्घोषित भूमिका का निर्वाह कैसे कर सकेगा ?

● ●

समाचारेतर पाठ्य सामग्री

यों तो नाम के अनुसार समाचारपत्र में प्रधानता समाचारों की ही रहती है, किन्तु उसमें विचार-सामग्रियों का भी समावेश आवश्यक माना गया है और आज कोई भी समाचारपत्र ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें समाचार ही समाचार हों। समाचारेतर सामग्रियों में सम्पादकीय अग्रलेख और टिप्पणियाँ, 'सम्पादक के नाम पत्र', सम्पादकीय स्तम्भ की बगल में ही विभिन्न सामयिक विषयों के लिए निर्धारित स्तम्भ तथा साप्ताहिक एवं अर्ध-साप्ताहिक परिशिष्टों और विशेषांकों में प्रकाशित रचनाएं होती हैं। इन सब सामग्रियों में, नीति की दृष्टि से, सम्पादकीय अग्रलेखों और टिप्पणियों तथा सम्पादक-मण्डल के अन्य सदस्यों के लिए निर्धारित स्तम्भों पर विशेष नियन्त्रण रहता है। नीति-नियन्त्रण पत्र-स्वामी के प्रभाव और दबाव के कारण हो सकता है। जैसाकि अन्यत्र कहा गया है, विशेष तानाशाही परिस्थितियों में तो सम्पादकीय स्तम्भों पर ही नहीं, शेष सभी स्तम्भों पर भी, नियन्त्रण-सा हो जाता है या उन पर आतंक की तलवार लटकती रहती है।

निर्धारित स्तम्भ

यहाँ हम अधिनायकवादेतर एक सामान्य लोकतन्त्रात्मक कही जाने वाली स्थिति को ही सामने रख कर विचार करेंगे। यद्यपि इस स्थिति में भी कोई समाचारपत्र सर्वथा नियन्त्रण-मुक्त नहीं कहा जा सकता, फिर भी जहाँ तक नियन्त्रण से मुक्त रह कर या प्राप्त स्वतन्त्रता का उपयोग कर सामग्री प्रस्तुत करने का प्रश्न है, पाठकों को उनकी भावनाओं, इच्छाओं, रुचियों और विचारों के अनुसार काफी हद तक सन्तुष्ट रखा जा सकता है। लेकिन यह कार्य सबके लिए आसान नहीं है। इसके लिए विशेष योग्यता और कुशलता की आवश्यकता है। यहाँ पत्र की नीति तथा पत्र-स्वामी के स्वार्थ से परे सामान्य विषयों पर के विचार विवेचन, विश्लेषण भाषा तथा शैली पर ही कुछ कहना

है। जिन समस्याओं या प्रश्नों पर नीति और स्वामी-स्वार्थ के हावी रहने की बात न हो, उन पर तो सम्पादकगण निर्भयता का परिचय दें।

निर्भयता का परिचय देने के अलावा कुछ विशिष्ट विवेचन एवं विश्लेषण की भी अपेक्षा उनसे की जाती है। यदि विशिष्ट विवेचन एवं विश्लेषण न हो तो कम-से-कम भाषा और शैली का ही कुछ ऐसा आकर्षण हो कि पाठक इन स्तम्भों को पढ़े बिना न रहें। किन्तु, बड़े दुर्भाग्य की बात है कि विषय के प्रतिपादन, उपस्थापन, विवेचन और विश्लेषण की दृष्टि से अधिकांश अग्रलेख और टिप्पणियाँ सामान्य लेखकों के लेखों के स्तर से ऊपर नहीं उठ सके हैं। वही हाल भाषा और शैली का भी है। यों तो अपेक्षा यही की जाती है कि समाचारों की भी भाषा ऐसी हो कि पाठक कुछ शुद्ध लिखना-बोलना सीख सकें, किन्तु यदि अनेक कारणों से यह सम्भव न हो तो सम्पादकीय स्तम्भों द्वारा तो यह कार्य सम्भव बनाया जाय। लेकिन अधिकांश पत्रों के सम्पादकीय स्तम्भों की भी भाषा सामान्य समाचार-भाषा के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकी है। सम्पादक तथा सम्पादक-मण्डल के अन्य सदस्यों के लिए निर्धारित स्तम्भो मे तीसरा दोष यह देखने में आता है कि उनमें एक तरह से समाचारों को ही दोहरा दिया जाता है, अपना कुछ यदि होता भी है तो नाम-मात्र को।

यदि लेखों के लिए निर्धारित स्तम्भों में समाचारों की आवृत्ति-मात्र का परिचय न मिले और वे भाषा तथा शैली की दृष्टि से कुछ आकर्षक बने रहें तो भी उनके महत्व का घटते जाना रुक सकता है। नीति-नियन्त्रण, भाषा-दोष, शैली विहीनता तथा समाचार-आवृत्ति के उदाहरण कहाँ तक दिये जायँ। दो-चार या दो-चार प्रतिशत की ही बात हो तो कुछ उदाहरण दिये भी जायँ।

फिर भी एक अग्रलेख, जो पेकिंग में सोवियत प्रधानमन्त्री कोसिजिन तथा चीन के प्रधानमन्त्री श्री चाऊ एन लाई की वार्ता के सम्बन्ध में '............' शीर्षक से लिखा गया था, यहाँ पेश किया जा रहा है :.. ....

श्री कोसिजिन ने चीन के ऊपर से होकर अपनी वापसी हवाई यात्रा के लिए अनुमति माँगी थी और श्री चाऊ एन लाई के पेकिंग में सुलभ होने पर मुलाकात की इच्छा भी प्रकट कर दी थी। हनोई में उनके रहते पेकिंग से अनुमति नहीं मिल पायी। यह अनुमति उन्हें कलकत्ता पहुँचने पर मिली, इसलिए वह कलकत्ता से मास्को न जाकर पेकिंग के लिए रवाना हो गये

उनके पेकिंग जाने और श्री चाऊ एन लाई से भेंट व वार्ता करने का प्रथम समाचार-संसार को सोवियत समाचार समिति 'तास' से ही मिला।.........
.........पेकिंग रेडियो ने यह तो बताया कि दोनों पक्षों के बीच खुल कर वार्ता हुई।...............संयुक्त राष्ट्र के कूटनीतिक सूत्रों के अनुसार, श्री कोसिजिन ने श्री चाऊ एन लाई को यह धमकी और चेतावनी दी कि चीन ने उस पर आक्रमण किया तो कठोर प्रतिशोधात्मक तथा दण्डात्मक कार्रवाई की जायगी"। अग्रलेख के प्रारम्भ में लन्दन, वाशिंगटन तथा संयुक्त राष्ट्र के क्षेत्र में आश्चर्य प्रकट किये जाने के समाचार का उल्लेख है। उसी आश्चर्य का अनुगमन करके सम्पादक महोदय ने अपना भी आश्चर्य प्रकट कर दिया। इसके बाद फिर उस समाचार का उल्लेख किया गया जिसमें कहा गया था कि 'श्री कोसि-जिन के हनोई पहुँचने के पहले ही अपने प्रतिनिधिमण्डल के साथ श्री चाउ एन लाई के पेकिंग वापस जाने का अर्थ शायद यह है कि वह श्री कोसिजिन से मुलाकात करने से बचना चाहते हैं'। इन समाचार-आवृत्ति के साथ सम्पादक महोदय ने स्वर-में-स्वर मिलाते हुए अपनी ओर से बस इतना 'विचार' व्यक्त कर दिया कि 'यह अनुमान निराधार नहीं था।' अपने पौन कालम के अग्रलेख में करीब आधा समाचारों से ही भर कर सम्पादक ने छुट्टी पा ली।

कुछ विशेष घटनाओं और उनके समाचारों पर कुछ लोगों की प्रतिक्रियाएँ भी आ ही जाती है। इनसे बेचारे सम्पादकों का काम और हलका हो जाता है। सम्पादक अपनी कोई स्वतन्त्र और विशिष्ट प्रतिक्रिया व्यक्त करने के बजाय कुछ प्रतिक्रियाओं का समर्थन और कुछ का विरोध कर देता है। समर्थन और विरोध करने के लिए प्रतिक्रियाओं को उद्धृत करने से कालम जल्दी पूरे हो जाते हैं और सोचने-विचारने के 'झंझट' से मुक्ति मिल जाती है। वियतनाम की समस्या पर लिखे गये एक 'अग्रलेख' (यदि इसे अग्रलेख कहा जा सके तो) का आधा भाग अमेरिकी राष्ट्रपति की घोषणा से या घोषणा में आये वाक्यों से (उन वाक्यों को अपना बना कर) भरा था। एक-चौथाई स्थान उत्तर वियत-नाम के नवनिर्वाचित राष्ट्रपति की घोषणा तथा हनोई-रेडियो के ब्राडकास्ट से भरा गया था। पूरे अग्रलेख में सम्पादक के बस तीन-चार वाक्य अपने कहे जा सकते थे।

सम्पादकीय स्तम्भ के इस प्रकार कमजोर रहने के कुछ प्रमुख कारण ये हैं —(१) सम्पादक पर कार्यपालनाधिकारी-के-से काम का भी बोझ पड़ना,

(२) प्रायः वरिष्ठता के क्रम के अनुसार—योग्यता के अनुसार नहीं—सम्पादक-मण्डल में से ही किसी की सम्पादक-पद पर नियुक्ति (३) किसी-न-किसी रूप मे बाहरी गतिविधियों में हिस्सा लेते रहने के कारण लिखने-पढ़ने का समय न मिलना। इसके अलावा सम्पादक के कार्यपालनाधिकारी हो जाने से अधिकांश सम्पादकों में एक ऐसी प्रवृत्ति आ जाती है जो उन्हें विचारक, चिन्तक या विश्लेपक बनने से रोकती है। यदि ऐसी प्रवृत्ति न भी हो, तो भी समयाभाव तो हो ही जाता है। कार्यपालनाधिकारी के रूप में जो काम करने होते हैं उनमे काफी समय लग जाने के कारण अग्रलेख और टिप्पणी लिखने के लिए अपेक्षित अध्ययन और चिन्तन नहीं हो पाता। अध्ययन और चिन्तन के बिना अग्रलेख और टिप्पणी में गहराई भला कैसे आ सकती है।

वरिष्ठता के क्रम में सम्पादक बनने वालों में से कुछ ही ऐसे होते है, जिनका पहले से ही लिखने-पढ़ने का कोई संस्कार बना रहता है। अधिकाश का अतीत तो केवल अनुवाद-कार्यों में ही बीता रहता है। अतीत में पढने-लिखने का कोई सस्कार भले ही न बना हो, केवल अनुवाद-कार्य ही एक-मात्र उपलब्धि रही हो तो इससे क्या हुआ ? सम्पादकीय स्तम्भ में समाचारों की आवृत्ति ही तो करनी रहती है, अपनी भी बात या सलाह रखे बिना किसी का समर्थन या विरोध ही तो करना रहता है।

अब हम तीसरे कारण पर आते हैं। कुछ सम्पादक कह सकते हैं कि गोष्ठी, सभा या बैठक या अन्य आयोजन की अध्यक्षता करने के लिए उनमे आमन्त्रित किये जाने से पत्र की प्रतिष्ठा बढ़ती है। पत्र की प्रतिष्ठा बढने की दलील और इसी तरह की कुछ और बातें पूर्णतः या अंशतः ठीक हो सकती है। किन्तु, जिन कुछ पूर्ववर्ती सम्पादकों के बाहरी गतिविधियों में भाग लेने के कार्य को आदर्श के रूप में प्रस्तुत करके उनकी दुहाई दी जाती है उनके बारे में क्या यह भी देखने की कोशिश की गयी है कि बाहरी गतिविधियों में भाग लेते हुए वे अपने सम्पादकीय स्तम्भ को सबल और सप्राण बनाये रखने के लिए अपने अध्ययन, मनन और चिन्तन से अपनी लेखनी को भी सशक्त रखते थे ? बाहरी गतिविधियों में भाग लेने के पक्ष में दलील देने वाले वर्तमान 'सम्पादक महोदयो' को अपने दिलों पर हाथ रख कर यह भी पूछना होगा कि वे जिन कुछ पूर्ववर्ती सम्पादकों के नाम लकर अपने पक्ष को पुष्ट करने का प्रयास करते हैं क्या उनके ज्ञानमण्डित व्यक्तित्व की तरह अपना भी व्यक्तित्व बना सके हैं ?

बाहरी गतिविधियों में भाग लेने के मामले में पूर्ववर्ती सम्पादकों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करने वाले तथा पत्र की प्रतिष्ठा बढ़ने की दलील देने वाले सम्पादकों में से अधिकांश के बारे में वास्तविकता यह है कि वे पूर्ववर्ती सम्पादकों की तरह अपनी लेखनी को सशक्त बनाने के लिए और वास्तविक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए पत्रकारोचित अध्ययन की कोई आवश्यकता ही नहीं समझते और न यह अनुभव करते हैं कि गली-गली घूम कर कुछ कागजी और कुछ जेबी संस्थाओं की अध्यक्षता करने वाला सम्पादक वस्तुतः अपने को बहुत ही सस्ता बना लेता है। भला इन कागजी और जेबी संस्थाओं की अध्यक्षता करने से सम्पादक की और उसके पत्र की प्रतिष्ठा बढ़ सकती है? बेचारा सम्पादक सोचता है कि वह किसी अखिल-देशीय या प्रान्तीय स्तर की संस्था द्वारा तो आमन्त्रित किया नहीं जा सकता,अतः कुछ स्थानीय संस्थाओं की अध्यक्षता करके ही संतोष कर ले। अखबार पर तो उसका नाम आता ही है, किन्तु इससे अपना कोई विशेष प्रचार न होते देख कर वह जब-तब समाचार-पत्रों में भी अपना नाम आता देखना चाहता है। अतः पत्र की प्रतिष्ठा बढ़ने की बात वस्तुतः अपनी प्रचारप्रियता की एक ओट है। जिन मामूली, कागजी या जेबी स्थानीय संस्थाओं द्वारा वह आमन्त्रित होता रहता है उनके बारे में वह यह भी नहीं सोच पाता कि उसे एक विशिष्ट व्यक्ति समझ कर नहीं, बल्कि अपने प्रचार का विचार करके ही वे आमन्त्रित करती हैं। अगर सचमुच वह कोई विशिष्ट व्यक्ति बन गया हो तो अखबार से अलग होने पर भी उसे क्या उसी तरह ससम्मान आमन्त्रित किया जायेगा? नहीं।

'सम्पादकीय स्तम्भ की सबलता और दुर्बलता' के प्रसंग में सम्पादकों की इस प्रचारप्रियता का (गली-गली घूम कर अपने को सस्ता बनाने का) उल्लेख करने का मुख्य उद्देश्य यह बतलाना है कि ऐसे सम्पादक लिखने-पढ़ने के लिए समय नहीं निकाल पाते और जब उन्हें घूम-घूम कर भाषण देने का चसका लग जाता है तो गम्भीर अध्ययन की रुचि का कोई महत्व ही उनके दिमाग में नहीं रह जाता। चूंकि अधिकांश सह-सम्पादकों को अपने पद का लाभ उठा कर सम्पर्क बढ़ाने की ही चिन्ता रहती है, अतः उनके सम्पादक पद पर आ जाने के बाद भी उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे सम्पादक-पद का निर्वाह करने के लिए ही सही 'पढ़ने-लिखने' की विशेष अभिरुचि नये सिरे से पैदा करके सम्पादकीय स्तम्भ को सशक्त और आकर्षक बना सकेंगे। बरसाती मेंढकों की तरह पैदा हो

गयी स्थानीय संस्थाओं की अध्यक्षता में पत्र का सम्मान देखने वाले सम्पादकगण काश यह समझ सकते कि पत्र का सम्मान और उसकी यश-वृद्धि वस्तुतः सम्पादक की लेखनी से हो सकती है।

इसी प्रसंग में एक यह बात भी विचारणीय है कि क्या सम्पादक को कार्यपालनाधिकारी के काम से मुक्त कर देना तथा स्वयं सम्पादक का बाहरी गतिविधियों से दूर रहना और पढ़ने-लिखने की रुचि बढ़ाना ही काफी होगा ? जो स्थिति अभी चल रही है उसे देखते हुए तो यह सब काफी कहा जा सकता है। किन्तु यदि किसी पत्र को प्रथम श्रेणी का पत्र बनना है तो अकेले सम्पादक या प्रधान सम्पादक से ही प्रतिदिन अग्रलेख और टिप्पणियाँ लिखने का काम नहीं लेना होगा। उसे अधिक से-अधिक पढ़ने और अधिक-से-अधिक सोचने का समय मिलना चाहिए ताकि जो कुछ वह लिखे उसमें दम हो। संसार मे अनेक ऐसे पत्र हैं जिनमें सम्पादक या प्रधान सम्पादक हफ्ते में अधिक-से-अधिक तीन दिन लिखते हैं। 'पढ़ो खूब पढ़ो, फिर उस पर सोचो खूब सोचो, तब कुछ लिखो' यही सम्पादक का और किसी भी लेखक का 'आदर्श वाक्य' होना चाहिए।

प्रतिदिन अग्रलेख और टिप्पणी लिखने की चिन्ता से प्रधान सम्पादक या सम्पादक के मुक्त रहने से सम्पादक-मण्डल के कुछ अन्य सदस्यों को भी अग्रलेख और टिप्पणी लिखने का अवसर मिलता रहेगा और यह समस्या नहीं आयेगी कि प्रधान सम्पादक या सम्पादक के अनुपस्थित रहने पर कौन लिखे। सम्पादक-मण्डल के अन्य सदस्यों को भी लिखने-पढ़ने में प्रवृत्त करने के लिए और उनमें से जो लोग पहले से ही लिखने-पढ़ने वाले हैं उन्हें अवसर देने के लिए भी यह आवश्यक है। जहाँ ऐसा नियम-सा बन गया हो या ऐसी व्यवस्था हो गयी हो कि सम्पादक या प्रधान सम्पादक को हफ्ते में दो-तीन दिनों से अधिक नहीं लिखना है और जहाँ सम्पादक या प्रधान सम्पादक को अपनी योग्यता और क्षमता पर पूर्ण विश्वास रखने के कारण अपने किसी सहकर्मी की लेखनी से भय न लगा रहता हो वहाँ सम्पादक-मण्डल के अन्य लोगों को अवसर मिलेगा ही और साथ ही इस प्रकार सम्पादकीय स्तम्भ में योग्यता निरन्तर प्रतिबिम्बित होती रहेगी।

सम्पादकीय स्तम्भ को सशक्त और आकर्षक बनाने के उद्देश्य से ही उसकी बगल में सम्पादक-मण्डल के अन्य सदस्यों के लिए स्तम्भ निर्धारित होता

है और होना भी चाहिए। बगल के इस स्तम्भ में अलग-अलग विषयों में अपनी विशिष्टता प्राप्त करके लिखने वाले सह-सम्पादक सम्पादकीय स्तम्भ के लिए बहुत बड़े सहायक सिद्ध होते हैं। चूँकि एक ही व्यक्ति के लिये सभी विषयों में समान गति रखना सम्भव नहीं है, अतः अलग-अलग विषयों में विशिष्टता-प्राप्त अनेक व्यक्तियों की सहायता लेकर सम्पादकीय स्तम्भ को तथ्यात्मक अभावों और दोषों से बचाना आसान हो जाता है।

'सम्पादक के नाम पत्र' स्तम्भ का अपना एक महत्व होता है। कभी इस स्तम्भ का कितना महत्व था या रहा होगा, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि 'लन्दन टाइम्स' के इस स्तम्भ में किसी शोध छात्र के विचार यदि दो-चार बार प्रकाशित हो जाते थे तो इनसे ही उसकी योग्यता की परख कर ली जाती थी और उसे डाक्टरेट की उपाधि मिलने में आसानी हो जाती थी। लेकिन, क्या उसी पत्र का यह स्तम्भ बाद में भी उतना ही महत्वपूर्ण रह सका? यहाँ हम उस विशिष्ट विश्वविख्यात पत्रों के इस स्तम्भ की नहीं, बल्कि अपने देश के अधिकांश पत्रों के ही इस स्तम्भ की बात करेंगे। इन अधिकांश समाचारपत्रों में हम स्थान-स्थान से निकलने वाले बुलेटिन-किस्म के समाचार-पत्रों को नहीं शामिल करते। कुछ बड़े समझे गये पत्रों में इस स्तम्भ पर उन कुछ व्यक्तियों का एकाधिकार-सा देखा गया है, जो अपनी प्रचारप्रियता से तथा उसके लिए किये गये 'हर सम्भव' प्रयास से और कुछ भले हो गये हों, किन्तु वस्तुतः उनका कोई विशिष्ट व्यक्तित्व नहीं रहा। इन महाशयों को सचमुच अपने मुहल्ले और क्षेत्र की जनता की कठिनाइयों, असुविधाओं और कष्टों की कोई चिन्ता रहती हो और उसी से बेचैन होकर अपने पत्र छपवाते हों—ऐसा नहीं कहा जा सकता। ये तो वास्तव में जनता की कठिनाइयों, कष्टों और असुविधाओं के नाम पर अपने को प्रकाश में लाना चाहते थे और ले भी आये। पत्रकारिता की दृष्टि से इसे इस स्तम्भ का सदुपयोग नहीं कहा जा सकता।

'सम्पादक के नाम पत्र' स्तम्भ का उपयोग करने वाले इन महाशयों के पास चूँकि कोई ऊँचा विचार या कोई विशेष बात नहीं होती, अतः वे एक ही तरह की बातें दोहराते रहते हैं, जिस छोटी-मोटी शिकायत या समस्या पर एक बार लिख चुके होते हैं उसी पर दो-तीन या तीन-चार हफ्ते बाद फिर लिख भेजते हैं और उनकी यह आवृत्ति छपती ही रहती है। यह 'स्तम्भ' का दुरुपयोग नहीं तो और क्या है। यदि शिकायतों की आवृत्ति होनी ही है तो कुछ दूसरे व्यक्तियों द्वारा भी हो

अब ऐसी कल्पना तो नहीं की जा सकती कि सभी समाचारपत्रों के 'सम्पादक के नाम पत्र' वाला स्तम्भ इतना महत्वपूर्ण हो जाय कि उसमें प्रकाशित सामग्रियों के आधार पर किसी को डाक्टरेट की उपाधि या लेखक होने का प्रमाणपत्र मिल जाय; फिर भी इस स्तम्भ को ऐसा सस्ता होने से तो बचाना ही चाहिए कि उसे 'लल्लू-बुद्धुओं' का ही स्तम्भ बना देख कर बुद्धि-जीवी-वर्ग के लोग उसकी ओर आकृष्ट ही न हों या मुँह बिचका लें। इस स्तम्भ की ओर बुद्धिजीवी-वर्ग के लोगों को आकृष्ट करने के विचार का मतलब यह नहीं कि यह सर्वसाधारण का स्तम्भ न रह जाय। वस्तुतः इसका मतलब यह है कि सर्वसाधारण के लिए ही उसे समझदार योग्य और सेवाभावी लोगों का एक अच्छा स्तम्भ बनाया जाय। चूँकि यह स्तम्भ बहुत बड़ा नहीं हो सकता और इसमें कई व्यक्तियों के पत्रों को स्थान देना रहता है, अतः इसमें 'गागर में सागर भरने की कला' का भी परिचय देने की विशेष आवश्यकता समझी जानी चाहिए। लेकिन, यह परिचय सभी लोग नहीं दे सकते। यहीं सम्पादक को विशेष ध्यान देना पड़ता है। यदि पत्र-लेखक इस कला का परि-चय न दे सके तो सम्पादक से ही पत्र-लेखक के पत्र का निचोड़ निकालने की आशा की जाती है। पत्र का निचोड़ निकालने का मतलब संक्षिप्तीकरण नहीं होता, बल्कि यह होता है कि पत्र-लेखक की मूल भावनाओं और विचारों को ठीक-ठीक पकड़ लिया जाय और अनावश्यक शब्दावली निकाल दी जाय। कभी-कभी ऐसा होता है कि पत्रलेखक कहना कुछ चाहता है, किन्तु कह कुछ जाता है। वह क्या कहना चाहता है, इसे पकड़ कर लिख देना सम्पादक का काम है।

साप्ताहिक परिशिष्ट

अब हम साप्ताहिक विशेषांक या परिशिष्ट पर आते हैं। सामान्यत समाचारपत्र से सम्बद्ध विशेषांक या परिशिष्ट को साहित्य-परिशिष्ट मान लिया जाता है। ऐसा मान लेने पर सहज ही यह विचार आता है कि उसके सम्पादन का कार्य किसी साहित्यिक व्यक्ति को ही करना चाहिए। किन्तु, चूँकि समाचारपत्र से सम्बद्ध साप्ताहिक परिशिष्ट मुख्यतः उन्हीं पाठकों को दृष्टि में रखकर निकाला जाता है जो प्रथमतः समाचारप्रेमी ही होते हैं, अतः यथार्थतः व्यावहारिक रूप में यह तथ्य एक तरह से निर्णीत हो चुका है कि समाचारपत्र

सम्बद्ध साप्ताहिक परिशिष्ट को भले ही साहित्य परिशिष्ट नाम दे दिया जाय या मान लिया जाय, वस्तुतः उसका स्वरूप अन्य साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की तरह विशुद्ध साहित्यिक नहीं होता। इसीलिए बाहर से विशुद्ध साहित्यकार को खोज कर लाने का भंझट मोल नहीं लिया जाता और सम्पादक-मण्डल के ही दो-चार ऐसे व्यक्तियों में से किसी को चुन लिया जाता है जो कोरे 'समाचारी' नहीं समझे जाते।

लेकिन इस आसान स्थिति में किसी एक व्यक्ति के 'साहित्य-सम्पादक' पद पर बैठ जाने पर शेष वे लोग, जो कोरे 'समाचारी' नहीं होते प्रतिद्वन्द्वी से बन जाते हैं और यह सोचने लगते हैं कि यदि अमुक व्यक्ति 'साहित्य-सम्पादक' हो सकता है तो 'हम क्यों नहीं हो सकते'। वे प्रयत्नशील हो जाते हैं और उनका प्रयत्न आगे चलकर कुचक्र का रूप धारण कर लेता है—यद्यपि वे यह जानते हैं कि सब-के-सब तो साहित्य-सम्पादक नहीं हो सकते; इसलिए आरम्भ में अपनी-अपनी आकांक्षा को छिपाये रख कर गुट बना लेते हैं और इस गुट में कुछ कोरे 'समाचारियों' को भी शामिल कर लेते हैं। बाद में किसी गुट के सफल हो जाने पर जब कोई एक साहित्य-सम्पादक बन जाता है तो शेष विरोधी हो जाते है। फिर एक नया गुट बनता दिखलायी देता है। अनेक पत्रों में यह मूर्खतापूर्ण और साथ ही घृणित क्रम चलता रहता है, जिसकी वजह से परिशिष्ट कभी भी ढंग से सम्पादित नहीं हो पाता।

इस असमान स्थिति को, वातावरण को दूषित करने वाली प्रतिद्वन्द्विता तथा तज्जन्य कुचक्र के कुप्रभाव को बढ़ाने वाली स्थिति को, समाप्त करने के लिए सर्वोत्तम उपाय यही हो सकता है कि कोई तगड़ा साहित्यकार या साहित्यमर्मज्ञ बाहर से लाकर नियुक्त किया जाय। लेकिन यहाँ फिर वही प्रश्न उठता है कि समाचारपत्र से लगा साप्ताहिक परिशिष्ट जब अन्य साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की तरह विशुद्ध साहित्य-परिशिष्ट माना ही न जाता हो तब ऐसे तगड़े साहित्यकार या साहित्य-मर्मज्ञ की आवश्यकता ही क्या। दूसरी समस्या यह आती है कि जब साहित्य-परिशिष्ट पूरे समाचारपत्र का ही एक अंग हो, परिशिष्ट पर अलग से किसी सम्पादक का नाम न जाता हो और पूरे समाचारपत्र का सम्पादक ही परिशिष्ट का भी सम्पादक माना जाता हो, तब कोई विशिष्ट साहित्यिक या साहित्यकार उसी सम्पादक के अधीन बिना किसी कठिनाई के कैसे काम करेगा तीसरी बात यह है कि कोई विशिष्ट

साहित्यिक या साहित्यकार, जो किसी डिग्री कालेज या विश्वविद्यालय में अध्यापन-कार्य करके या स्वतन्त्र लेखन द्वारा अधिक कमा लेता है, ऐसे किसी पत्र में क्यों आना चाहेगा ?

इस प्रकार हमने यहाँ जिसे 'सर्वोत्तम उपाय' कहा है वह यदि नहीं अपनाया जा सकता तो सम्पादक-मण्डल के ही किन्हीं दो-चार 'विशिष्ट' व्यक्तियों में से एक को चुनने की स्थिति बनी रहती है। इसी को यथार्थ मान कर काम चलाना पड़ता है। जिस तरह कुछ लोग अपने एक गुट, प्रचार और मोर्चेबन्दी के आधार पर एक बार साहित्यकार बन जाने पर आत्मतुष्ट हो जाते हैं उसी तरह सामचारपत्र के साप्ताहिक परिशिष्ट का सम्पादक भी आत्मतुष्ट हो जाता है और किसी साहित्यिक गुट में शामिल हो जाता है। उसके किसी साहित्यिक गुट में शामिल होते ही उसके अपने ही गुट के लेखकों (नामकमाऊ लेखकों) को प्रमुखता मिलने लगती है। यदि सम्पादक दृढ़ व्यक्ति न हुआ बल्कि 'परिशिष्ट के सम्पादक के प्रयास' से उसके ही गुट का पक्षधर हो गया तो स्थिति और खराब हो जा सकती है और अन्त में प्रबन्ध-मण्डल का ध्यान आकृष्ट होने पर उसे हटना पड़ सकता है।

यदि परस्पर-विरोधी विचारों के बावजूद सामान्यतः यह महसूस किया जाता हो कि 'साहित्य परिशिष्ट के लिए साहित्यिक अभिरुचि वाले, यानी एक हद तक साहित्यिक संस्कार और ज्ञान वाले, व्यक्ति की आवश्यकता होनी ही चाहिए तो परिशिष्ट के सम्पादक-पद पर नियुक्ति की कोई कसौटी भी रखनी होगी। सम्पादक-मण्डल में साहित्यिक अभिरुचि, संस्कार और ज्ञान का स्पष्ट परिचय देने वाले किसी व्यक्ति के न मिलने पर साहित्य में उपाधिधारी व्यक्ति की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। किन्तु परीक्षाओं का जो हाल हो गया है उसे देखते हुए किसी पत्र के साहित्य-परिशिष्ट के सम्पादन में साहित्य-परीक्षोत्तीर्ण से बहुत कुछ आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि सम्पादन-कार्य निरन्तर विद्यार्थी बने रहने का कार्य है। साहित्य में विश्वविद्यालयीय उपाधि धारण कर लेने से ही कोई साहित्यिक या साहित्यिक अभिरुचि का भी व्यक्ति नहीं मान लिया जा सकता।

इसी प्रकार निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि पहले किसी समय जब-तब कुछ कविताएँ, कहानियाँ या एकाधिक उपन्यास रच कर तृतीय या द्वितीय श्रेणी के साहित्यकारों में नाम लिखवा लेने वाले कुशल साहित्य

सम्पादक भी हो सकते हैं। और, साहित्य का शास्त्रीय अध्ययन करके बैठे लोगों के बारे में भी यही बात कही जायेगी। साहित्य का विद्वान होना एक बात है, साहित्यकार, साहित्यिक या साहित्यिक अभिरुचि का होना और अखबार से सम्बद्ध परिशिष्ट का सम्पादन कर सकना दूसरी बात है। प्रायः यह देखा गया है कि कोरे कवि बने रहने या साहित्य का शास्त्रीय अध्ययन करके बैठे रहने वालों के दिमाग में उनका 'कवि' या 'शास्त्री' इस तरह बैठा रहता है कि उन्हें पाठकों के विभिन्न स्तरों और रुचियों का कुछ ख्याल ही नहीं रहता। कवि बन कर हर व्यक्ति को कविता और काव्यात्मकला का तथा साहित्य-शास्त्री को विद्वत्ता, जटिलता और गम्भीरता का विशेष आग्रह रहता है। किन्तु, एक-दो नहीं, अनेक पत्रों का अनुभव यह बताता है कि अपनी भावुकता, भावप्रवणता, कल्पनाशीलता, रसानुभूति, सौन्दर्यप्रियता आदि गुणों को लेकर कोई कवि तथा अपने पाण्डित्य को लेकर कोई साहित्य-शास्त्री मासिक, पाक्षिक या साप्ताहिक साहित्य पत्र-पत्रिका के सम्पादन में चाहे कितना ही कुशल क्यों न सिद्ध हो जाय, समाचारपत्र के साथ लगे साहित्य-परिशिष्ट के सम्पादन में उतना ही कुशल नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि यह कोरे साहित्यिकों को नहीं, अखबारी पाठकों को दृष्टि में रख कर निकाला जाता है।

यद्यपि किसी भी कवि से सहज ही सौन्दर्यप्रियता, सौन्दर्यबोध तथा सुरुचि की अपेक्षा की जाती है, तथापि, पता नहीं क्यों, पृष्ठसज्जा तथा विविध सामग्रियों के चयन में वह अपनी सुरुचि तथा कुशलता का परिचय देने में प्रायः विफल हो जाता है। एक विडम्बना यह भी देखने को मिली है कि बहुत पहले 'शिष्य कवि' के रूप में तृतीय या द्वितीय श्रेणी के कवियों के बीच अपना नाम लिखा कर, बाद में भी पुराने सम्पर्कों का लाभ उठाते हुए किसी तरह कवि या साहित्कार बने रहने वाले लोग साहित्य के मैदान से हटने को तैयार नहीं होते। इनके बारे में यह भी एक सत्य है कि आधुनिकतम काव्य-प्रवृत्तियों तथा कवियों से बिलकुल अलग रहने तथा महीने-दो-महीने में एक भी नयी साहित्य पुस्तक पढ़ने का समय न निकाल सकने के बावजूद वे नये युग में भी अपने को पुराना या पिछड़ा समझने को तैयार नहीं होते।

ऐसे लेखक

अब हम लेखकों पर आते हैं। यहाँ पहले ऐसे कुछ लेखकों के बारे में लिखना है जो अनायास लेखक बन बैठे हैं। इन लेखकों को देख कर

'कुछ लिख दो साहित्य हो जायगा' का विचार बढता जा रहा है। लेखक बनने के लिए अध्ययन की और अध्ययन के बाद मस्तिष्क के व्यायाम, (मनन,चिन्तन और विश्लेषण) की जैसे कोई आवश्यकता ही नही रह गयी है। जैसे एम० एल० ए० या एम० पी० बनने के 'एकमात्र उद्देश्य की राजनीति' में एक औसत दर्जे के चलते-पुर्जे व्यक्ति के लिए नेता बनना कुछ कठिन नही है उसी तरह एक औसत दर्जे के चलते पुर्जे व्यक्ति के लिए लेखक बन जाना भी बहुत कठिन नहीं है। लेखकों को पारिश्रमिक न दे सकने वाले या नाम-मात्र का पारिश्रमिक देने वाले पत्रों के कारण, राजनीतिज्ञों की ही तरह कुछ साहित्कारों या लेखकों द्वारा अपने-अपने गुट बना कर उसकी सदस्य-संख्या बढाते जाने की प्रवृत्ति के कारण तथा वास्तविक लेखकों की निराशा और उदासीनता के कारण बरसाती मेढकों की तरह बढ़ आये लेखकों में से सर्वाधिक होशियार और सुविधासम्पन्न लोगों की बन आती है।

इन लेखकों को कुछ लिखने की एक सहज कुलबुलाहट हो, दबे-पड़े अपने विचारों और अपनी भावनाओं को व्यक्त करने की तीव्र इच्छा हो, तो उनसे (कुलबुलाहट व इच्छा से) प्रेरित होकर लिखना एक बात है और केवल अपना नाम बार-बार 'लेखक' के रूप में आता देखना यानी अपना प्रचार चाहना दूसरी बात है। "हम जो कुछ लिखते हैं उसमें कुछ ऐसा भी हो जो एक स्थायी मूल्य का हो, उसमें अपना भी कुछ हो और उसमें सचमुच अपना कोई लेखक-व्यक्तित्व झाँकता हो'—इस बात की चिन्ता या परवाह इन लेखकों को भला क्यों होने लगी। इन्हें तो जब तक सम्भव हो सके अपना नाम देखते रहने की ही एक मात्र इच्छा जकड़े रहती है। इनमें से अधिकांश बिना पारिश्रमिक के ही अपनी रचनाएँ प्रकाशित करवाना चाहते हैं। एक 'काम-चलाऊ' भाषा में सीधे-सादे सरल एवं सामान्य विषयों पर कुछ लिख लेने का थोड़ा-बहुत 'अभ्यास' तो इन्हें हो ही जाता है और चूँकि इन लेखकों को अधिक पारिश्रमिक नहीं देना पडता या बिना पारिश्रमिक के ही अपने लेख प्रकाशित कराने के लिये वे आतुर रहते हैं, अतः इनकी वजह से पत्रों का भी काम सस्ते में चल जाता है। जहाँ तक हिन्दी-पत्रों का सम्बन्ध है, इस समय सबसे अधिक सरदर्द है 'कलेन्डरवादी' लेखक। यदि 'विधा' नाम दिया जा सके तो, 'साहित्य' की सबसे सरल 'विधा' है कुछ बड़े लोगों के जन्म या मृत्यु दिवस पर और पर्वों तथा त्योहारों पर लिखे गये लेख। जन्म-दिवस, मृत्यु-दिवस और पर्वों तथा त्योहारों पर लिखने वाले लेखकों को ही 'कलेण्डरवादी' लेखक कहा गया है। ऐसे ही लेखकों से वग

आकर एक परिशिष्ट-सम्पादक ने पहले 'कलेण्डरवादी लेखक' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित किया; फिर, उसका कोई प्रभाव न देखकर 'नामवरलाल लाल' के एक छद्मनाम से 'मैं नामकमाऊ लेखक हूँ' शीर्षक लेख प्रकाशित करना पड़ा। किन्तु यह प्रयास और संकेत भी व्यर्थ गया। 'कलेण्डरवादी' और 'नामकमाऊ' लेखकों की वैसी ही रचनाएँ सम्पादक के सर पर पूर्ववत लदती रहीं। लदती भी क्यों नहीं उन्होंने ऊपर तक पहुँच की जो एक स्ट्रैटेजी बना ली थी।

चूँकि हर छोटे-बड़े नेता, साहित्यकार और समाज-सुधारक के जन्म या मृत्यु के दिन और प्रत्येक पर्व पर लेख प्रकाशित करने की एक परम्परा-सी हो गयी है, अतः न चाहते हुए भी बेचारा सम्पादक लकीर पीटने के लिए बाध्य होता है। हमारे देश में नेताओं की संख्या निरन्तर बढ़ती ही गयी है। किसी अन्य देश में धार्मिक ऐतिहासिक एवं राजनीतिक विशिष्ट पुरुष यदि दस-बीस और विशिष्ट त्योहार दस-पाँच होंगे तो हमारे यहाँ हर दस-पाँच वर्ष पर एक राजनीतिक पुरुष —'विशिष्ट पुरुष'— उदित होता रहता है और हर महीने तीन-चार पर्व-त्योहार पड़ते रहते हैं। इसी प्रकार मौसमी फलों और सब्जियों पर भी रचनाएँ आती रहती हैं और प्रकाशित होती रहती हैं। इन विषयों पर साल में कम-से-कम डेढ़ सौ रचनाएँ तो प्रकाशित हो ही जाती हैं। इसका मतलब यह हुआ कि हर सप्ताह औसतन तीन रचनाओं को स्थान मिल जाता है। इन रचनाओं के लेखक-लेखिका के रूप में कम-से कम पचीस लेखकों के नाम बार-बार आते रहते हैं। यदि इन पचीस लेखकों को लिखते चार-पाँच वर्ष हो गये है तो भला इन्हें चुनौती कौन दे सकता है। जो सम्पादक इनकी रचनाएँ प्रकाशित करता है उसे पाठक जानते हों या न जानते हों, इन लेखकों को तो वे जान ही जाते हैं।

इन लेखकों के इस वर्णन का यह मतलब नहीं कि उन्होंने जो विषय चुने हैं उन पर रचनाएँ प्रकाशित ही न की जायें। हम तो कहते हैं कि अतीत में सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में जिस व्यक्ति का भी कुछ योगदान हो उसका स्मरण करते रहना चाहिए। इसी प्रकार हम पर्वों या त्योहारों तथा मौसमी फलों और सब्जियों पर कुछ लिखे जाने का ऐसा कोई विरोध नहीं करते। हमारा विरोध और हमारी आपत्ति तो इस बात पर है कि एक ही बात हर बार दोहराई जाती है और उसी एक लेखक द्वारा हम

उस लेखक को क्या कहेंगे जिसने 'लाला लाजपतराय' पर सन् १९६४ में जो कुछ लिखा उससे कुछ भिन्न १९६५ में प्रेषित रचना में वह नहीं लिख सका और १९६६,६७ तथा ६८ में बिना अधिक हेरफेर के वही रचना प्रकाशनार्थ भेजता रहा तथा वही रचना लगातार चार साल तक प्रकाशित भी होती रही। बेचारा सम्पादक इतना कैसे याद रखे कि गत वर्ष लेखक ने जो कुछ लिखा था वही सब कुछ इसमें ज्यों का त्यों रख दिया गया है। और काम के बोझ से लदे बेचारे परिशिष्ट-सम्पादक को इतनी फुर्सत कहाँ कि पुरानी फाइल उलट कर इतने सारे लेखकों की रचनाओं का मिलान करता रहे। और फिर ये 'कलेण्डर-वादी' लेखक (जो अभिशापस्वरूप ही होते हैं) ऊपर से गोटी बैठा कर स्थायी लेखक हो जाते हैं; अतः बेचारा सम्पादक इनकी रचनाएँ अस्वीकृत करने की हिम्मत कहाँ तक करे।

'कुछ लिख दो साहित्य हो जायगा'—यह कथन जिन लोगों पर लागू होता है उनमें से एक की एक रचना का वर्णन हम यहाँ उदाहरण के रूप में कर रहे है। लेखक महोदय के एक मित्र जापान गये हुए थे और वहीं अध्यापन-कार्य करने लगे थे। लेखक महोदय के पास उनके जापानवासी मित्र का पत्र जब-तब आता रहता था। उन्हीं पत्रों को उन्होंने प्रकाशित कराना चाहा और लेकर एक पत्र के परिशिष्ट के सम्पादक के पास पहुँचे। सम्पादक ने इन पत्रों को देखा और देख कर उनसे निम्नलिखित प्रश्न किये:—जिस तरह किसी महापुरुष, विशिष्ट पुरुष या औसत ख्याति के व्यक्ति के इस तरह व्यक्तिगत पत्र केवल उनके नाम के कारण महत्वपूर्ण हो जाते हैं उसी प्रकार क्या इन पत्रों को भी हमारे पाठक कुछ महत्वपूर्ण रूप में ग्रहण करेंगे ? क्या इन पत्रों से ही जापान की ऐसी कोई विशेष झाँकी मिलती है जो जापान के बारे में अब तक प्रकाशित रचनाओं में न मिली हो ? व्यक्तिगत हालचाल के अलावा जितना कुछ जापान के बारे में इन पत्रों से निकलता है वह क्या जापान की एक हलकी झाँकी के लिए भी काफी होगा ? क्या आप के मित्र जापान के बारे में एक-दो लेख ही नहीं भेज सकते थे ? सिर्फ चार पृष्ठों के परिशिष्ट में इन व्यक्तिगत पत्रों के लिए करीब ढाई कालम स्थान देना क्या आप हमारे पाठकों के लिए उचित समझते हैं ? क्या आप यह समझते हैं कि इन्हें प्रकाशित कराने की आपकी इच्छा मे जितनी प्रबलता है उतनी ही प्रबलता पाठकों को उसके पढ़ने में होगी ? इतने सारे प्रश्नों से लेखक महोदय परेशान से हो गये उनका चेहरा कुछ उतर-सा गया फिर एकाएक कुछ दृढ़ता और आत्मविश्वास बटोरने की

कोशिश करते हुए उन्होंने अपनी समझ से कुछ 'तर्क' पेश किये—"ऐसी रचनाएँ छपती तो हैं, आपके ही पत्र में पहले कई बार छप चुकी हैं "............" सम्पादक बेचारे ने पत्र से, सम्पादक से और अन्य लोगों से इस लेखक के 'पुराने सम्बन्ध' का ख्याल करके इससे पिण्ड छुड़ाते हुए कहा—"अच्छा, छोड़ जाइए, मैं देखूँगा कि इसका उपयोग मैं कैसे कर सकता हूँ। लेकिन यह कोई जरूरी नहीं है कि जो कुछ पहले होता रहा वह यदि ठीक न रहा हो तो भी चलता रहे।"

उक्त 'लेखक' महोदय को प्रकाशनातुरता इतनी थी कि सम्पादक की बातों से वे कुछ अधिक संकुचित नहीं हुए। होते भी कैसे? उन्हें तो अपने 'पुराने सम्बन्धों' का बड़ा बल था। वह रचना छोड़ गये और कहते गये कि शायद यह प्रकाशित हो ही जायगी।

उक्त लेखक की 'रचना' को रचना का कोई रूप देने के लिए सम्पादक को स्वयं एक टिप्पणी-सी लिखनी पड़ी— करीब पौन कालम की। टिप्पणी के अलावा पत्रों के बीच-बीच में भी कुछ लिखना पड़ा। सम्पादक के इतने श्रम के बाद वे सारे पत्र पाठकों के लिए कुछ रुचिकर बन सके। पत्रों को एक नयी विधा का जो रूप देने का प्रयास सम्पादक ने किया वैसा ही कुछ लेखक महोदय कर सकते थे; किन्तु बुद्धि के व्यायाम से दूर रहने वाले एवं निश्चेष्ट और प्रचारातुर लेखक से भला यह आशा क्या की जा सकती थी! जो कुछ भी हो, उनकी रचना प्रकाशित हो गयी। उन्होंने बड़ी कृपा की जो सम्पादक के पास आकर, यह कहते हुए कि 'आपने इसमें चार चाँद लगा दिये', उन्हें धन्यवाद दिया। लेकिन, शायद मन-ही-मन वह इस बात से दुःखी भी हुए होंगे कि रचना पर अकेले उनका ही नाम नहीं गया, उनके मित्र का भी दे दिया गया। उनकी यही 'कृति' एक सप्ताह बाद दूसरे नगर से प्रकाशित एक दूसरे पत्र में भी (शायद कुछ इसी प्रकार की कोशिश से) प्रकाशित हुई—बिना किसी टिप्पणी के, मामूली शीर्षक से और केवल उनके मित्र का नाम देकर।

इसी तरह के एकाधिक लेखकों के संस्मरण-लेखन की भी चर्चा कर ली जाय। इन लेखकों को या तो संस्मरण का अर्थ ही नहीं मालूम था या मालूम था तो आत्मप्रचारार्थ यह दिखलाना चाहते थे कि उनका उन नेताओं और साहित्यकारों से घनिष्ट परिचय था, जिनके बारे में उन्होंने संस्मरण लिखे हैं। एक ने महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय पर, दूसरे ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर 'संस्मरण' लिखा था सम्पादक ने पहले लेखक से पूछा कि मालवीयजी के देहान्त

के समय आप की उम्र क्या थी ? शायद दो-तीन वर्ष । दूसरे से पूछा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के देहान्त के समय आपकी क्या उम्र थी ? उसने बताया करीब ७-८ वर्ष । इसी प्रकार सम्पादक ने उनसे 'संस्मरण' का अर्थ 'जानना' चाहा । सम्पादक के प्रश्नों ने दोनों को परेशानी में डाल दिया और वे कुछ लज्जित भी हुए । फिर सम्पादक ने बताया कि "किसी व्यक्ति पर संस्मरण लिखने का मतलब वस्तुतः यही होता है कि लेखक का उस व्यक्ति के साथ कुछ सम्पर्क रहा और उसने उसे कुछ निकट से देखा और परखा था । किताबें पढ़कर या दूसरों से कुछ सुन कर किसी के बारे में लिख देना संस्मरण नहीं होता" इसी तरह कुछ और बातें सम्पादक ने उन्हें संस्मरण के बारे में बतायीं ।

कुछ दिनों बाद उक्त दो लेखकों में से एक ने इन्हीं सारी बातों को एक लेख का रूप देकर सम्पादक के पास भेज दिया । उसने शायद सोचा कि सम्पादक उसका नाम और उससे हुई बातें भूल गये होंगे । यह लेख सम्पादक के पास हफ्तों पड़ा रहा । अन्त में साहस बटोर कर लेखक महोदय स्वयं सम्पादक के सामने उपस्थित हुए और बड़ी विनम्रता से बोले "आप बड़ों से मुझे बहुत कुछ सीखना है, प्रेरणा लेनी है । यह रचना आपकी ही प्रेरणा से और आप के ही विचारों के आधार पर मैंने तैयार की है । इसे स्थान देकर आप अपने ही विचारों को प्रकाश में लायेंगे ।" इस पर सम्पादक ने मुस्कराते हुए कुछ विनोद के साथ कहा "तो उस पर मैं अपना नाम क्यों न चढ़ा दूं ।" कुछ और अधिक विनम्रता का परिचय देते हुए, तथा कुछ दैन्य-भाव से, लेखक महोदय ने कहा :—"आप जैसा चाहें कर सकते हैं । यह लेख आपकी ही प्रेरणा से लिखा गया है । यह आपका ही है । आपका विचार प्रकाश में आना चाहिए । किन्तु, छोटों को भी प्रोत्साहित करने और प्रकाश में लाने का काम भी तो आप बड़ों का ही है ।" सम्पादक को अब द्रवित होना ही पड़ा और वह बोले "जाइए, आपका लेख आपके ही नाम से प्रकाशित हो जायगा । हाँ, अब से मौलिकता की ओर आपको कुछ बढ़ना होगा ।" चूंकि लेखक ने संस्मरणों के सम्बन्ध में सम्पादक के विचारों को बड़े ध्यान से ग्रहण किया था और उन्हें ढग से प्रस्तुत किया था, और चूंकि भाषा और शैली की दृष्टि से भी लेख अच्छा बन गया था अतः सम्पादक ने प्रकाशित कर दिया ।

कवि और कविता

जीवन-मृत्यु-दिवसों पर्वों त्योहारों मौसमी फलों-सब्जियों पर लिखे

वालों और तथाकथित संस्मरण-लेखकों की ही तरह कवियों की भरमार के अनुभव पर भी कुछ लिखना आवश्यक है। कविताओं के बारे में पूरे साहित्य-जगत् में तो यह शिकायत है ही कि श्रोताओं और पाठकों से अधिक कवि हो गये हैं, सम्पादकों को भी यह शिकायत है कि प्रतिदिन औसतन १० कविताओं के हिसाब से उनका बोझ सर पर लदता जाता है और हफ्ते में आयी करीब ६०-७० कविताओं को सरसरी निगाह से ही देख कर उनमें से दो एक चुनने के लिए समय निकालना भी एक समस्या हो जाती है। मुक्त छन्द और नयी कविताओं ने तो कवियों की संख्या और बढ़ा दी है। कविगण कविता भेज कर ही नहीं रह जाते, कार्यालय में पहुँच कर सम्पादक का समय भी नष्ट करते रहते हैं।

जबकि इस बात पर जोर देना एक हद तक उचित हो कि नये उदीय-मान व्यक्तियों में काव्यात्मकता होने पर उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए और जबकि नये-पुराने मनोविज्ञानवेत्ताओं, मनोभावचितेरों तथा काव्यशास्त्रियों का यह कथन कुछ अर्थ रखता हो कि हर व्यक्ति में एक कवि होता है, एक काव्यात्मकता दबी पड़ी होती है या काव्यात्मकता की एक कुलबुलाहट-सी होती रहती है तब सचमुच सम्पादक को कुछ सोचने के लिए रुकना पड़ता है। किन्तु साथ ही सम्पादक को यह भी तो सोचना पड़ता है कि क्या हर व्यक्ति को इस प्रकार कवि मान लिया जा सकता है ? जब तक सोया हुआ कवि जागता नहीं, दबी पड़ी काव्यात्मकता ऊपर नहीं निकल आती और जब तक काव्यात्मकता की कुलबुलाहट एक गति का रूप धारण नहीं कर लेती—अर्थात जब तक भावना, भावप्रवणता, भावुकता या अनुभूति प्रखर नहीं हो जाती और जब तक अन्तर के नेत्र नहीं खुल जाते—तब तक अपने को कवि समझ कर बैठा कोई व्यक्ति अपने अन्तरतम में बैठे कवि से 'साक्षात्कार' नहीं कर सकता। सच पूछिए तो यथार्थ में कवि होना कोई सरल कार्य नहीं है। यदि कवि होना आसान होता तो तुलसीदास जैसे महाकवि को अपने को कवि कहने मे जगह-जगह संकोच न होता। तुलसीदास के इस संकोच से जहाँ उनकी महानता का परिचय मिलता है वहीं यह भी सिद्ध होता है कि कवि-कर्म बहुत दुरूह है।

औद्योगिक विकास के वर्तमान युग में तो मनुष्य को उत्तरोत्तर प्रकृति से दूर होते और शहरी जीवन मे ही रमते देखकर ८ अपना सिर धुनन

लगी है। आज हर व्यक्ति व्यवसाय-व्यस्त हो रहा है, उसकी जिन्दगी में एक भाग-दौड़ आ गयी है, वह जल्दबाज होता जा रहा है। शहरी जीवन मे अधिकाधिक रमने वाले व्यक्ति सैरसपाटे के लिए देहात, पहाड़ और जंगल मे जाते भले हों और वहाँ कुछ दिन रहते भले हों, किन्तु यदि उन पर शहर की एक आभिजात्य सभ्यता का रंग चढ़ गया है तो वे प्रकृति और जन-जीवन के कुशल चितेरे नहीं हो सकते; दो-एक अपवाद की बात दूसरी है। शहरी जिन्दगी में बँधे और अपने बँगले के सुन्दर कक्ष में बैठे व्यक्ति यदि यह सोचें कि 'दूसरे कवियों की रचनाएँ पढ़ कर ही वे सहज कवि हो जायँगे, उनकी भावना, भावप्रवणता तथा भावुकता जाग उठेगी और वे कल्पनाशील हो जायेंगे' तो उनका ऐसा सोचना गलत होगा। यह बात दूसरी है कि दूसरों के भावो और अनुभूतियों को ही अपने भाव और अपनी अनुभूतियाँ बना कर और शब्दो का कुछ नियोजन करके कहने के लिए वे भी कवि हो जायँ। जहाँ तक काव्य के माध्यम से सम्पूर्ण समाज को ठीक-ठीक समझने का और उसका सही-सही चित्रण करने का प्रश्न है, जो व्यक्ति झोपड़ी से लेकर महल या गगनचुम्बी अट्टालिका तक अथवा महल या गगनचुम्बी अट्टालिकाओं से झोपड़ी तक के जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण नहीं कर सकता हो उसे जन-कवि तो नहीं ही कहा जा सकता और न वह समाचारपत्रों के सामान्य पाठकों को संतुष्ट कर सकता।

उपर्युक्त विचारों को दृष्टि में रख कर अपने देश में कवि और कविता की वास्तविक स्थिति का अध्ययन करते हुए, अखबारों से सम्बद्ध परिशिष्ट में कविताओं को स्थान देने के बारे में यथार्थवाद और वस्तुपरकता का सामंजस्य करना होगा। हमारे देश की यथार्थता यह है कि यद्यपि हम औद्योगिक विकास तथा तज्जन्य औद्योगिक सभ्यता की ओर कदम बढ़ा चुके हैं तथापि प्रकृति से सर्वथा दूर होकर, शहरी जीवन में ही रमे रहने, व्यवसाय-व्यस्त होने, भाग-दौड़ की ही जिन्दगी जीने, शहरी आभिजात्य सभ्यता में ही अपने को आँख मूंद कर ढालते जाने और बँगले में ही दूसरों की काव्य-पुस्तकों के बीच बैठ कर 'साधना' करने की स्थिति अभी उतनी बुरी तरह नहीं आयी है जितनी बुरी तरह उद्योग-प्रधान देशों में आ गयी है। ऊपरी तड़क-भड़क और सुन्दरता के नीचे हृदय में जो कुरूपता व्याप्त हो गयी है वह अभी हमारे हृदयों में उस तरह नहीं आयी है। औद्योगिक 'व्यावहारिकता', पण्यवस्तु-सम्बन्ध, कठोरता शुष्कता आदि के विरुद्ध हमारे यहाँ के मातृत्व पितृत्व बन्धुत्व अपत्य श्रद्धा

करुणा, ममता आदि गुण अभी काफी प्रबल हैं। इसके अलावा झोपड़ी से लेकर महल या गगनचुम्बी अट्टालिका तक अथवा महल या गगनचुम्बी अट्टालिका से लेकर झोपड़ी तक के जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण करने की आवश्यकता बनी हुई है।

अस्तु, हमारे यहाँ की इस स्थिति में कवि और कविता के सम्बन्ध में विचार करते समय निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि यह युग अब कवि और कविता का नहीं रहा और सोलहों आने गद्य का हो गया है। तो फिर, कोई सम्पादक—भले ही वह अखबारी साहित्य-परिशिष्ट का ही हो—कविता के 'बहिष्कार' की बात कैसे सोच सकता है। कविता के पढ़ने वालों की संख्या दो-चार प्रतिशत से अधिक न भी हो तब भी उसे कविता के प्रकाशन की आवश्यकता महसूस होती ही है, क्योंकि 'पाठकों की संख्या दो-चार प्रतिशत से अधिक न होना' अपने में बहुत बड़ा तर्क नहीं है। सम्पादक यह तो समझता ही है कि परिशिष्ट में जितनी रचनाएँ प्रकाशित होती हैं वे सब-की-सब सभी पाठकों द्वारा नहीं पढ़ी जातीं। ऐसी 'सौभाग्यशालिनी' रचना कोई नहीं होती जिसे शत-प्रतिशत पाठक पढ़ते हों। हाँ, कुछ रचनाएँ ऐसी जरूर होती हैं जिन्हें अधिकांश (सब नहीं) पाठक पढ़ते हैं। सम्पादक को यह ध्यान जरूर रखना पड़ता है कि अधिकांश पाठक सामान्य रूप में कैसी रचनाएँ पढ़ते हैं। कहानी, उपन्यास, हास्य-व्यंग्य तथा इन्हीं विधाओं की-सी कुछ विशेषता एवं रोचकता लेकर लिखी गयी अन्य रचनाओं के पाठकों की संख्या सर्वाधिक होती है। किन्तु अलग-अलग विषयों—वे भले ही जटिल हों—में रुचि रखने वाले पाठकों की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि पत्र के सारे पाठकों में कुल मिला कर ये बहुसंख्यक हो जाते हैं। अतः यदि कविता के पाठक थोड़े हों तो भी दो-एक कविताएँ प्रकाशित करनी ही होंगी।

और फिर, यदि झोपड़ी से लेकर महल और महल से लेकर झोपड़ी तक के जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण करने में कवि की भावना, और भावुकता, अनुभूति और संवेदनशीलता अधिक सक्षम हो सकती है तब तो कवि को ही सच्चे समाजशास्त्री के रूप में मान्यता देकर उसकी रचनाओं को प्राथमिकता देनी होगी। ऐसा समाजशास्त्री कवि सर्वसाधारण के जितने निकट हो सकता है उतने निकट समाज-शास्त्र की पोथियाँ पढ़-पढ़ कर समाजशास्त्री बने लोग नहीं हो सकते किसी कवि की रचना कौन नहीं पढ़ेगा ? एक

ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थिति को पैनी दृष्टि से देख कर तुलसीदास ने रामायण रची और वह शिक्षितों में ही नहीं, अर्धशिक्षितों, अशिक्षितों और निरक्षरों तक में परमप्रिय हो गयी। तुलसीकृत रामायण का एक अद्वितीय महत्व यह है कि जो लोग अक्षर तक नहीं पहचान सकते उनमें से भी जाने कितनों ने उसके दोहे-चौपाइयाँ कण्ठस्थ कर लीं (औरों से सुन-सुन कर) और उनका साहित्यिक एवं दार्शनिक आनन्द प्राप्त किया ,तथा सामाजिक लाभ उठाया।

उदाहरण के रूप में गोस्वामी तुलसीदास को सामने रखने पर आज की स्थिति में हमें ऐसे जन-कवियों की नितान्त आवश्यकता महसूस होती है, जो औद्योगिक विकास के कल्याणकारी पक्ष का समर्थन करते हुए उसके उस कुत्सित पक्ष को ठीक-ठीक देख सकते हों जो मनुष्य को क्रय-विक्रय की सामग्री जैसा बनाने पर तुला दीख रहा है और जिसका प्राबल्य होते ही मातृत्व, पितृत्व, बन्धुत्व, अपत्य, श्रद्धा, करुणा, ममता सहानुभूति आदि मानवीय गुणों के नष्ट हो जाने की आशंका पैदा हो गयी है। लेकिन तुलसीदास जैसे कवियों या उनके पद-चिह्नों पर चलने वाले कवियों को उस कवि-भीड़ में कैसे खोजा जाय जो आज लग गयी है। केवल कवि कहलाने, कवियों की पांत में अपने नाम लिखाने, अपना प्रचार चाहने, एक-दूसरे को धक्का देने और बँगलों में बैठ कर दूसरों की अनुभूतियों की चोरी करने के लिए, जो लोग एक भीड़ के रूप में काव्य-क्षेत्र में कूद पड़े है उनमें से यदि सबको नहीं तो कुछ को ही इस योग्य कैसे बनाया जाय कि वे अपने काव्य के माध्यम से समाज की थोड़ी-बहुत सेवा कर सकें। ये दो प्रश्न ऐसे हैं जो किसी सेवाव्रती सम्पादक को चिन्तित करते रहते हैं।

रचना-प्रकाशन के उपाय

'लेखकों की बाढ़' समस्या से निपटने के सिलसिले में ही एक कटु अनुभव उन स्थानीय लेखकों का है, जो अपनी रचनाएँ प्रकाशित कराने के लिए कुछ उपाय निकालते रहते हैं, कोशिश-पैरवी या जोर-दबाव का सहारा लेते रहते हैं। कुछ लेखकों ने ८-१० सदस्यों की अपनी-अपनी साहित्य-संस्था बना ली है, जिसकी बैठकें वे हर हफ्ते या हर पक्ष करते रहते हैं। इन बैठकों में वे कभी सम्पादक को, कभी साहित्य-सम्पादक को और यदि व्यवस्थापक महोदय भी कुछ लेखन-रुचि के हुए तो कभी उन्हें भी 'साग्रह'-'ससम्मान' आमन्त्रित करते रहते हैं और उन्हीं से बैठक की अध्यक्षता कराते हैं सम्पादक

साहित्य-सम्पादक और व्यवस्थापक को खुश रखने का यह एक अच्छा तरीका है। इसके अलावा हर हफ्ते या पखवारे या महीने में एक बार वे सम्पादक, और व्यवस्थापक के यहाँ हाजिरी देना और स्तुति करना आवश्यक समझते है। यह सब कुछ अपनी रचना के प्रकाशन के लिए ही तो होता है। हर हफ्ते किसी-न-किसी संस्था की अध्यक्षता करने में साहित्य-सम्पादक, सम्पादक या प्रबन्ध-सम्पादक को अपने 'महत्व' का कुछ अनुभव होता है और समाचार-स्तम्भ में अपना नाम बार-बार आता देख कर 'प्रचारानन्द' प्राप्त होता है। 'नाम-कमाऊ' या 'कलेण्डरबादी' लेखकगण इस 'महत्त्वानुभूति' और 'प्रचारानन्द' को एक कमजोरी के रूप में देखकर इनका फायदा उठाते हैं।

इनका एक दूसरा 'महत्त्वपूर्ण' कार्य यह होता है कि नवनियुक्त व्यवस्थापक, सम्पादक या साहित्य-सम्पादक के ऐसे एकाधिक निकटतम व्यक्तियों की खोज की जाय, जो उनके भी पूर्वपरिचित निकल आयें। यों तो ये लोग प्रथमत. सीधा-सम्पर्क साहित्य-सम्पादक से ही रखना चाहते हैं; किन्तु यदि साहित्य-सम्पादक की अपनी दृढ़ता, निष्पक्षता यथोचित सम्पादन-कर्त्तव्य तथा 'भीड' की समस्या से निपटने के उसके अपने ढंग के कारण उसको वश में करना कठिन हो, तो वे उसकी 'नौकरी की मजबूरियों' पर अपना विश्वास जमा कर सीधे व्यवस्थापक और सम्पादक से ही सम्पर्क रखने की सोचते हैं। यहीं वे यह भी पता लगाते रहते हैं कि व्यवस्थापक या सम्पादक से या दोनो से साहित्य-सम्पादक का कहीं कोई विरोध तो नहीं है। यदि विरोध हुआ और उसका पता लग गया तो ये प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में तरह-तरह से उसका लाभ उठाने की भी कोशिश में लग जाते हैं।

कुछ लेखकों ने एकाधिक प्रमुख पत्रों के सम्पादकों को खुश करने का एक तरीका यह निकाला है कि किसी अन्य पत्र-पत्रिका में उनकी 'पत्रकारिता-सेवा' और 'समाज-सेवा' पर किसी तरह लेख प्रकाशित करा कर उनके कृपापात्र बन जायें और फिर उनके पत्र में अपनी रचना प्रकाशित कराते रहें। वे अपने कुछ लेखों में अन्य किसी बड़े लेखक का कथन उद्धृत करने के बजाय सम्पादक के कथन [भाषण या अग्रलेख में] को ही उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं। इन लेखकों में कुछ ऐसे भी मिलेंगे जो संचालक, व्यवस्थापक और सम्पादक की रुचि, प्रवृत्ति, दलीय विचार, जातीय एवं प्रान्तीय भावना आदि की जानकारी प्राप्त कर तदनुकूल कुछ चीजें प्रकाशित कराने की कोशिश करते हैं

कुछ लेखक अपनी विशिष्ट स्थिति का लाभ उठाकर रचनाएँ प्रकाशित करवाते रहते हैं—भले ही उनकी रचनाएँ 'कलेण्डरवादी' लेखकों की-सी हों, पिष्टपेषण मात्र हों, कोरी उपदेशात्मक तथा मौलिक विचारों से रहित हों, अनावश्यक रूप में विस्तृत या 'गागर में सागर' की कला से रहित होकर अति संक्षिप्त हों, भाषा और शैली का कोई आनन्द न देती हों, विषय के समारम्भ और समापन के गुण से भी रहित हों और अप्रासंगिक बातों से भरी हो। एक परिशिष्ट-सम्पादक को एक विशुद्ध कलेन्डरवादी 'नेता-लेखक' का कोपभाजन केवल इसलिए बनना पड़ा कि पहले जहाँ हर हफ्ते या हर दूसरे हफ्ते उनके 'तिथि-लेख' प्रकाशित होते रहते थे, इस नये परिशिष्ट-सम्पादक ने महीने या डेढ़ महीने में औसत एक लेख का कर दिया। ऐसा करने के लिए उसे अपने सम्पादक तथा व्यवस्थापक से कुछ 'विनम्र' संघर्ष करना पड़ा और अपने निर्णय के पक्ष में तर्क और प्रमाण प्रस्तुत करने पड़े। जब उसने सम्पादक तथा व्यवस्थापक के सामने 'नेता-लेखक' की प्रकाशनार्थ प्रेषित रचनाओं और पहले प्रकाशित रचनाओं को आमने-सामने रखकर आवृत्ति मात्र सिद्ध कर दिया तब जाकर व्यवस्थापक तथा सम्पादक को पत्र के हित की बात कुछ समझ मे आयी। लेकिन उन्होंने इतना कह कर समझौता किया कि 'अच्छा तीसरे-चौथे या चौथे-पाँचवें सप्ताह इनकी रचनाएँ निकाल दिया कीजिए'।

व्यवस्थापक और सम्पादक द्वारा लेखकों के लादे जाने के दो-एक उदाहरण और दिये जाते हैं:—एक राज्य के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री की मृत्यु होने पर परिशिष्ट में दो लेख प्रकाशित किये गये थे। उनकी जितनी कुछ ख्याति थी उसे देखते दो लेख प्रकाशित कर देना काफी था। किन्तु, तीसरे वर्ष भी बरसी के दिन व्यवस्थापक महोदय ने दिवंगत मुख्यमन्त्री के बेटे की इच्छापूर्ति के लिए उन पर लिखे गये दो लेख प्रकाशित करने का आदेश आँख मूँद कर दे दिया। दूसरा उदाहरण है एक 'साहित्यकार-व्यवस्थापक' महोदय के आदेश मे। एक बार उन्होंने एक ही अंक में एक लेखक की तीन रचनाएँ प्रकाशित करने के लिए साहित्य-सम्पादक को बाध्य किया। तीसरा उदाहरण है एक आयुर्वेद-संस्थान के संचालक की लेख-माला प्रकाशित करने का। सिर्फ चार पृष्ठों के परिशिष्ट में हर सप्ताह आयुर्वेद पर लम्बे (३-३॥ कालम के) लेख प्रकाशित करने में कोई औचित्य नहीं दिखलाया जा सकता था। यह माना जा सकता है जैसाकि इसी अध्याय मे अन्यत्र माना गया है, कि यदि किसी

विषय के पाठक दो-तीन प्रतिशत ही हों तो भी उस विषय पर रचना प्रकाशित होनी चाहिए। किन्तु अन्य पाठकों की रुचि की रचनाओं के लिए दिये जाने वाले स्थान से अधिक (अनुपात में अधिक) स्थान देने में कोई औचित्य नहीं है। हाँ, आयुर्वेद जैसे दुरूह या शुष्क विषय भी अन्य पाठकों के लिए रुचिकर और सरस बनाये जा सकते हैं। किन्तु यह कार्य सबके बस की बात नहीं है। इसके लिए तो लेखनकला में विशेष निपुणता की आवश्यकता होती है। किसी आयुर्वेद-संस्थान का संचालक (भले ही वह अपने विषय का विद्वान् हो) पत्र के सभी पाठकों की रुचि के अनुकूल अपना विषय प्रस्तुत करने में भी समर्थ हो जायगा,—ऐसा नहीं माना जा सकता।

एक 'अनूठा' अनुभव

इस प्रसंग को समाप्त करने के पहले कुछ लेखकों के निन्दा-अभियान के एक 'अनूठे' अनुभव की भी चर्चा कर ली जाय। जब किसी नये परिशिष्ट-सम्पादक के आने पर उनके कुछ कड़े रुख के कारण या अन्य कारणों से ऐसे लेखकों की रचनाओं का प्रकाशन बन्द हो जाता है या कम हो जाता है, तो इन्हें उसी [illegible] परिशिष्ट-सम्पादक के सम्पादन-कार्य में और नीति में 'दोष' दिखलायी [illegible] लगता है, जिसके आने पर शुरू-शुरू में ये लेखकगण प्रशंसा-पत्र भेज चुके होते हैं। इनका अभियान पहले व्यवस्थापक या सम्पादक के पास निन्दा-पत्र से प्रारम्भ होता है : वे अपने पत्रों में स्थानीय लेखकों की उपेक्षा को अनुचित बताते हैं, अखबार पर अपने अधिकार की प्राथमिकता की वकालत करते हैं, ...किन्तु, यदि व्यवस्थापक और सम्पादक समझदार तथा दूरदर्शी हुए और उनके अपने निजी स्वार्थों से ऊपर संस्था का स्वार्थ अधिक महत्त्वपूर्ण दिखलायी दिया, तो वे ऐसे खुराफाती लेखकों के फेर में नहीं पड़ते। फिर इस प्रकार व्यवस्थापक और सम्पादक का कान भरने में विफल होने पर वे सम्पादक-मण्डल के उन कुछ सदस्यों को पकड़ने की कोशिश करते हैं जिनका ये परिशिष्ट-सम्पादक से कुछ विरोध होता है। इन कुकर्मों के अलावा और भी जो कुछ हो सकता है वे करते हैं। भगवान बचाये ऐसे कुचक्री तथाकथित लेखकों से।

इस तरह के लेखकों की संख्या जब दस-बीस नहीं साठ-सत्तर तक या उससे भी अधिक तक पहुँच गयी हो तब संचालक सम्पादक या व्यवास्थापक

मे से किसी को यह समझने में विशेष कठिनाई नहीं होती कि चार पृष्ठों के परिशिष्ट में, जिसमें अधिक-से-अधिक पन्द्रह रचनाएँ प्रकाशित हो सकती हों, प्रत्येक ऐसे लेखक की रचना हर सप्ताह कैसे प्रकाशित हो सकती है। हर सप्ताह क्या, महीने में भी एक बार नम्बर नहीं आ सकता। फिर भी, सात-आठ सर्वाधिक होशियार और प्रयत्न-सफल लेखकों का व्यवस्थापक या सम्पादक से कुछ ऐसा 'लगाव' हो जाता है कि परिशिष्ट-सम्पादक की कोई दृढ़ता (यदि वह दृढ़ रह सकता हो तो) और कोई आदर्शवादिता (यदि वह आदर्शवादी बना रह सके तो) काम नहीं आती और इन सात-आठ का 'विशेषाधिकार' सुरक्षित हो जाता है। जो कुछ भी हो, अन्त में जब जोड़-तोड़ करने वाले इन लेखकों के कारण स्थिति बहुत बिगड़ जाती है तब सम्पादक या व्यवस्थापक को न सही, संचालक को तो स्थिति का अध्ययन करने और कुछ सोचने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

'कलेण्डरवादी' 'नामकमाऊ' या प्रचारप्रिय तथाकथित लेखकों का हावी होना इसलिए और अधिक भयंकर समस्या का रूप धारण कर लेता है कि वस्तुतः नये और पुराने योग्य लेखकों को आकृष्ट करने का कोई ठोस आधार नहीं तैयार हो पाता। यों तो योग्य लेखकों को उनकी योग्यता के अनुसार पारिश्रमिक या पुरस्कार देने के लिए एक अच्छी धनराशि निश्चित करना सर्वप्रमुख आकर्षण होता है; फिर भी, यदि कोई पत्र ऐसे लेखकों के लिए अपेक्षित धनराशि निर्धारित न कर सके तो उसका सम्पादक अपने व्यक्तिगत प्रभाव, प्रयास और कौशल से नये और पुराने वास्तविक लेखकों में से कुछ की रचनाएँ जब-तब किसी तरह प्राप्त कर सकता है। यदि लेखन-कला मे दक्ष, उदीयमान एवं प्रतिभावान लेखकों को उचित पुरस्कार देना सम्भव न हो तो उनकी रचनाओं के साथ उनके चित्र और परिचय देकर उनका सम्मान तो किया ही जा सकता है। अधिक पुरस्कार के बिना ही ऐसे योग्य लेखको को आकृष्ट करने की एक शर्त यह भी है कि अयोग्य सम्पादक के कारण, उनके साथ लगाव रखने वाले कलेण्डरवादी, कोरे प्रचारप्रिय, तथाकथित लेखकों के कारण तथा सम्पूर्ण सम्पादन-कार्य में दोष के कारण पत्र का व्यक्तित्व ऐसा न हो गया हो कि उसमें रचना प्रकाशित कराने में योग्य लेखकों को संकोच या लज्जा का अनुभव हो।

यदि अच्छे लेखको की रचनाओं से पत्र को बराबर सुशोभित रखना है तो

प्रथमतः अर्थ के प्रश्न पर ही विचार करना होगा। क्या यह सम्भव नहीं है कि सम्पूर्ण सम्पादक-मण्डल पर वेतन के रूप में जितना खर्च होता है उसका कम-से-कम चौथाई तो लेखकों के पुरस्कार पर खर्च किया जाय। यदि किसी पत्र के सम्पादक-मण्डल के वेतन के मद में चार हजार रुपये खर्च होते हैं, तो लेखकों के पुरस्कार के मद में एक हजार रुपये भी खर्च करने में असमर्थता की बात पर विश्वास नहीं किया जा सकता। एकाधिक पत्रों में यह देखकर आश्चर्य और साथ ही दुःख होता है कि सम्पादक-मण्डल और व्यवस्थापक-मण्डल के वेतन पर जहाँ ७-८ हजार रुपये (हर माह) खर्च होते है, वहीं लेखकों के पुरस्कार की रकम घटाते-घटाते तीन-चार सौ रुपये से भी कम कर दी गयी। इस 'मितव्ययिता' में इधर कुछ नये लेखन-सामग्री-वितरक सिण्डिकेटों ने बड़ा 'योगदान' किया है। इन सिण्डिकेटों से सिर्फ पाँच रुपये में एक रचना मिल जाती है।

सिण्डिकेट-सामग्री

लेखन-सामग्री-वितरक सिण्डिकेटों के सम्बन्ध में भी कुछ जान लेना आवश्यक होगा। सबसे पहले तो यह प्रश्न आता है कि क्या विविध प्रकाशन-सामग्री प्राप्त करने के लिए लेखकों पर जितनी रकम खर्च करने की आवश्यकता है उतनी रकम खर्च करने में ये सिण्डिकेट समर्थ हो सके हैं या हो सकते हैं? सिर्फ दो-चार सिण्डिकेट ऐसे होंगे जिनका सम्बन्ध कुछ अधिक पत्रों से स्थापित हुआ होगा। शेष का सम्बन्ध अधिक-से-अधिक दस-बीस से ही होगा। जिन सिण्डिकेटों का सम्बन्ध कुछ अधिक पत्रों से है वे भी अपनी स्थिति ऐसी कुछ नहीं बना सके हैं कि मुक्तहस्त खर्च करके विविध विधाओं के अधिकाधिक लेखकों को आकृष्ट करने में समर्थ हों। एकाधिक सिण्डिकेटों के संचालक कुछ प्रभावशाली जरूर हैं और वे अपने प्रभाव का उपयोग करके कुछ बड़े लोगों से रचनाएँ प्राप्त करते रहते हैं, किन्तु लेखन-जगत् के जाने कितने सुविख्यात व्यक्ति इन सिण्डिकेटों से दूर ही रहना चाहते हैं।

जिन कुछ बड़े लेखकों की रचनाएँ इनके द्वारा प्रकाशित होती हैं उनमें से जाने कितने तो ऐसे हैं जो एक वास्तविक लेखक की तरह जम कर लिखी गयी रचनाएँ देने के बजाय 'डिक्टेट कर दी गयी' रचनाएँ देकर छुट्टी पा जाते हैं। ऐसी रचनाओं को उनकी उन वास्तविक रचनाओं के साथ नहीं रखा जा सकता जिन्हें वे अपने लेखनधर्म का पालन करते हुए जम कर लिखते हैं।

उनकी 'डिक्टेट की गयी' रचनाओं में पुरानी बातों की आवृत्ति ही रहती है और उनकी वह लेखनशैली नहीं दिखलायी देती, जो लेखक के आसन पर बैठकर लिखी गयी उनकी अन्य रचनाओं में मिलती आयी है। चूंकि यह एक भयकर प्रचारयुग हो गया है, अतः अपने वास्तविक लेखक-स्वरूप, अपने वास्तविक लेखनधर्म और अपनी वास्तविक शैली की चिन्ता या परवाह न करके ये किसी तरह बार-बार, जल्दी-जल्दी, अपने नाम प्रकाश में आते देखते रहना चाहते हैं। बेचारे पाठक बड़े नामों को देख कर कुछ न कुछ आकृष्ट हो ही जाते हैं। वे यह देखने और समझने में भला कैसे समर्थ हो सकते हैं कि कोई बडा लेखक अपने लेखक-स्वरूप, लेखक-व्यक्तित्व, लेखनधर्म और लेखनशैली का ख्याल करके जब लिखता है तब उसकी रचना कैसी होती है और जब किसी सिण्डिकेट या पत्र के लिए डिक्टेट कर देता है तब उसकी रचना कैसी होती है। इस प्रकार, वस्तुतः बड़े लेखकों के नाम पर पाठकों को ठगा जाता है। इन बड़े लेखकों में कुछ तो नेता और राजनेता होते हैं। नेताओं और राजनेताओं को भला इतनी फुर्सत कहाँ कि लिखने के लिए जम कर बैठें। अधिकांश नेताओं और राजनेताओं की ओर से तो कुछ दूसरे ही लोग लिख दिया करते हैं।

एकाधिक सिण्डिकेट विविध सामग्री देने का प्रयास करते हैं, किन्तु सामान्यतः शुष्क लेखों या निबन्धों का ही आधिक्य रहता है। कहानी, हास्य-व्यंग्य, अच्छे संस्मरण, कविता, 'विश्व-समाज के जाने कितने दबे पड़े अज्ञात रोचक, रोमांचक और प्रेरक प्रसंग,' प्रकृति के अनेक अनुदघाटित रहस्य, 'समाज के विभिन्न अंगों के विकास, उनकी विभिन्नताएँ तथा विषमताएँ और सम्भावनाएं' आदि विषय या तो अछूते ही रह जाते हैं या नाम-मात्र के लिए जब-तब दे दिये जाते हैं। सामग्रियों की विविधता के अलावा प्राप्त सामग्रियों से सम्पादन का भी एक प्रश्न है। सिण्डिकेट के सम्पादकगण प्राप्त रचनाओं में अपने ढंग से काट-छाँट करके, अपनी समझ के अनुसार उनका सम्पादन करके, पत्रों में भेजते हैं। ये ही रचनाएँ यदि सीधे ज्यों-की-त्यों पत्रों में जायँ तो उनके सम्पादक उनमें काट-छाँट और उनका सम्पादन शायद अपने ढंग से, अपने सम्पादनकौशल से, करें। पत्रों में इन रचनाओं का पुनर्सम्पादन जब होता है तो कभी-कभी लेखक के वे कुछ खास विचार गायब हो जाते हैं जिन पर उसका विशेष जोर होता है सिण्डिकेट की कुछ सामग्रियाँ

अनूदित रहती हैं। इनके सभी अनुवादकों के अनुवाद पर समान रूप से भरोसा नहीं किया जा सकता। किसी भी सिण्डिकेट की वित्तीय स्थिति ऐसी नहीं हो सकी है कि वह ऐसे लोगों का सहयोग प्राप्त कर सके जिनका उन दो भाषाओं पर अधिकार हो जिससे और जिसमें अनुवाद किया जाता है। ऐसी दो भाषाओं पर अधिकार का मतलब "इन दोनों के व्याकरणों, शब्द-नियोजन, वाक्य-रचना आदि तथा शैलियों पर अधिकार" से है। अनुवाद के कुछ दोष तो किसी भी औसत ज्ञान वाले सम्पादक की पकड़ में आ जाते हैं, किन्तु अनेक दोष, जो मूल और अनुवाद को आमने-सामने रखने पर ही पकड़े जा सकते हैं, [illegible] रहते हैं।

जिस तरह कुछ पत्रों से सीधे-सीधे सम्पर्क स्थापित कर लेने वाले कुछ लेखकों के नाम बारी-बारी से या एक साथ आते रहते हैं उसी तरह सिण्डिकेटों से भी कुछ थोड़े से नामों की आवृत्ति होती रहती है, यानी सिण्डिकेटों पर भी कुछ थोड़े से लोगों का एकाधिकार-सा हो जाता है। जब कोई पत्र पूर्णतः सिण्डिकेट पर निर्भर रहने लगता है, तो सिण्डिकेट के इन एकाधिकारियों का उस पत्र पर भी परोक्षरूप से एकाधिकार हो जाता है। यदि ये सिण्डिकेट किन्हीं व्यक्तिगत, समूहगत या वर्गगत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, अन्ततः एक ही तरह के विचारों की ओर ले जाने के विचार से, स्थापित किये गये हों तो [illegible] पत्रकारिता को एक और संकट में डालने वाले कहे जायेंगे। प्रारम्भ में एक ही तरह के विचार का प्राधान्य भले ही न दिखलायी देता हो, किन्तु अन्ततः वह स्पष्ट हो ही जाता है।

अच्छी रचनाओं की प्राप्ति के सम्बन्ध में जिस एक स्थिति का चित्रण ऊपर किया गया है वह पत्रकारिता के लिए विशेष चिन्ता का कारण बन गयी है, क्योंकि इससे 'जो कुछ मिले उसी से भर दो' की प्रवृत्ति इस तरह जड़ जमाने लगती है कि अन्ततः सम्पादक की अपनी सुरुचि, चयन-दृष्टि, पत्रकदर्मा, लगन तथा श्रम और पाठकों की सन्तुष्टि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना निश्चित हो जाता है। इस स्थिति में कुछ ही सम्पादक ऐसे रह जाते हैं जो यह महसूस करते हैं कि हर हालत में उन्हें अपनी सम्पादन-क्षमता एवं कुशलता और विशेषता को क्षीण होने से बचाना है। किन्तु, कुछ ही दिनों बाद इन थोड़े से लोगों में भी धीरे-धीरे निराशा व उत्साहहीनता का प्रवेश शुरू हो जाता है

पुरस्कार के लिए समुचित धनराशि के अभाव में या अन्यान्य कारणों से अच्छी रचनाएँ न मिलने पर भी कोई सम्पादक अपने पाठकों को कैसे सन्तुष्ट रख सकता है ? यह एक जटिल प्रश्न है ! किन्तु कुछ ऐसे भी सम्पादक मिल जायँगे, जो इस प्रश्न को सरल बना देते हैं। ऐसे सम्पादकों ने 'मिट्टी को सोना बनाने' या 'उच्छिष्ट को अनुच्छिष्ट बनाने' की जो योग्यता और कुशलता दिखलायी है उसका उन्हें विशेष पारिश्रमिक या पुरस्कार भले न मिला हो, मुँह से प्रशंसा ही किसी ने भले न की हो, किन्तु वे आत्मसन्तुष्ट रहे हैं। उन्होंने अपने सुसम्पादन से पत्र को चमत्कृत किया है और साथ ही यह सिद्ध किया है कि यदि संचालक और व्यवस्थापकगण थोड़ी भी दिलचस्पी लें, तो वे अपने पत्र की समाचारेतर सामग्रियों को एक ऐसी स्थायी निधि बना सकते हैं जिसका उपयोग भविष्य में कोई गम्भीर शोध-छात्र भी कर सकता है।

समाचारेतर सामग्रियों के संग्रह, चयन, सुसम्पादन और प्रकाशन की समस्या भारतीय पत्रकारिता में अभी भी उस हद तक सामान्यतः हल नहीं की जा सकी है, जिस हद तक हल होनी चाहिए। इसका अब तक हल न होना या न हो सकना हमारी पत्रकारिता की गतिहीनता का द्योतक है, हालांकि यह कथन अभी भी बहुत हद तक सत्य है कि विश्व के तमाम प्राचीन और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को मथ कर तत्त्व निकालने का जो काम पत्रकारिता कर सकती है वह विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों और अन्य विद्वानों से सम्भव नहीं है। प्राचीन और वर्तमान ज्ञान-विज्ञान-सामग्रियों को 'भविष्य-दर्शन' का माध्यम बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य पत्रकारिता द्वारा जितनी खूबी से हो सकता है उतनी खूबी से यदि वह नहीं हो सका है तो केवल इसलिए कि पत्रकार को जो सहयोग और सुविधा पत्रसंचालकों से मिलनी चाहिए वह नहीं मिल सकी है या पत्रकार को स्वयं साधना, लगन और योग्यता का जैसा परिचय देना चाहिए वैसा वह नहीं दे सका है।

●●

सम्पूर्ण स्थिति : एक चुनौती

विश्व के पैमाने पर हो या अलग-अलग देश के पैमाने पर हो, पत्रकारिता की सम्पूर्ण स्थिति, विभिन्न रूपों में और विभिन्न स्तरों पर, एक चुनौती देती दिखलायी दे रही है। यदि, जैसाकि प्रारम्भ के अध्यायों में एकाधिक स्थानों पर कथित और प्रतिपादित है, पत्रकारिता का आदर्श राष्ट्रीय संकीर्णता से ऊपर उठ कर अन्तर्राष्ट्रीयता के विचार ग्रहण करना है या विश्व-बन्धुत्व की किसी यथार्थता को स्वीकार करना है तो, अथवा, राष्ट्र के इस समुदाय या उस समुदाय की, इस वर्ग या उस वर्ग की सेवा-सहायता से आगे बढ़ कर पूरी आबादी की सेवा-सहायता करनी है तो, पत्रकार को सर्वप्रथम वैचारिक चुनौती — सबसे बड़ी चुनौती — पर विचार करना होगा और यह समझना होगा कि वैचारिक चुनौती वस्तुतः है क्या और वह कैसे प्रस्तुत है। किसी एक रूप में, या किसी एक ढंग से, वह विकसित उन्नत तथा सम्पन्न देशों में प्रस्तुत है तो किसी दूसरे रूप में, दूसरे ढंग से, भारत-जैसे विकासोन्मुख कहे जाने वाले तथा अभी भी कुछ पिछड़े ही रहने वाले अफ्रीकी-एशिया देशों में प्रस्तुत है।

यहाँ हम मुख्यतः विकासोन्मुख कहे जाने वाले और अभी भी पिछड़े ही माने जाने वाले देशों के ही पत्रकारों की वैचारिक स्थिति को रख कर वैचारिक चुनौती पर कुछ कहना चाहेंगे। यह कहना कुछ गलत नहीं होगा कि इन देशों में हर पत्र और हर पत्रकार आम तौर पर दिशाहीन है। इनमें न तो पूँजीवादी दिशा है न समाजवादी; ये न तो पूँजीवाद पोषक लोकतन्त्र को परख कर उसे अपना सके हैं और न समाजवाद-पोषक किसी लोकतन्त्र में ही दीक्षित हो सके हैं। भारत-जैसे कुछ अपने बड़े देशों में भी यद्यपि तत्वतः सामन्तवाद का प्रभाव अभी बना हुआ है, तथापि कोई पत्रकार अपनेको पूर्णतः सामन्तवादी भी नहीं कह पाता और न अपने मन तथा मस्तिष्क पर के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव को

देख पाता है। इसी प्रकार पूँजीवादी दृष्टिकोण या प्रभाव के बारे में और फिर समाजवादी दृष्टिकोण या प्रभाव के बारे में भी विचार करके वैचारिक स्थिति देखेंगे।

अमेरिका, जापान, फ्रांस, जर्मनी (पश्चिमी), ब्रिटेन आदि कुछ देश जिस प्रकार पूँजीवाद के चरम विकास तक पहुँच गये हैं उसी प्रकार ये विकासोन्मुख या अर्धविकसित देश पूँजीवाद के चरम विकास तक निकट भविष्य में पहुँचते नहीं दिखलायी देते। चरम विकास तक पहुँचने को कौन कहे, अभी ये सामान्यतः भी पूँजीवादी विकास नहीं कर सके हैं। यदि ये पूँजीवादी विकास की ओर बढ़ भी रहे हैं तो गति मन्द है। अस्तु, इन देशों के पत्रकार सम्पूर्ण रूप से कौन कहे, आंशिक रूप में भी वैसा पूँजीवादी दृष्टिकोण अपनाते नहीं दिखलायी देते जैसा अमेरिका, जापान, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी जैसे देशों के पत्रकार अपना चुके हैं। यही बात सम्पूर्णतः या अंशतः समाजवादी दृष्टिकोण अपनाने के बारे में है।

समाजवादी दृष्टिकोण के विषय में जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, स्वतन्त्रता के बाद एक दिन भी ऐसा नहीं बीता जब किसी पत्रकार के कानों में समाजवाद की बातें न पड़ी हों या समाजवाद से सम्बन्धित कोई-न-कोई समाचार उसने अपने पत्र में प्रकाशित न किया हो। आर्थिक मार के कारण या समाजवाद की रामनामी ओढ़ कर घूमने वालों के साथ सम्पर्क के कारण, अल्पवेतनभोगी पत्रकारों में से शायद ७५ प्रतिशत तक पत्रकार समाजवाद के प्रति 'अनुरक्त' भी हुए हैं। किन्तु, क्या इससे ही उनका कोई वास्तविक समाजवादी दृष्टिकोण बन गया है और यदि बन गया है तो क्या किसी एक झटके से ही वह समाप्त नहीं हो जा सकता; क्या समाजवाद—किसी ब्रैण्ड के समाजवाद—पर उन्होंने स्वयं थोड़ा-बहुत अध्ययन किया है? जिस प्रकार स्वयं कुछ अध्ययन किये बिना सभी समाजवादी कार्यकर्त्ता (काँग्रेसी, कम्युनिस्ट, सोपाई, संसोपाई आदि) 'पक्के समाजवादी' हो गये हैं वैसे ही अधिकांश पत्रकार भी समाजवाद पर एक भी किताब का स्पर्श किये बिना 'समाजवादी पत्रकार' हो गये हैं। इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में जब से सोवियत संघ से घनिष्ठता बढ़ी है तब से तो ऐसा हो गया है कि अनेक काँग्रेसी पत्रकार 'सोवियत समाजवाद' और साम्यवाद पर उन लोगों के सामने भी गाल बजाने लगे हैं जिन्होंने वर्षों पहले से सोवियत समाजवाद एवं साम्यवाद पर कुछ पढ़ा लिखा और सोचा है तथा "सोवियतभक्त' भी रहे

है। इन सब तथ्यों से पत्रकार-जगत में एक बुद्धि-विडम्बना का ही तो परिचय मिलता है।

अपने को विचारक मान लेने का भ्रम जितना हम पत्रकारों को है उतना शायद और किसी को नहीं है। किन्तु हमने एक वास्तविक वैचारिक स्तर पर यह देखने की कोशिश नहीं की है कि यदि हम अपने देश की पूरी आबादी के 'अविभाज्य कल्याण' का उद्देश्य सामने रखने का दावा करते हैं तो हमारी जो 'विभाजित स्थिति' है उससे सबका नहीं तो अधिकांश का कल्याण कैसे कर सकते हैं? यहीं यह भी गौर करने की बात है कि जब पत्रकार का यह उद्देश्य कोई नया नहीं है तो, अब तक इसकी पूर्ति कहाँ, कब, कैसे और कितनी हुई है। 'अविभाज्य कल्याण' का उद्देश्य सामने रख कर चलने वाले किसी पत्रकार को अपनी 'विभाजित स्थिति' पर बार-बार विचार करना होगा। इस स्थिति में सामन्ती प्रभाव तथा पूँजीवादी एवं समाजवादी दृष्टि पर विचार करने के साथ ही लोकतन्त्र पर कुछ और विचार करना होगा।

लोकतन्त्रवादी कहे जाने वाले अन्य देशों के पत्रकारों की तरह हमारे देश के पत्रकार लोकतन्त्र की बात और किन्हीं बातों से अधिक करते आये हैं। किन्तु, स्वयं अपनी स्थिति से उन्होंने इस विषय पर कोई निष्कर्ष निकालने की ओर ठोस यथार्थ को समझने की मानो कोई आवश्यकता ही नहीं समझी या 'सब कुछ समझ कर' भी 'कुछ नहीं समझा'। सम्पूर्ण राजनीति-विज्ञान का यथोचित अध्ययन और उस पर स्वतन्त्र विश्लेषण करने के बाद अलग-अलग चाहे जो निष्कर्ष निकलते हों, अपने व्यक्तिगत जीवन तथा अनुभव से सामान्य पत्रकारों का निष्कर्ष शायद एक ही निकलेगा। प्रस्तुत पुस्तक में व्यक्तित्व के ह्रास का जो चित्रण है, आदर्श और वास्तविकता के बीच जिस दूरी का उल्लेख है तथा आन्तरिक अपमान के बारे में जो कथन है, वे सब यदि सही हैं और भारत के पचहत्तर प्रतिशत पत्रकारों के सामान्य अनुभव के आधार पर प्रस्तुत किये गये हैं, तो यह घोषणा करने में जरा भी हिचक नहीं होनी चाहिए कि पत्रकार के लिए लोकतन्त्र 'बकवास' है और जब पत्रकार के लिए 'बकवास' है तो जन-साधारण के लिए तो अवश्य 'बकवास' है। क्या यह बकवास (बकवास-तन्त्र) इस विचार पर चुनौती नहीं है कि "लोकतन्त्र का सम्बन्ध पत्रकारिता से और पत्रकारिता का सम्बन्ध लोकतन्त्र से है"?

यदि 'लोकतन्त्र का सम्बन्ध पत्रकारिता से और पत्रकारिता का सम्बन्ध लोकतन्त्र से' है तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या हर देश की पत्रकारिता लोकतन्त्र से सम्बद्ध हो सकी है या लोकतन्त्र हर देश में पत्रकारिता को कोई 'लोकतान्त्रिक शक्ति' दे सका है ? सर्वप्रथम तथ्य तो यह है कि अभी तक स्वयं लोकतन्त्र सम्पूर्ण संसार की—एक-एक देश की—कोई सामान्य जीवन-प्रणाली या चिन्तन-प्रणाली नहीं बन सका है। संसार में लोकतन्त्रवादी देश ही कितने हैं—मुश्किल से बीस-पचीस या पचीस-तीस ? और ये उँगली पर गिने जा सकने वाले देशों में भी तो वस्तुतः नाममात्र का ही लोकतन्त्र है। अधिकांश—या लगभग सभी—लोकतन्त्रवादी देशों में लोकतन्त्र मात्र-चुनावतन्त्र से कुछ अधिक नहीं रह गया है और इस चुनावतन्त्र के हालात संक्षेप में यों गिनाये जा सकते हैं :—(१) सत्ता का—उसके सभी अंगों का (सेना और पुलिस तक का)—पूरा-पूरा उपयोग; (२) सत्ता के साथ ही अर्थ का जोर-दबाव और प्रलोभन (३) सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से प्रबल वर्ग से दुर्बल वर्ग के (खास करके गावों या पिछड़े इलाकों में) भयभीत रहने और उन्हीं के इच्छानुसार मतदान करने की स्थिति (४) सत्तारूढ़ दल या आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से समाज के प्रबल एवं प्रभावशाली वर्ग के हितैषी दलों के मुकाबले अन्य दलों की प्रचार-साधनहीनता तथा अन्यान्य बाधाएँ और दुर्बलताएँ (५) चुनने के साथ ही 'चुने जाने के बहुचर्चित अधिकार' के बावजूद अत्यधिक निर्वाचन-व्यय का भार सहन करने में साधारण उम्मीदवारों की असमर्थता (६) मतदान से करीब-करीब आधे मतदाताओं की उदासीनता, शेष मतदाताओं के मतों का विभिन्न दलों में विभाजन और वस्तुतः कुल २०-२५ प्रतिशत मत पाने वाले दल द्वारा सभी मतदाताओं का 'प्रतिनिधि' हो जाने का 'विचित्र' दावा।

क्या किसी पत्रकार ने इन ६ तथ्यों को और इनके साथ ही और बहुत से तथ्यों को नहीं देखा है ? देखा है और अच्छी तरह देखा है। तो फिर विडम्बनाओं और प्रपंचों में पड़ कर वह आँखें क्यों मूँद लेता है ? क्या ऐसा तो नहीं हो गया है कि सत्ता और धन के प्रभाव अथवा दबाव से उसकी बुद्धि ही भ्रष्ट हो गयी है ? जो कुछ भी हो, कम-से-कम भारत में तो सत्ताप्रेरित, सत्तापोषित और सत्ताप्रचाराधृत लोकतन्त्र ने उनके बुद्धियन्त्र को वस्तुतः परतन्त्र बना दिया है। अपनी यह परतंत्र बुद्धि लेकर तथाकथित लोकतन्त्र के समर्थक तथाकथित लो [illegible] पत्रकार [illegible] एक यही तर्क करते पाये जाते हैं कि देखिए

यहाँ संसद में और संसद के बाहर सरकार की आलोचना और निन्दा में सभी दलों के लोग सब कुछ कह लेते हैं और इसी प्रकार 'सर्वत्र' लेखनी से [illegible] आलोचना और निन्दा होती रहती है—क्या यह मामूली स्वतन्त्रता है, क्या यह लोकतन्त्र का एक बहुत बड़ा प्रमाण नहीं है ?" किन्तु, उनकी बुद्धि उस वास्तविक तथ्य को नहीं ग्रहण कर पाती कि नागरिकता का गला इतना मजबूत कर लिया गया है और कुछ आर्थिक एवं राजनीतिक शक्तियों का प्रभाव-दबाव इतना ज्यादा है कि कोई जितना ही चाहे बोले, भूँकता रहे, कुछ बिगड़ने का नहीं, बल्कि उससे 'आपने-आप' प्रचार होता रहता है कि 'यहाँ' सबको सब कुछ लिखने-बोलने की स्वतन्त्रता है'।

लोकतंत्र के ही प्रसंग में पत्रकार को गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा कि बीस-पचीस या पचास-सौ देशों में जो लोकतन्त्र है वह क्या विशुद्ध लोकतन्त्र है—इस या उस सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से प्रभावित नहीं है ? यहीं 'पूँजीवादपोषक या पूँजीवादपोषित लोकतन्त्र' तथा 'समाजवादपोषक या समाजवादपोषित लोकतन्त्र' जैसी अवधारणाओं का भी स्पष्ट एवं निर्भीक विश्लेषण करना आवश्यक होगा। उस आधार [illegible] विचार और विश्लेषण करने के [illegible], कुछ [illegible] [illegible] लोकतन्त्र का समर्थन करते हैं, एक चुनौती ही और होगी—इस [illegible] प्रश्न के रूप में कि यदि लोकतन्त्र कोई बड़ी चीज है, तो उसकी दुर्बलताएँ दूर कैसे की जायँ, दुर्बलताएँ दूर करने का प्रयास करते हुए उसकी रक्षा कैसे की जाय और उसका विस्तार कैसे हो ? पूछा जा सकता है कि इस समस्या को पत्रकार ही एक चुनौती क्यों समझे ? इसलिए कि लोकतन्त्रवादी कहे जाने वाले देशों में उसे लोकतन्त्र का चौथा बड़ा प्रहरी कहा जाता है और स्वयं पत्रकार ने भी अपने को ऐसा मान रखा है।

किन्तु, लोकतन्त्र के इस प्रहरी को लोकतन्त्र के एक-एक पहलू पर 'पूर्ण पाण्डित्य के साथ' विस्तार से विचार करने के मार्ग पर और आगे बढ़ने में उस समय कुछ निराश होना पड़ता है जब वह अपने से निम्नलिखित प्रश्न करने के लिए बाध्य हो जाता है—जहाँ पत्रकार के लिए अपने पत्र में ही अपमान और आतंक की स्थिति हो; संचालक, व्यवस्थापक, प्रबन्ध-सम्पादक, सम्पादक तथा सहसम्पादकों के बीच शासक और शासित के से या 'राजा और प्रजा' के से

सम्बन्ध हो गये हों, समानता का व्यवहार न होता हो वहाँ पत्र और पत्रकार की लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता की डींग कैसी ? लोकतन्त्रवादी कही जाने वाली जिस व्यवस्था में पत्रकार अपना व्यक्तित्व खो चुका हो या उसका कोई व्यक्तित्व बन ही न सका हो उसमें उसकी या प्रेस की स्वतन्त्रता कैसी ? जहाँ पत्रकारिता के आदर्शों को पढ़-सुन कर तो वह बैठा हो, किन्तु आचरण में उन्हें न उतारता हो या न उतार सकता हो वहाँ उसकी उस की पत्रकारिता की, स्वतन्त्रता का मूल्य क्या ? जहाँ अपनी हीनता-ग्रन्थि या हीन भावना के कारण, पत्रकार 'स्वामीप्रदत्त' स्वतन्त्रता का भी उपयोग न करता हो वहाँ उसके द्वारा लोकतन्त्रात्मक स्वतन्त्रता की चर्चा का महत्व कैसा ?

अब हम आते हैं इतने ही प्रमुख दो और विषयों---राष्ट्रवाद तथा साम्राज्य-वाद—पर। जहाँ तक राष्ट्रवाद का सम्बन्ध है, भारत के प्रायः सभी पत्रकार—वे चाहे समाजवादी हों या पूँजीवादी या और कोई वादी—अपने को राष्ट्रवादी मानते हैं, राष्ट्रवाद की चर्चाएँ करते हैं और उस पर लिखते भी रहते हैं; किन्तु यह सोचने की मानो उन्हें फुर्सत नहीं कि यदि वे कहीं-न-कहीं, कुछ-न-कुछ जातिवादी, सम्प्रदायवादी तथा 'एक साथ जातिवादी एवं सम्प्रदायवादी दोनों' हैं तो सच्चे राष्ट्रवादी कैसे हो सकते हैं ? इसी प्रकार वे यह भी नहीं सोच-समझ पाते कि यदि प्रान्तीयता और भाषाई संकीर्णता से वे ग्रस्त हैं तो उनका राष्ट्रवाद उनके दिल और दिमाग में कितनी गहराई तक जड़ जमा सकता है या जड़ जमाये है ? राष्ट्रवाद पर विचार करते समय क्या यह बात कभी उनके दिमाग में धँस सकी है कि "पत्रकार पत्रकार होता है—वह हिन्दी-पत्रकार, उर्दू-पत्रकार, गुजराती-पत्रकार, बंगला-पत्रकार......नहीं होता" । भारत की तरह अन्य देशों में भी, जहाँ राष्ट्रवादी भावना कुछ गहरी है, कुछ इसी तरह के प्रश्न पत्रकारों के सामने चुनौती के रूप में आते होंगे—विशेष करके तब जब पड़ोसी तथा अन्य देशों से अपने देश के सम्बन्धों की और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के साथ सामंजस्य की समस्याएँ उत्पन्न होती होंगी। प्रबुद्ध पत्रकार तो इस चुनौती में अपने दायित्व को शासकों के दायित्व से अधिक मानेंगे।

साम्राज्यवाद के बारे में आज वे पत्रकार भी कुछ आत्मतुष्ट या उदासीन हो गये हैं जो कभी कट्टर सा [illegible] धी य जो देश स [illegible] दर्शों

के सीधे प्रभुत्व में थे उनके तो सभी पत्रकार कट्टर साम्राज्यवादविरोधी थे, किन्तु आज वे भी आत्मतुष्ट होकर बैठ गये हैं, क्योंकि उन्होंने मान लिया है कि अब उनके देश स्वतन्त्र हो गये हैं और साम्राज्यवादी देशों का [illegible] किसी तरह का प्रभुत्व नहीं हो सकेगा। अपने-अपने देश के स्वातन्त्र्यसंग्राम में उन्होंने जिस तीव्र भावना से साम्राज्यवाद का विरोध किया था, [illegible] था, वैसी ही तीव्र भावना से वे उन देशों में साम्राज्यवादी उत्पीड़न नहीं देख रहे हैं जिनमें आज भी जनता का साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष चल रहा है। अपने देश पर साम्राज्यवादियों के हाथों जो बीती थी उसका स्मरण कर तथा उसके अनुभवों को दिमाग में ताजा कर हम अनेक देशों में अभी भी चल रहे साम्राज्यवादविरोधी संघर्षों के प्रति ठोस सहानुभूति नहीं दिखला रहे हैं। हमारी साम्राज्यवादविरोधी 'पवित्र घृणा' वैसी नहीं रह गयी है जैसी साम्राज्य-वादी प्रभुत्व के काल में थी। एक बात और—साम्राज्यवाद के [illegible]—प्रच्छन्न—रूपों को, उसके नये प्रभावों को, हम ठीक-ठीक नहीं समझ पा रहे हैं। कुछ मानों में तो पुराने और नये साम्राज्यवादियों से अपने देश का [illegible] [illegible] था तो [illegible] नहीं है [illegible] देख कर भी हम उदासीन हो रहे है, मानो कोई खतरे की बात है ही नहीं।

नवस्वतन्त्र देशों में ऐसे पत्रकार भी मिलेंगे जो पुराने साम्राज्यवादी देशों को अब साम्राज्यवादी नहीं मानते या उनके साम्राज्यवाद के बारे में भ्रमित हैं। ऐसे पत्रकारों में कुछ वे पुराने पत्रकार भी मिल जायेंगे, जो कभी इन देशों के साम्राज्यवाद को अच्छी तरह देख चुके थे, समझ चुके थे और अपनी कलम से चुनौती दे चुके थे। ब्रिटेन, फ्रांस, जापान, हालैण्ड, और पुर्तगाल को अभी भी बुनियादी तौर पर साम्राज्यवादी मानने वालों को ये पत्रकार बिलकुल उसी दृष्टि से नहीं देखते जिस दृष्टि से पहले वे ऐसा मानने वालों को देखते थे। मतलब यह कि नवस्वतन्त्र देशों में साम्राज्यवाद के प्रश्न पर पत्रकारों में जो मतैक्य था या उनकी जो अविभाज्य स्थिति थी वह अब नहीं रही। अतः आज पत्रकार संयुक्त रूप में यह नहीं समझ पा रहे हैं कि आज भी साम्राज्यवाद कोई चुनौती दे रहा है।

साम्राज्यवाद की चुनौती के प्रश्न पर विचार करते समय, यदि ध्यान उन कुछ इने-गिने पत्रकारों की ओर जा सके 'जिन्होंने साम्राज्यवादी देशों में रहते हुए सा[illegible]द की आलोचना और निंदा ही नहीं की है बल्कि उसे

भी है और उससे उसी तरह संघर्ष किया है जिस तरह साम्राज्यवादी देशों के प्रभुत्वमें आ गये देशों के पत्रकारों ने किया है, तो इससे शायद सभी पत्रकारों के दृष्टिकोण की संकीर्णता दूर हो जाय और वे विश्वबन्धुत्व की या अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का कवच धारण करके चुनौतियाँ दें और चुनौतियाँ स्वीकार करने में समर्थ हो जायें ! काश दो-चार प्रतिशत पत्रकार भी ऐसे हो सकते ! ऐसे पत्रकार शेष पत्रकारों की दृष्टि में भले ही आलोच्य, निन्द्य या गद्दार तक माने जायें, किन्तु 'साकार सत्य' उन्हें धन्य मानेगा और कालान्तर में किसी वस्तुतः मुक्त एवं सुखी समाज में लोग उनके नाम प्रेम और श्रद्धा के साथ लेंगे ! क्या सम्पूर्ण पत्रकारिता के किसी 'विराट चिन्तन' में यह प्रश्न भी एक 'विराट चुनौती' नहीं है कि ऐसे पत्रकारों की पूजा यदि भविष्य में हो तो उनका पता लगा कर आज ही उनकी पूजा क्यों न की जाय और उनकी उपस्थिति से समाज को लाभान्वित कर सकने के प्रश्न पर कुछ सोचा क्यों न जाय ! ऐसे पत्रकारों की वास्तविक पूजा है, स्वयं विश्वबन्धुत्व की, मानवप्रेम की, भावना अपना कर उसे दृढ़ करने में। यह कोई मात्र कल्पना नहीं है। यदि भावुकता और भाव-प्रवणता के साथ ही तर्कप्रवणता को भी अपनाकर, पत्रकार इस सिद्धान्त को समझ सकें कि 'समाज किन्हीं मूलभूत विधि-विधानों से अनुशासित होता है' और फिर समाज का विश्लेषण कर सकें तो वे सच्चे माने में अन्तर्राष्ट्रीयतावादी हो सकते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय चुनौतियाँ—जो आज एक-एक करके सामने आती जा रही हैं—स्वीकार कर सकते हैं। इस प्रकार इन चुनौतियों को स्वीकार कर लेने के बाद उनके लिए देश का तथा विश्व का सच्चा हितैषी होना असम्भव नहीं होगा। किन्तु, पत्रकारों की जो विभाजित स्थिति है वह कुछ सोचने-समझने दे तब तो !

यदि यह मान लिया जाय कि उपर्युक्त वैचारिक चुनौतियाँ केवल पत्रकार के लिए हैं, तो कुछ दूसरी चुनौतियाँ पत्रकारों, पत्र-संचालकों तथा उन सभी के लिए हैं जिनका पत्र तथा पत्रकारिता से किसी-न-किसी रूप में सम्बन्ध है और जो किसी-न-किसी रूप में उससे प्रभावित हैं। सम्पूर्ण विश्व के पैमाने पर, आर्थिक स्वार्थों के संघर्ष (पत्रकार और पत्रस्वामी के बीच) के विचार से, जो एक सामान्य स्थिति है और भारत- जैसे विकासोन्मुख कहे जाने वाले तथा कुछ काफी पिछड़े देशों में सम्पादन के स्तर को ऊँचा उठाने की जो समस्याएँ हैं उनके कारण सामने आयी चुनौतियाँ यदि सबके लिए (पत्रकारिता द्वारा सबके हित

के लिए) नहीं तो, पत्रकारों, पत्रसंचालकों तथा नियमित रूप से पत्र पढ़ने वालों के लिए तो हैं ही। यहाँ—इस अध्याय में—अलग से कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अन्य अध्यायों में इन तीनों के बारे में जो स्थिति-चित्रण है वह चुनौती ही है।

सम्पूर्ण स्थिति के एक चुनौती बन जाने पर देखना है कि इसे आज का पत्रकार नहीं तो भविष्य का ही पत्रकार स्वीकार करने में समर्थ होगा या नहीं और होगा तो कैसे! इस चुनौती के सम्बन्ध में पत्रकार की सामर्थ्य उसकी लेखनी में ही देखी जायगी! किन्तु, जब तक दृष्टिकोण स्पष्ट न हो, सामाजिक और आर्थिक विश्लेषण से दिशा स्पष्ट एवं सुनिश्चित न हो तब तक लेखनी में कोई सामर्थ्य नहीं देखी जा सकती। और फिर यदि दृष्टिकोण और दिशा स्पष्ट एवं सुनिश्चित हो भी जाय तो भी बेचारी लेखनी अपनी सामर्थ्य उन कालमों में कैसे दिखलायेगी जो उसके नहीं हैं। हाँ, पुस्तक में दिखला सकता है! किन्तु पुस्तक का प्रकाशन भी तो उसके हाथ में नहीं है। तो क्या पत्रकार चुनौती स्वीकार नहीं कर सकेगा? काश, यह प्रश्न पत्रकारों में एक बेचैनी ही पैदा कर देता!

अन्तिम प्रश्न : क्या कोई अभियान सम्भव ?

पत्रकारिता की आज की संकटग्रस्त अवस्था और असाध्य प्रतीत होने वाली समस्याओं पर जब हम दृष्टि डालते हैं और उनके सन्दर्भ में किसी अभियान या आन्दोलन की बात करते हैं तो समझ में नहीं आता कि आन्दोलन कौन करे, किसके विरुद्ध करे और उसका क्या स्वरूप हो। शिकायतें पाठकों को ही नहीं है, पत्रकारों और मालिकों को भी हैं। पाठकों की शिकायत अगर पत्र से है, तो पत्रकारों की शिकायत मालिकों से और मालिकों की पत्रकारों, पाठकों तथा परिस्थिति से। किन्तु वास्तव में सबसे अधिक महत्व पाठकों की शिकायत का है, क्योंकि वह पैसा देता है और इसलिए देता है कि उसे जानकारी प्राप्त हो। पाठक और जनसाधारण पत्रों से यह आशा करते हैं कि वे उनकी समस्याओं को समझेंगे, उन पर सही विचार देंगे और वक्त पड़ने पर जनहित के लिए संघर्ष भी करेंगे। आदर्श की रक्षा का प्रश्न हो, या पत्रकार के व्यक्तित्व को ह्रास से बचाने का प्रश्न हो, या पत्रकार की योग्यता की समस्याएँ हों, सब का सम्बन्ध अन्त में पाठकों और जनसाधारण से ही होता है। हो सकता है कि मालिकों और पत्रकारों की शिकायतें इसलिए हों कि वे तो पत्र को आदर्श-रूप में रखना चाहते हैं, किन्तु उन्हे आपस में ही एक-दूसरे से और जनता से उचित सहयोग नहीं मिलता। अगर यह शिकायत सही है तो इस बात पर भी सहानुभूति के साथ विचार करना होगा। किन्तु जहाँ तक पत्रकार और मालिक के आपसी सम्बन्ध का प्रश्न है, इस पर तो उन्हें स्वयं विचार करना चाहिए।

रही बात पाठक से सहयोग की, सो वह कुछ ऐसी है कि उसे स्पष्ट रूप में नहीं रखा जा सकता। पाठक का सहयोग अधिक-से-अधिक यही हो सकता है कि वह पत्र पढ़ता रहे और अपने घर के लोगों को, अड़ोस-पड़ोस के लोगों को तथा औरों को पढने के लिए प्रेरित करे। पत्र की त्रुटियों को दूर करने या

उनकी आर्थिक समस्याओं को हल करने में साधारण पाठक—सो भी भारत का साधारण पाठक—कहाँ तक समर्थ हो सकता है, इसका उत्तर देना कठिन है। पत्रों को जनसाधारण से दो रूपों में आर्थिक सहायता मिल सकती है—चन्दे के रूप में और शेयर के रूप में। किन्तु चन्दे के रूप में आर्थिक सहायता लेना केवल वे ही पसन्द कर सकते हैं जो पार्टियों से सम्बद्ध होते हैं। जहाँ पत्र पर व्यक्तिगत स्वामित्व है और व्यक्तिगत स्वामित्व में किसी तरह का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं हो सकता वहाँ तो चन्दे की बात आती ही नहीं, हाँ शेयर की बात कुछ सोची जा सकती है। किन्तु जो लोग व्यक्तिगत या वर्गगत हितों की रक्षा के लिए ही पत्र निकालते हैं वे अत्यधिक शेयर भी—और सो भी जनसाधारण से—लेना पसन्द नहीं करते, क्योंकि उससे उनके व्यक्तिगत प्रभुत्व और वर्गगत अथवा व्यक्तिगत स्वार्थों पर अंकुश लग सकता है।

पत्रकारों या पत्र-संचालकों की शिकायत पर विचार करते समय सबसे पहला प्रश्न तो यही उठता है कि क्या स्वयं उन्हें पत्रकारिता के आदर्शों से प्रेम रह गया है, क्या उनमें सत्य का प्रचार और प्रसार करने की विकलता है? यदि हाँ, तो जरूर सोचा जा सकता है कि क्या कारण है कि इस विकलता के बावजूद पत्रों का वास्तविक आदर्श प्रकाशित नहीं होता? किन्तु हम तो स्पष्ट ही देखते हैं कि पत्र में उसके संचालकों की नीति और पूँजी इस तरह से योजित रहती है कि पाठकों को या तो 'मिलावटी सत्य' या 'सफेद झूठ' या 'सत्य का मुलम्मा चढ़ाया हुआ झूठ' ही खरीदना पड़ता है। वहाँ स्वार्थ से उत्पन्न अहंकार और 'स्व' भी विनियोजित रहते हैं। अतः आदर्श की रक्षा के लिए स्वयं संचालकों की विकलता की बात मिथ्या मालूम पड़ती है। अगर पत्रों में थोड़ा-बहुत आदर्श-सा कुछ दिखलायी दे जाता हो तो उसे बुद्धि इस रूप में ग्रहण नहीं कर सकती कि वह आदर्श, आदर्श के लिए ही है। इसका इतना ही मतलब होता है कि कहीं आदर्श का सोलहों आने परित्याग कर देने से पाठक वास्तविकता को समझ न जायँ।

बेचारे पत्रकार की मुसीबत यह है कि लोग उसे लोकतन्त्र, स्वतन्त्रता तथा आम जनता के हित का सबसे बड़ा पोषक या समर्थक समझते हैं, किन्तु वह नीति के नाम पर सत्य में झूठ को छुपा देने की कला में पारंगत होने के लिए बाध्य होता है और अन्त में उसकी प्रवृत्ति में ही गुलामी का प्रवेश हो जाता है

इस स्थिति में आदर्शहीन और व्यक्तित्वशून्य व्यक्ति स्थान पा जाते हैं और आदर्शवादी और व्यक्तित्व-सम्पन्न लोग दर-किनार कर दिये जाते हैं या वे अपने आदर्श और व्यक्तित्व को तिलांजलि देने को बाध्य हो जाते हैं। जिनकी प्रवृत्तियाँ गुलाम नहीं होतीं, किन्तु कलम गुलाम हो जाती है, वे भी अपनी जीविका के लिए अपने परिवार के भरण-पोषण की चिन्ता तथा नातेदारों-रिश्तेदारों में अपनी 'इज्जत बचाने के फेर में' निर्मम परिस्थितियों के सामने आत्मसमर्पण करने के बाद यह स्वीकार करके बैठ जाते हैं : "चाकरी ना करी, करी तो फिर 'ना' ना करी।" पत्रकार की दूसरी मुसीबत है उसकी दलभक्ति। ऐसा पत्रकार अपनी निष्पक्षता और पत्रकारोचित स्वतन्त्रता को दल के चरणों में अर्पित करके ही समाचार-सागर में गोते लगाता है। इस नौकरी गुलामी के अलावा पत्र को यों भी कुछ अच्छा बनाने में दूसरी बाधा साधनहीनता की ही है।

जहाँ तक व्यक्तित्व का और योग्यता से सम्बन्धित बातों का प्रश्न है, पाठक यदि सम्पूर्ण स्थिति को अच्छी तरह नहीं समझ लेते, तो वे इसके लिए पत्रकारों को ही दोषी ठहरा सकते हैं और मूल दोषी पत्र-संचालक—उनको आलोचना से बच निकलता है। अगर बात केवल इतनी ही हो कि 'पत्र-संचालकों को पत्रकारिता के आदर्श की न तो परवाह है और न वे परवाह करना ही चाहते हैं' तो उन्हें क्षम्य मान लिया जा सकता है; किन्तु यदि वे अपने व्यक्तिगत, दलगत या वर्गगत स्वार्थ के लिए आदर्शों की जानबूझ कर हत्या करते हैं और पत्रकारों को 'योजनापूर्वक आदर्शहीन बनाना चाहते हैं' तो पाठक ऐसे संचालकों को कैसे क्षमा कर सकते हैं ? इसी प्रकार व्यक्तित्व और योग्यता के सम्बन्ध में जब यह बात मालूम हो जाती है कि संचालक पत्रकारों के उन्नत व्यक्तित्व और वास्तविक योग्यता से कुछ इसलिए डरते हैं कि 'वे कहीं हमारे और-दबाव, अनुशासन और रोब में पूरी तरह आने से इनकार न कर दें' तो पाठकों के मन में पत्रों के ही व्यक्तित्व के सम्बन्ध में आशंकाएँ बढ़ जाती हैं।

अतः अब समय आ गया है कि प्रबुद्ध पाठक पत्र-संचालकों को साफ-साफ चेतावनी दें कि हम पत्रों की इस स्थिति को बहुत दिनों तक बर्दाश्त नहीं कर सकते और आवश्यकता पड़ने पर एक बौद्धिक आन्दोलन छेड़ने के लिए हमें बाध्य होना पड़ेगा क्योंकि पत्रों के आदर्शों की रक्षा का सम्बन्ध हमारे जीवन

के उलटफेर से है, लोकतन्त्र के प्रति आस्था बनाये रखने के विचार से है। डे० पी० मेरी के शब्दों में पाठकों को मालिकों के दिमाग में यह बात बैठानी है कि "पत्रकारिता में किसी तरह की भ्रष्टता या नैतिक भावना के साथ उसके संघर्ष का परिणाम अन्त में बुरा ही होता है"। मेरी के ही शब्दों में यह भी समझाना होगा कि "जो पत्र-संचालक पत्रकला के रहस्य को समझते हैं और अपने कर्मों की सम्पत्ति के मूल्यों को बनाये रखना और बढ़ाना चाहते हैं वे यह अनुभव करते हैं कि वास्तविक समृद्धि सच्चाई के प्रयत्न में लगी शक्तियों के साथ मिल कर ही हो सकती है।" पत्र-संचालकों को एक बात और बतानी होगी—वह यह कि 'पत्र के प्रचार और प्रसार की दृष्टि से उन्हें आदर्शवाद को एक हद तक अपनाना पड़ेगा'। यदि पाठकों को आदर्शों की आवश्यकता अपने प्रमुख लक्ष्य के रूप में है, तो पत्र-संचालकों को कम-से-कम नीति के रूप में तो होनी ही चाहिए। कुछ और न हो तो पत्र-संचालक समाचारों के मामले में तो आदर्शों की रक्षा की आवश्यकता उन्हें बतायी ही जा सकती है। यदि पत्रकारों के मामले में भी वे मनमानी करते हैं तो उन्हें सचेत रहना चाहिए कि इस प्रकार के [illegible] संसार में उनकी [illegible] के विरुद्ध परिवर्तन हुए हैं, होते हैं और होंगे। इस तथ्य के उदाहरण बिखरे पड़े हैं।

पत्रकारिता के आदर्शों की रक्षा का आन्दोलन, लोकतन्त्र के आन्दोलन के एक अंग के रूप में ही चलेगा, जैसा कि कुछ-कुछ देशों में देखा गया है। ब्रिटेन और अमेरिका में भी कुछ लोग पत्रकारिता के आदर्शों की रक्षा के लिए आवाज उठा रहे हैं। अनेक आदर्शवादी पत्रकारों ने पत्रकारिता में प्रविष्ट आदर्शहीनता और व्यभिचार के विरुद्ध अपनी लेखनी तेज की है। इन लोगों में भी बहुत से लोग पत्रकारिता में घुस आयी भ्रष्टता को देखने लगे हैं और इसके निराकरण की आवश्यकता महसूस कर रहे हैं। हिन्दुस्तान में अभी पत्रकारिता के आदर्शों की रक्षा के लिए आवाज नहीं उठ रही है। किन्तु, वह दिन दूर नहीं जब यहां के निष्पक्ष विचारकों को आवाज बुलन्द करनी पड़ सकती है। यह आवाज एक ऐसे व्यापक आन्दोलन के रूप में बदल सकती है जिसमें पत्र के साधारण पाठक भी खिंच आयेंगे। चूंकि पत्रकारिता के आदर्शों की रक्षा का आन्दोलन लोकतन्त्र की रक्षा तथा समाज-कल्याण के आन्दोलन के एक अंग के रूप में होगा, अतः पत्र के साधारण पाठकों को भी इसमें शामिल करने की आवश्यकता महसूस की जा सकती है। यदि पत्रों द्वारा सत्य

का गला घोटते-घोटते लोकतन्त्र का भी गला घोट दिये जाने का संकट साफ-साफ दिखलायी देने लगे, तो भला कौन ऐसा लोकतन्त्रप्रेमी होगा जो इस आन्दोलन मे शामिल होना अपना पवित्र कर्त्तव्य न समझे।

पत्रकारिता की रक्षा का आन्दोलन लोकतन्त्र की रक्षा के आन्दोलन का ही एक अंग है। लोकतन्त्र के विकास में पत्रकारिता का भी एक बड़ा योगदान रहा है और पत्रकारिता का उदय जिस चतुर्थ सत्ता के रूप मे हुआ था उसका आधार लोकतन्त्र ही था। लोकतन्त्र से अलग रह कर, लोकतन्त्र की मनमानी परिभाषा करके या लोकतन्त्र के नाम पर दल-विशेष की रक्षा का दायित्व ग्रहण करके न तो जनता में लोकतन्त्र के प्रति आस्था पैदा की जा सकती है और न उसे उन संकटों से बचाया जा सकता है जिनसे सैनिक तानाशाही या दूसरी तरह की तानाशाही का जन्म होता है। अतः लोकतन्त्र में जनता का विश्वास जगाये रखने के लिए पत्रकारिता को आदर्श की लीक पर चलाना आवश्यक है। किन्तु आज की संकटापन्न स्थिति से लगता है कि बिना किसी तरह के आन्दोलन के वह इस लीक पर नहीं चलेगी।

अगर लोकतन्त्र को बचाना है तो पाठकों को पत्र-संचालकों से, व्यवस्थापकों से और सम्पादकों से भी, पहली माँग यह करनी ही होगी कि हमे समाचार दीजिए, सही समाचार दीजिए, अधिक-से-अधिक समाचार दीजिए और जिन समाचारों को पूरा न देने से लोग उलटी बातें समझ लेते है या अपूर्ण जानकारी प्राप्त करके ही रह जाते है उन्हे पूरा-पूरा दीजिए। दूसरी माग यह करनी होगी कि विचारों के मामले में आप चाहे नैतिकता का पल्ला पकड़िये या अनैतिकता का, मालिक की नीति का प्रचार कीजिए या सरकार की नीति का या किसी दल की नीति का, किन्तु समाचार में अनैतिकता और पक्षपात मत आने दीजिए। तीसरी माँग पत्रकारों के सम्बन्ध में होगी। पत्रकारसम्बन्धी माँग में निम्नलिखित बातें साफ-साफ कहनी होंगी : "पत्रकार के स्वाभिमान और व्यक्तित्व को कुचल कर उसे अपना क्रीत दास बनाने की कोशिश करना बहुविज्ञापित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की हत्या है और इसलिए मानवता के प्रति अपराध है, चाटुकारिता को प्रोत्साहन देना और केवल आर्थिक स्वार्थों और हितों को दृष्टि मे रख कर पत्रकारों के बीच पारिवारिक भावना की जगह कलहपरायणता का बीज बोना पत्र को सुन्दर बनाने मे बाधा डालना है।' मन्त्रियों संसदसदस्यों या विधायकों से मत्ता रखने वालों को

हो, विज्ञापन जुटाने या बाहरी सहायता दिलाने वालों या ऐसे ही अन्य प्रकार के साधनों से सम्पन्न लोगों को ही—उनकी पत्रकारिता की वास्तविक योग्यता की ठीक-ठीक [illegible] किये बिना—योग्य व्यक्तियों पर लाद देना योग्य व्यक्तियों को निरुत्साहित करना तो है ही, साथ ही पत्र के हित में भी घातक है।

पत्रकार के स्वाभिमान और व्यक्तित्व की बात पर अगर पत्र-संचालक और स्वयं पत्रकार ध्यान नहीं देते तो अन्त में इस पर ध्यान देने की आवश्यकता पाठकों को ही महसूस करनी चाहिए, क्योंकि इसका असर अन्ततोगत्वा पाठकों पर ही पड़ता है। यह बात कुछ अजीब जरूर लगती है कि जिससे जनता को जगाने और उसमें स्वाभिमान और स्वतन्त्रता की भावना भरने की आशा की जाती है, उसे ही जगाने के लिए जनता की सहायता की आशा की जाती है। किन्तु वास्तविकता कुछ ऐसी ही है, और पत्र-प्रकाशन को पूर्णतः व्यवसाय में बदल देने वाली व्यवस्था और 'व्यवसायियों' की निर्मम व्यावसायिक जकड़न में पड़े पत्रकार के व्यक्तित्व ने इसे आवश्यक बना दिया है। आज का पत्रकार अपने ही बल पर अपनी स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और व्यक्तित्व की रक्षा करने में असमर्थ-सा हो रहा है। और फिर, मजा यह भी तो है कि वह अपने पत्रकार होने के गर्व (हीनता-ग्रन्थि ?) में इतना बेहोश रहता है कि उसे स्वयं अपनी मुक्ति की आवश्यकता नहीं महसूस होती। अतः आज पाठकों में से ही कुछ सजग लोगों को आगे बढ़ कर पत्रकार की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और व्यक्तित्व की रक्षा का नारा बुलन्द करना होगा और यह मांग करनी होगी कि पत्रकारिता का स्तर ऊंचा हो।

अब प्रश्न उठता है कि पत्रकार के स्वाभिमान, स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व की रक्षा का नारा बुलन्द करने और पत्रकारिता का स्तर ऊपर उठाने की माँग करने के लिए किन लोगों को जागरूक और सचेष्ट माना जा सकता है।

पत्र का जागरूक पाठक वही हो सकता है जिसका शिक्षा-स्तर ऊंचा हो, जो वस्तुस्थिति को समझता हो तथा स्वयं किसी दल का दास न बन कर प्रत्येक दल के सही रूप को देखता हो; जाति, सम्प्रदाय, धर्म तथा राष्ट्रवाद पर व्यावहारिक, यथार्थवादी एवं व्यापक दृष्टिकोण से विचार कर सकता हो और जनता के पीड़ित, प्रताड़ित, पददलित तथा अपमानित बहुसंख्यक वर्ग (जिसमें सभी सम्प्रदायों, जातियों और वर्गों तथा राष्ट्रों के लोग आते हैं) की समस्याओं को ठीक से [illegible] हो तथा उनके प्रति वास्तविक सहानुभूति

रखते हुए समाचारपत्रों पर दृष्टि रख सकता हो। एक बात और—ऐसे जागरूक पाठकों को पत्रकारिता की सम्पूर्ण स्थिति का अध्ययन स्वयं करना होगा—एक तरह से स्वयं पत्रकार बन कर। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक भी कुछ सहायता करेगी ही। यह सही है कि ऐसे पाठकों की संख्या अधिक नहीं होगी, फिर भी ये थोड़े-से ही लोग संगठित रूप में पत्रों पर भी अपनी आवाज का प्रभाव डाल सकते हैं और अन्य पाठकों को भी आन्दोलित कर सकते हैं। अभी तक हमारे देश मे तो क्या, किसी और देश में भी शायद इतने आगे बढ़ कर बात नहीं सोची गयी है। यदि भारत के सजग पाठक इस दिशा में कदम उठायें तो उन्हें ही पेशकदमी का श्रेय मिलेगा। यदि ऐसा कोई आन्दोलन छिड़ सके तो वह पत्रों को सचमुच चतुर्थ सत्ता का रूप देने मे समर्थ होगा और लोकतन्त्र को स्वस्थ, सुन्दर और निर्विकार बना देगा। ऐसा लगता है कि पत्र, पत्रकार और पत्रकारिता का भविष्य यदि उज्ज्वल हो सकता है तो केवल हमारे सजग और प्रबुद्ध पाठकों के प्रयास से ही। आवश्यकता पड़ने पर ये पाठक भविष्य में समाचारपत्र-पाठक मण्डल जैसी किसी विशुद्ध सांस्कृतिक संस्था की स्थापना भी कर सकते हैं। इस तरह की सस्था से न केवल पत्रकारिता के आदर्शों की रक्षा होगी और पत्रकार का सम्मान बढ़ेगा, बल्कि पत्र-संचालकों को भी लाभ होगा, क्योंकि यह संस्था लोगों में समाचारपत्र पढ़ने की रुचि पैदा करने का भी प्रयास करेगी और लोगों से कहेगी कि आप एक ही नहीं अनेक पत्र पढ़िए ताकि एक के अभाव की पूर्ति अन्य से हो जाय। आदर्श के लिए संघर्ष करने वाले जिन पत्रों की आर्थिक स्थिति खराब होगी उनकी आर्थिक सहायता के उपाय पर भी संस्था विचार कर सकती है।

पत्रकारों के नैतिक उद्धार के सम्बन्ध में ये सजग पाठक पत्रकारों से भी कुछ निवेदन करेंगे। वे उनसे कहेंगे "कि जरा आप भी अपनी स्थिति पर विचार कीजिए, जरा सोचिए कि आपको अपने को स्वतन्त्र करने की आवश्यकता है या नहीं। पाठकों का उनसे यह प्रश्न भी होगा कि 'शिक्षकों के शिक्षक' या 'लोक-गुरु' के उनके पद और वर्तमान स्तर के बीच कितनी दूरी है ? उनके आर्थिक और नैतिक स्तर तथा व्यक्तित्व को दृष्टि में रखते हुए पाठक उनसे पूछेंगे कि क्या आपसे हम अपने आर्थिक और बौद्धिक सुधार की आशा कर सकते हैं या वह दुराशा ही होगी ? किन्तु पाठकों का प्रबुद्ध पाठकों का,

कर्त्तव्य केवल इन प्रश्नों से ही समाप्त नहीं हो जायगा। उन्हें पत्रकारों को यह आश्वासन देना होगा कि आपके नैतिक उद्धार के किसी प्रयास में हमारी सारी शक्ति आपके साथ होगी।

पत्रकारों को अपने तुच्छ विचारों, दुराग्रहों और धारणाओं की कैद से बाहर निकालने में तथा संचालकों द्वारा परास्त उनकी आत्मा को सहारा देने या उनको पूर्णतः मुक्त करने में पाठक यदि सफल नहीं होंगे तो वे उनसे इतना आग्रह तो कर ही सकते हैं कि समाचार के मामले में ही आपका जहाँ तक वश चलता हो वहाँ तक पाठकों को सन्तुष्ट रख कर ही यह परिचय दीजिए कि अभी आपमें कुछ शेष है। समाचारपत्र के सम्पादकगण यदि पाठकों की इतनी प्रार्थना सुन लें कि समाचार-सम्पादन के समय दलभक्ति और व्यक्तिभक्ति भुला दी जाय और जितनी स्वतन्त्रता 'मालिक की कृपा' से मिली है उसका पूरा-पूरा प्रयोग किया जाय तो यही काफी होगा और इसे पाठक अपने आन्दोलन की बहुत बड़ी सफलता समझेंगे। हाँ, अगर कोई सम्पादक अपनी उदासीनता, आलस्य, लापरवाही या और किसी तरह की अयोग्यता के कारण पाठकों को इतने में भी सन्तुष्ट नहीं करता तो बात दूसरी है। किन्तु पाठक इन अयोग्यताओं का भी इलाज चाहेंगे, क्योंकि उन्हें समाचार जानना है। जरूरत पड़ने पर वे यह माँग करने से भी नहीं हिचकेंगे कि हमारे सामने अच्छी भाषा प्रस्तुत करने के लिए और समाचारों का अच्छी तरह सम्पादन करने के लिये योग्य व्यक्ति रखे जायँ या जिनकी योग्यता में जंग लग गया है उन्हें हर तरह सहारा देकर उठाया जाय।

पत्रों के सम्पादन की त्रुटि का एक कारण अर्थ भी है। पत्रों में समाचार-सम्पादन की अनेक समस्याएँ इसलिए बनी रहती हैं कि उनके संचालक कम-से-कम पूंजी का विनियोग करना चाहते हैं। वे व्यय से आय कम होने की दलील भी पेश करते हैं और प्रमाण-स्वरूप आय-व्यय का हिसाब-किताब भी पेश कर देते हैं। उस हालत में उनसे यह पूछना होगा कि व्यय से आपकी आय कम है और आपको परेशानी भी उठानी पड़ती है, तो आप पत्र क्यों निकालते हैं और पत्रकारिता की परिकल्पना को क्यों दूषित करते हैं? यह प्रश्न ऐसा है जिसका सही उत्तर पत्र-संचालकों से नहीं मिलेगा बल्कि स्वयं खोजना पड़ेगा। अर्थाभाव की स्थिति में कोई पत्र, चाहे वह महान-से-महान आदर्श से कर निकाला जा रहा हो पत्रकारिता के क्षेत्र में विकृति

ही जायेगा। भला ८-१० या अधिक-से-अधिक १५ सम्पादकों से आठ पृष्ठों का कोई समाचारपत्र पाठकों की इच्छा और आवश्यकता कैसे पूरी कर सकता है ? ६४ कालम के किसी पत्र का अच्छी तरह सम्पादन करने के लिए सम्पादकीय विभाग में कम-से-कम २५ सदस्य अवश्य होने चाहिएं। इतने सम्पादकों की व्यवस्था होने पर ही पाठकों के सन्तोषार्थ निम्नलिखित कुछ खास बातें कुछ हद तक सम्भव हैं—(१) सम्पादक का एक-एक पंक्ति ध्यान से लिखना, (२) जिन-जिन समाचारों को विस्तार से देने की आवश्यकता हो, उन्हें विस्तार से देना, अन्य समाचारों को इस खूबी से संक्षिप्त करना कि उनकी आत्मा नष्ट न होने पाये और साथ ही यह निर्णय करना कि कौन से समाचारों को बिलकुल छाँट देने से पाठकों की आवश्यक जानकारी पर कोई आघात नहीं पहुँचेगा (३) किसी संस्करण के लिए पहले के संस्करण के जिन समाचारों का कोई महत्व न हो (जैसे गोरखपुर संस्करण में वाराणसी नगर महापालिका के उम्मीदवारों की लिस्ट का कोई महत्व नहीं) उन्हें हटा कर उनके स्थान पर दूसरे समाचार देना (४) संवाददाताओं के एक-एक समाचार की भाषा पूरी तरह शुद्ध करना और उनका समुचित सम्पादन करना (५) समाचारों या लेखों का सही मूल्यांकन करना, तथा (६) ताजे-से-ताजे समाचार लेना।

पत्र को अच्छा बनाने के लिए सम्पादकीय विभाग पर अधिक-से-अधिक खर्च करना पड़ेगा, क्योंकि पाठक कागज-स्याही के लिए नहीं, बल्कि कागज पर स्याही से जो कुछ छपता है उसके लिए पैसे देता है। अस्तु, पत्रकारिता और पत्र का स्तर ऊँचा करने के लिए जिस एक सजग वर्ग की आवश्यकता बतलायी गयी है उसे ही एक बुद्धिजीवी वर्ग के रूप में यह माँग भी करनी पड़ेगी कि पत्रकार-समुदाय, जो आर्थिक कारणों से श्रमजीवी कहलाने लगा है, बुद्धिजीवी भी बना रहे और इसके लिए उसका बौद्धिक स्तर उत्तरोत्तर बढ़ाने की उत्तम आर्थिक व्यवस्था की जाय।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि प्रेस के ५-६ घंटों के समय के बाद यदि पत्रकारों का सारा समय अपनी पारिवारिक समस्याओं को हल करने में ही लगा रहता है और उनके दिमाग पर इन्हीं समस्याओं की चिन्ता सवार रहती है, तो वे कोई उत्तम बौद्धिक व्यवस्था होने पर भी कब और कैसे उसका उपयोग कर सकेंगे ? जो सम्पादक अपनी न्यूनतम की पूर्ति के लिए ट्यूशन

करता हो, बीमा कम्पनी के एजेण्ट के रूप में इधर-उधर दौड़ता हो या इधर-उधर से जोड़-तोड़ करके कुछ मामूली चीजें लिखने में ही समय लगाता हो, वह पुस्तकालय और वाचनालय की सी उत्तम बौद्धिक व्यवस्था का उपयोग क्या करेगा ? अतः पुस्तकालय और वाचनालय का प्रेमी बनाने के लिए पत्रकार को आर्थिक दुर्दशा से मुक्त रखने की आवश्यकता भी संचालकों को महसूस करनी होगी—पत्रकार के ही हित में नहीं, पत्र के हित में भी । कहा जा सकता है कि आर्थिक स्थिति अच्छी होने पर भी कुछ लोगों में पुस्तकालयों और वाचनालयों से प्रेम नहीं हो सकता । किन्तु पत्रकार के बारे में यह बात सोलहों आने सही नहीं मानी जा सकती, क्योंकि कुछ भी हो, उसके चारों ओर का वातावरण किसी म्युनिसिपल आफिस या कचहरी या किसी और सरकारी विभाग के वातावरण से कुछ भिन्न तो होता ही है । उसके वातावरण की बौद्धिकता का न्यूनाधिक प्रभाव निकम्मे-से-निकम्मे पत्रकार पर भी पड़े बिना नहीं रहेगा । पढ़ने-लिखने की कुछ-न-कुछ विकलता अधिकांश पत्रकारों में होती है,चाहे इस विकलता को वे तुष्ट कर सकें या न कर सकें । इस प्रकार पत्रकार को बराबर विद्यार्थी बनाये रखने के लिए, योग्यतम व्यक्तियों को लाने के लिए, बौद्धिक व्यवस्था पर भी कुछ पैसे खर्च करने पड़ेंगे ।

पत्रकारिता के विकास और उसके आदर्शों की रक्षा की समस्या के प्रति भाषा और साहित्य से सम्बन्धित प्रतिनिधि-संस्थाओं तथा विद्वानों की उदासीनता पर भी विशेष रूप से विचार करना होगा और एक ऐसी परिस्थिति तैयार करनी पड़ेगी कि उन्हें अपना मौन भंग करना पड़े । पत्रकारिता के आन्दोलन में उन्हें आंदोलित करना एक महत्वपूर्ण कार्य होगा । ये संस्थाएं और विद्वान् सम्पादकों की योग्यता पर मुँह तो बिचका लेते हैं, किन्तु जैसा पहले भी संकेत किया जा चुका है, जब खुल कर आलोचना करने या पत्र-संचालकों पर पत्र का स्तर ऊँचा करने के लिए जोर देने की बात आती है तो मौन रह जाते हैं—शायद इसीलिए कि राजनीतिज्ञों की तरह प्रचार और गुटबन्दी के फेर में वे पड़ गये हैं और उन्हें अपने और अपने गुट के प्रचार के लिए पत्रों की सहायता लेनी पड़ती है । कुछ का अगर एक पत्र से सम्बन्ध होता है तो कुछ का दूसरे से । जिसका जिस पत्र से सम्बन्ध होता है, वह उस पत्र के दोषों पर तो मौन रहता ही है, विरोधी गुट के समर्थक पत्र के बारे में भी मौन रह जाता है । इसके पीछे अपनी आलोचना का भय और मौकापरस्ती के तत्व ही होते

हैं। इन सबका परिणाम यह है कि जहाँ पत्रकारिता के प्रारम्भिक काल में भाषा, विचार, सम्पादन आदि के बारे में थोड़ी बहुत आलोचना करने की परम्परा थी, वहाँ आज वह विलुप्त हो रही है और सम्पादन तथा लेखन में मनमाने अनाप-शनाप प्रयोग चल रहे हैं।

जहाँ तक राजनीतिक विचारकों का सम्बन्ध है, उनमें अधिकांश 'दलनीति-विचारक' हो गये हैं या अपने व्यक्तिगत नेतृत्व की चिन्ता में पड़ गये हैं। इन सबको अपने प्रचार के लिए अखबारों का मुँह ताकना पड़ता है। अतः पत्र-कारिता के स्तर और आदर्श की ओर उनके ध्यान दिये जाने की तो आशा ही नहीं की जा सकती; हाँ, उनमें पत्रसंचालकों, सम्पादकों या प्रबन्ध-सम्पादकों की चाटुकारिता देखी जा सकती है। मजा तो यह है कि ये सब-के-सब लोकतन्त्र की माला जपते रहते हैं। जैसे उन्हें इस बात का पता ही नहीं है कि 'वणिक-सभ्यता' के संकटकाल में लोकतन्त्र की हत्या भी की जा सकती है।

जब स्थिति यह है, तो फिर आन्दोलन कौन छेड़े ? निराश होने की कोई जरूरत नहीं। इन्हीं राजनीतिक और सामाजिक विचारकों में से कुछ ऐसे जरूर मिलेंगे जिनमें स्वार्थपरायणता के साथ निःस्वार्थ भाव और पक्षपात के साथ निष्पक्षता के लिए भी कुछ व्याकुलता कुलबुलाती रहती है। इन्हें ढूँढ़ना पड़ेगा, पर इन्हें ढूँढ़ेगा कौन ?—पाठकों में से ही वे लोग इन्हें ढूँढ़ निकालेंगे, जो यह महसूस करते हैं कि पत्रकारिता अपने आदर्श से अलग हो गयी है या हो रही है। इन्हें ढूँढ़ने में कुछ आदर्शवादी पत्रकार भी आगे आयेंगे ही। आन्दोलन के लिए आज आधार तैयार हो रहा है। साधारण पाठक भी आज समाचारों पर टिप्पणियाँ करने लगे हैं। पाठकों की यह चाह तो होती ही है कि उन्हें सही समाचार मिलें और विशुद्ध तथा निष्पक्ष विचार की जानकारी हो। यदि उनकी यह इच्छा पूरी नहीं होती तो वे दूसरा अखबार पढ़ने लगते हैं और अगर दूसरे पत्रों के बारे में भी यही बात दिखलायी देती है, तो उनके मन में निराशा, क्षोभ और क्रोध पैदा होने लगता है। यही स्थिति आन्दोलन का आधार बन सकती है। जिस दिन अधिकांश पाठकों की स्थिति ऐसी हो जायगी उस दिन पत्रों की कुरूपता या बीभत्सता के विरुद्ध किसी-न-किसी रूप में आन्दोलन की भावना का पैदा होना निश्चित है।

इस आन्दोलन को शिक्षित समाज एक दूसरे ढंग से चलायेगा। किन्तु, यह आन्दोलन इसलिए नहीं चलाया जायगा कि लोग समाचारपत्र पढ़ें ही नहीं, बल्कि

इसलिए चलाया जायगा कि लोग एक नहीं अनेक समाचारपत्र पढ़ें और यह समझते हुए पढ़ें कि उनमें कितना सत्य है, कितना असत्य और कितना सत्यासत्य का मिश्रण। आज कोई समझदार आदमी यह सलाह तो नहीं देगा कि लोग अखबार पढ़ना बन्द कर दें और न वह यही कहेगा कि चूंकि अखबार पूंजी-पतियों के या उनके समर्थकों के हैं, अतः उनका बहिष्कार होना चाहिए। हाँ, उन्हें सावधान करने की जरूरत तो है ही। पत्र संचालकों को यह समझा देना होगा कि पाठक स्वयं पत्रों के बारे में क्या सोच रहे हैं और प्रचारप्रियता से अन्ततः आपको कोई लाभ नहीं होगा। उस दिशा में पत्र-स्वामी और पत्रकार स्वयं ही यह सोचने के लिए बाध्य होंगे कि कम-से-कम समाचार के मामलों में पाठकों को कैसे सन्तुष्ट रखा जाय।

समाचारपत्रों के पढ़ने में रुचि पैदा करना भी ऐसे आन्दोलन का एक अंग होगा, क्योंकि सामान्य ज्ञान के लिए पत्रों की आवश्यकता और उपयोगिता किताबों से अधिक है और हमें अपने शिक्षित युवकों को ऐसा नहीं रहने देना है कि वे अपने देश के या विदेश के प्रमुख व्यक्तियों के नाम से भी परिचित न हों। अभी अपने यहाँ ब्रिटेन या अन्य देशों की तरह ऐसी रुचि पैदा नहीं हुई है कि सुबह उठते ही अखबार न मिलने से लोग विकल से हो जायँ। पत्र-संचालक अक्सर यह शिकायत करते रहते हैं कि हिन्दुस्तान में समाचारपत्र पढ़ने की रुचि कम है। किन्तु औरों को कोसने से कोई लाभ नहीं। अगर लोगों में समाचार-पत्र पढ़ने की रुचि नहीं पैदा हुई है और जिनमें पैदा हुई है वे भी खरीद कर पत्र नहीं पढ़ते तो इसके लिए उन्हें ही दोष नहीं दिया जा सकता। समाचार पढ़ने की रुचि जहाँ अपने आप नहीं पैदा होती वहाँ पत्र-संचालकों को स्वयं इसके लिए प्रयास करना पड़ता है। ब्रिटेन या अन्य देशों में जो यह स्थिति है कि 'समाचारपत्र को उतना ही आवश्यक समझा जाता है जितना खाना पकाने के लिए गैस को और रोशनी के लिए बिजली को' वह अपने-आप नहीं पैदा हो गयी, बल्कि उसके लिए संचालकों ने भी काफी प्रयास किया था। अपने यहाँ नगरों और कस्बों के कुछ खास-खास स्थानों में मकानों की दीवारों पर या अन्यत्र 'अमुक पत्र पढ़िए' लिखवा कर छुट्टी पा ली जाती है। इसके अलावा प्रचार के दो-चार और घिसे-पिटे तरीके इस्तेमाल कर लिये जाते हैं। किन्तु उन देशों में, जिनमें किसी भी पत्र की वितरण-संख्या १ लाख से कम नहीं है, प्रारम्भ में मालिकों की ओर से एक तरह का आन्दोलन चलाया गया था और आज भी एक आन्दोलन के ही रूप में उनका प्रचार किया जाता

है। तभी तो आज वहाँ शिक्षित व्यक्तियों में एक भी ऐसा नहीं होगा, जो अपने देश के प्रमुख व्यक्तियों के नाम भी न जानता हो।

ब्रिटेन में तो आन्दोलन के एक दो नहीं, दर्जनों तरीके इस्तेमाल किये गये। इस आन्दोलन का ही तो परिणाम है कि वहाँ ऐसे भी पत्र हैं जिनकी पचीस लाख से अधिक प्रतियाँ देखते-देखते बिक जाती हैं। वहाँ प्रशिक्षित प्रचारक घर-घर पहुँच कर समाचारपत्र की आवश्यकता समझाते थे, पत्र के प्रचारार्थ नुक्कड़ सभाएँ भी की जाती थीं और प्रचारकों के छोटे-छोटे जुलूस निकाले जाते थे। आज अगर ब्रिटेन के शिक्षित परिवार का प्रत्येक शिक्षित सदस्य अपना अलग अखबार खरीदता है तो इसका बहुत कुछ श्रेय इस आन्दोलन को भी है। ऐसे परिवार वस्तुतः एक वाचनालय बन जाते हैं। किन्तु अपने देश में तो पत्रकार के घर में भी एक या दो अखबार से अधिक का दर्शन नहीं होगा। माना कि भारत में शिक्षा की कमी है और साधारण लोगों की क्रयशक्ति भी कम ही है, फिर भी प्रयास किया जाय तो दो-चार साल में ही यहाँ पाठकों की संख्या कम-से-कम दूनी हो सकती है। हमारे यहाँ जितने भी शिक्षित और साथ ही कुछ सम्पन्न परिवार हैं, उनमें ही अगर ठीक से प्रचार किया जाय तो अखबारों की खपत बहुत बढ़ जा सकती है। रुचि पैदा होने पर ऐसे परिवार में एक ही स्थान से निकलने वाले कई पत्र खप सकते हैं और प्रतिद्वन्द्विता की भी समस्या हल हो सकती है। बस, आवश्यकता है रुचि पैदा करने के लिए अच्छे ढंग से आन्दोलन छेड़ने की। किन्तु एक बात याद रखनी होगी कि केवल प्रचार-आन्दोलन से ही काम नहीं चलेगा। इसके लिए पत्र को रुचिकर बनाने और साथ ही, कम-से-कम समाचार के मामले में, आदर्श के निकट लाने की आवश्यकता है। हाँ, यह बात दूसरी है कि अखबारी कागज बचा कर 'कहीं और' खपाने के विचार से तथा कुछ अन्य कारणों से कुछ पत्र प्रसार-वृद्धि में दिलचस्पी ही न लें।

(इलाहाबाद श्रमजीवी पत्रकार संघ द्वारा प्रकाशित स्मारिका में)

●●